धर्म प्रेमी बन्धुओ । यदि आप सरल उपायोंसे आध्यात्मिक ज्ञान, विज्ञान व शान्ति चाहते हैं तो अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य १०५ क्षु० मनोहरजी वर्णी सहजानन्द जी महाराजके रचित ग्रन्थ व प्रवचन ग्रन्थका स्वाध्याय अवश्य कीजिये।

इन समस्त ग्रन्थोंका नाम वर्णी सेट है, जो अध्यात्म ग्रन्थ सेट, अध्यात्म प्रवचन सेट, विज्ञान सेट व ट्रैक्टसेट, इन चार सेटों में विभक्त है। ये ग्रन्थ जिसके पास न हों तो स्वाध्याय के अर्थ अवश्य मंगावें।

वर्णी सेट (समस्त ग्रन्थ अर्थात् चारों सेट) मंगाने पर २०) प्रतिशत कमीशन होगा। विभक्त सेटोंमें से एक दो या तीन सेट मँगाने पर १५) प्रतिशत कमीशन होगा।

अध्यात्म ग्रन्थ सेट :—

	रु०न०पै०
आत्मसम्बोधन सपरिशिष्ट	१-५०
सहजानन्द गीता	१-००
सहजानन्द गीता सतात्मर्य	२-००
तत्व रहस्य प्रथम भाग	१-००
अध्यात्म चर्चा	०-७५
अध्यात्म सहस्री	१-००
समयसार भाष्य पीठिका	०-३१
समयसार भाष्य पीठिका सार्थ	०-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५६	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५७	१-७५
सहजानंद डायरी सन् १९५८	१-२५
सहजानंद डायरी सन् १९५९	०-५०
सहजानंद डायरी सन् १९६०	०-५०
भागवत धर्म	२-००
समयसार दृष्टान्त मर्म	०-३७
अध्यात्म वृत्तावलि	०-२५
मनोहर पद्यावलि	०-३७
दृष्टि	०-२५
सुबोधपद्यावलि	०-६२
स्तोत्र पाठपुञ्ज	०-३७
अध्यात्मरत्नत्रयीममून	०-७५
Samayasar exposition (Purvarang)	०-८१
Samayasar exposition (Kartri karmadhikar)	०-३[illegible]
द्रव्यसंग्रह प्रश्नोत्तरी टीका	३-००
समाधिशतक सभावार्थ	०-३७

अध्यात्म प्रवचन सेट :—

	रु०न०पै०
धर्म प्रवचन	०-७५
सुख कहाँ	०-५०
अध्यात्म सूत्र प्रवचन उत्तरार्ध	२-५०
प्रवचनसार प्रवचन प्रथम भाग	२-२५
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-७५
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-२५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	२-००
,, ,, ,, पञ्चम भाग	१-७५
,, ,, ,, षष्ठ भाग	१-७५
,, ,, ,, सप्तम भाग	१-५०
,, ,, ,, अष्टम भाग	१-५०
,, ,, ,, नवम भाग	१-५०
,, ,, ,, दशम भाग	१-२५

श्री सहजानन्द शास्त्रमाला

प्रवचनसार प्रवचन नवम भाग

प्रवक्ता—
अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहर जी वर्णी सहजानन्द महाराज

प्रवन्ध सम्पादक—
बाबूलाल जैन पाटनी केशियर स्टेट बैंक
प्रतिनिधि आगरा शाखा सहजानन्द शास्त्रमाला
प्रधान आत्मकीर्तन प्रचार मंडल,
तार गली मोती कटरा, आगरा।

प्रकाशक—
खेमचन्द जैन सर्राफ
मंत्री श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५ ए, रणजीतपुरी सदर मेरठ (उ० प्र०)

न्यौछावर
१ रुपया ५० नये पैसे

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके

संरक्षक महानुभाव

(१) श्रीमान् ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स सदर मेरठ

अध्यक्ष, प्रधान ट्रस्टी एवं संरक्षक

(२) श्री सौ० फूलमालादेवी धर्मपत्नी श्री ला० महावीरप्रसादजी जैन बेङ्कर्स

सदर मेरठ, संरक्षिका

श्री सहजानन्द शास्त्रमालाके प्रवर्तक सदस्य महानुभावोंकी नामावलि :—

(१) श्री सेठ भँवरीलालजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(२) ,, ला० कृष्णचन्द्रजी जैन रईस देहरादून
(३) ,, सेठ जगन्नाथजी जैन पाण्ड्या झूमरीतिलैया
(४) ,, श्रीमती सोवतीदेवी जैन गिरिडीह
(५) ,, ला० मित्रसैन नाहरसिहजी जैन मुजफ्फरनगर
(६) ,, ला० प्रेमचन्द ओमप्रकाशजी जैन प्रेमपुरी मेरठ
(७) ,, ला० सलेखचन्द लालचन्दजी जैन मुजफ्फरनगर
(८) ,, ला० दीपचन्दजी जैन रईस देहरादून
(९) ,, ला० बारूमल प्रेमचन्दजी जैन मंसूरी
(१०) ,, ला० बाबूराम मुरारीलालजी जैन ज्वालापुर
(११) ,, ला० केवलराम उग्रसैनजी जैन जगाधरी
(१२) ,, सेठ गैंदामल दगडूसाहजी जैन सनावद
(१३) ,, ला० मुकुन्दलाल गुलशनरायजी जैन नईमन्डी मुजफ्फरनगर
(१४) ,, श्रीमती धर्मपत्नी बा० कैलाशचन्दजी जैन देहरादून
(१५) ,, ला० जयकुमार वीरसैनजी जैन सदर मेरठ
(१६) ,, मन्त्री दिगम्बर जैन समाज खण्डवा
(१७) ,, ला० बाबूराम अकलंकप्रसादजी जैन तिस्सा

(१८) ,, बा० विशालचन्दजी जैन ऑ० मजिस्ट्रेट सहारनपुर
(१९) ,, बा० हरीचन्द ज्योतिप्रसादजी जैन ओवरसियर इटावा
(२०) ,, सौ० प्रेमदेवी शाह सुपुत्री बा० फतेलालजी जैन संघी जयपुर
(२१) ,, श्रीमती धर्मपत्नी सेठ कन्हैयालालजी जैन जियागंज
(२२) ,, मंत्राणी दिगम्बर जैन महिला समाज गया
(२३) ,, सेठ सागरमलजी जैन पाण्ड्या गिरिडीह
(२४) ,, बा० गिरनारीलाल चिरंजीलालजी जैन गिरिडीह
(२५) ,, बा० राबेलाल कालूरामजी मोदी गिरिडीह
(२६) ,, सेठ फूलचन्द वैजनाथजी जैन नईमंडी मुजफ्फरनगर
(२७) ,, ला० सुखवीरसिंह हेमचन्दजी जैन सर्राफ बड़ौत
(२८) ,, सेठ गजानन्द गुलाबचन्दजी जैन गया
(२९) ,, सेठ जीतमल इन्द्रकुमारजी जैन छावड़ा झूमरीतिलैया
(३०) ,, सेठ गोकुलचन्द्र हरकचन्द्रजी जैन गोधा लालगोला
(३१) ,, बा० इन्द्रजीतजी जैन वकील स्वरूपनगर कानपुर
(३२) ,, बा० दीपचन्दजी जैन एग्जूक्यूटिव इन्जिनियर कानपुर
(३३) ,, सकल दिगम्बर जैन समाज नाईकी मन्डी आगरा
(३४) ,, मंत्री दिगम्बर जैनसमाज तारकी गली मोती कटरा आगरा
(३५) ,, संचालिका दिगम्बर जैन महिलामंडल नमककी मंडी आगरा
(३६) ,, मंत्री दिगम्बर जैन जैसवाल समाज छीपीटोला आगरा
* (३७) ,, सेठ शीतलप्रसादजी जैन सदर मेरठ
* (३८) ,, सेठ मोहनलाल ताराचन्दजी जैन बड़जात्या जयपुर
* (३९) ,, बा० दयारामजी जैन R. S. D. O. सदर मेरठ
* (४०) ,, ला० मुन्नालाल यादवरायजी जैन सदर मेरठ
* (४१) ,, ला० जिनेश्वरप्रसाद अभिनन्दनकुमारजी जैन सहारनपुर
* (४२) ,, सेठ छदामीलालजी जैन रईस फिरोजाबाद
* (४३) ,, ला० नेमिचन्दजी जैन रुड़की प्रेस रुड़की
ऽ (४४) ,, ला० जिनेश्वरलाल श्रीपालजी जैन शिमला
ऽ (४५) ,, ला० बनवारीलाल निरंजनलालजी जैन शिमला

नोट—जिन नामोंके पहिले * ऐसा चिन्ह लगा है उन महानुभावोंकी स्वीकृत-सदस्यताके कुछ रुपये आगये हैं शेष आने हैं तथा जिनके पहिले ऽ ऐसा चिन्ह लगा है उनके रुपये अभी नहीं आये, आने हैं।

आमुख

भारतीय दर्शनोंमें जैनदर्शनका एक स्वतन्त्र स्थान है, स्वतन्त्र स्वतन्त्र विचार-धारा है और प्रत्यक्ष एवं परोक्षात्मक विश्व-प्रपंचके निरूपणकी उत्पत्ति स्वतन्त्र प्रणाली है। जैन शब्द जिन शब्दसे निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है अपने आत्म-स्वातन्त्र्य लाभके लिए जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाला। और जयति कर्मशत्रून् इति जिन: इस व्युत्पत्तिके आधारपर जो कर्मशत्रुओं पर विजय प्राप्त कर सम्पूर्ण शुद्ध आत्म-स्वरूपका लाभ करता है, वह 'जिन' कहलाता है। इस प्रकार जैनदर्शनका अर्थ होता है, आत्म-स्वातन्त्र्यके लिए तथोक्त जिनदेवके आदर्शको स्वीकार करनेवाले व्यक्तिकी विश्व प्रपंचके सम्बन्धमें सुचिन्तक दृष्टि।

जैनदर्शनकी मान्यता है कि यह दृश्यमान एवं परोक्षसत्तात्मक विश्व, चेतन और जड़-दो प्रकारके तत्त्वोंका पिण्ड है व अनादि है, अनन्त है। दूसरे शब्दोंमें यह लोक-जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल इन छह द्रव्योंका पिण्ड है। प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र एवं शक्तिसम्पन्न है। प्रत्येक द्रव्य अपने गुण-पर्यायोंका स्वामी है और प्रतिक्षण परिवर्तित होता रहता है। परिवर्तनका अर्थ है उनमें उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यका होना। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय छोड़कर उत्तरवर्ती पर्याय स्वीकार करता है, फिर भी वह अपनी स्वाभाविक धाराओंको नहीं छोड़ता है। द्रव्यका यही प्रतिक्षणवर्ती उत्पाद, व्यय और ध्रुवत्व है। इनमें से धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्य इन द्रव्योंमें सदैव सदृश परिणमन ही होता है। इसका अर्थ है कि इनमें प्रति समय परिवर्तन होनेपर भी ये द्रव्य स्वरूपसे सदैव एकसे ही बने रहते है, उनके स्वरूपमें तनिक भी विकृति नहीं आने पाती है। परन्तु जीव और पुद्गल द्रव्योंका यह हाल नहीं है। उनमें सदृश और विसदृश-अथवा शुद्ध और अशुद्ध दोनों प्रकारके परिणमन होते हैं।

जिस समय रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श गुणात्मक पुद्गल परमाणु अपनी विशुद्ध परमाणुदशामें परिणमन करते हैं, तब यह इनका सदृश अर्थात् शुद्ध परिणमन कहा जाता है और जब दो या दो से अधिक परमाणु स्कन्ध-दशामें परिणत होते हैं तब यह इनका विसदृश अर्थात् अशुद्ध परिणमन कहा जाता है।

ठीक ऐसी ही परिणमन-प्रक्रिया जीव द्रव्यकी है। इसका कारण यह है कि जीव और पुद्गल द्रव्यमें विभाव परिणमन करनेकी शक्ति है। सो इस वैभाविक शक्तिके कारण।

जीव जब तक संसारमें है और कर्म-बन्धनसे आबद्ध है, तब तक यह भी वैभाविक अर्थात् अशुद्ध परिणमन करता है, परपदार्थोंको अपनाता है और उनमें इष्टानिष्ट कल्पना करता है, अपने विशुद्ध चैतन्य स्वरूपको छोड़कर स्वयंको अन्य अनात्मीय भावोंका कर्ता मानता है और आत्मज्ञानसे इतर अनात्मीय भावोंमें ही तन्मय रहता है। परन्तु ज्यों ही इसे आत्मस्वरूपका बोध होता है, वह परवस्तुओंसे अपनी ममत्वपरिणति दूर कर लेता है और कर्म बन्धनसे निर्मुक्त होकर विशुद्ध आत्म-चैतन्यमें रमण करने लगता है। जीवकी संसारदशाका प्रथम परिणमन वैभाविक एवं अशुद्ध परिणमन है और मुक्तदशाका द्वितीय परिणमन पूर्णतया आत्माश्रित होनेके कारण स्वाभाविक एवं शुद्ध परिणमन है।

अतः जैन दर्शन, जिनदर्शन अर्थात् आत्मदर्शनका ही रूपान्तर है, अतः उसमें आत्माकी दशाओंका, उनकी बद्ध और अशुद्ध स्थिति या और उसके कारणोंका बहुत विशद एवं विधिवत् विश्लेषण हुआ है। जैनदर्शन ही एक ऐसा दर्शन है जो व्यक्ति-स्वातन्त्र्यको स्वीकार कर स्वावलम्बिनी वृत्तिको प्रश्रय देता है।

जैनदर्शनमें आत्माको ही उसकी स्वाभाविक अथवा वैभाविक परिणतिका कर्ता माना गया है और अपनी विशुद्ध स्वाभाविक दशामें यह आत्मा ही स्वयं परमात्मा हो जाता है। संक्षेपमें जैनदर्शनके अध्यात्मवादका यही रहस्य है।

जैन अध्यात्म-साधनाका इतिहास अत्यन्त प्राचीन है, अनादि है, तथापि युगके अनुसार भगवान ऋषभदेवने अपने व्यक्तिजीवनमें इसके आदर्शोंकी अवतारणा की और पूर्णप्रभुत्वसम्पन्न-आत्मस्वातन्त्र्यका लाभ किया। तीर्थंकर अजितनाथसे लेकर महा-वीर पर्यन्त शेष तीर्थंकरोंने भी इसी अध्यात्म-साधनाको स्वयं अपनी जीवन-सिद्धिका लक्ष्य बनाया और आत्मलाभकी दृष्टिसे अन्य प्राणियोंको भी मार्ग-दर्शन किया। इसी समयमें श्री भरतजी, बाहुबलिजी, रामचन्द्रजी, हनुमानजी आदि अनेकों पूज्य पुराण पुरुषोंने इसी ज्ञानात्मक उपायसे ब्रह्मलाभ किया और अनेकों भव्यात्माओंको मार्ग दर्शन दिया।

भगवान् महावीरके बाद भी यह जैन अध्यात्म-धारा प्रवाहित होती रही और आज भी हम उसके लघुरूपके दर्शन उसके कतिपय साधनोंमें एवं विशालरूपके दर्शन उस परम्पराके उपलब्ध साहित्यमें कर सकते हैं।

जैन अध्यात्मके पुरस्कर्ताओंमें आचार्यश्री कुन्दकुन्दका स्थान सर्वोपरि है। जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मके यह असामान्य विद्वान् थे। यद्यपि इनकादीक्षकालीन नाम पद्मनन्दि था, तथापि कौण्डकुन्दपुरके अधिवासी होनेके कारण ये कौण्डकुन्दाचार्य अथवा कुन्दकुन्दाचार्यके नामसे ही अधिक विख्यात रहे और इसी नामपर इनकी वंश-परम्परा कुन्दकुन्दान्वयके रूपमें स्थापित हुई। शास्त्रवाचन आरम्भ करनेके पूर्व प्रत्येक पाठक मङ्गलाचरणके रूपमें पढ़ता है :—

मङ्गलं भगवान् वीरो मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम् ॥

अर्थात् भगवान् महावीर मङ्गलमय है। गौतम गणधर मङ्गलमय है, आर कुन्दकुदाचार्य मङ्गलमय है और जैनधर्म मङ्गलमय है।

इससे सहज ही मालूम हो जाता है कि जैन वाङ्मय और उसके उपासकोंमें आचार्य कुन्द-कुन्दका कितना गौरवपूर्ण स्थान है।

जैनपरम्परामें आचार्य कुन्दकुन्द ८४ पाहुडग्रन्थोंके कर्ताके रूपमें सुप्रसिद्ध हैं; परन्तु इनके उपलब्ध २२,२३ ग्रन्थ ही इनके अगाध पाण्डित्य और तलस्पर्शी तत्त्व ज्ञानके परिचायक है इसमें भी प्रवचनसार, समयसार नियमसार तथा पंचास्तिकाय इन चार ग्रन्थोका मुख्य स्थान है। इस ग्रन्थचतुष्टयामें जैन तत्त्वज्ञान एवं अध्यात्मका बहुत सूक्ष्म, स्पष्ट और वैज्ञानिक विश्लेषण किया गया है।

आचार्य कुन्दकुन्दका प्रवचनसार बड़ा ही महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें ज्ञान, ज्ञेय और चरित्ररूप द्वारा सम्बद्ध विषयोंका अत्यन्त सारगर्भित विवेचन किया गया है। प्रस्तुत ग्रन्थपर अमृतचन्द्राचार्य तथा जयसेनाचार्यकी संस्कृत टीकाएँ उपलब्ध है। अनेक विद्वानोंने उनका हिन्दी सार देकर प्रवचनसारके महत्त्वपूर्ण संस्करण भी प्रकाशित किये हैं।

परन्तु श्रद्धेय श्री १०५ क्षु० श्री सहजानन्द जी महाराज (श्री मनोहर जी वर्णी सिद्धान्तशास्त्री, न्यायतीर्थ) ने समय समयपर ग्रन्थराज प्रवचनसारपर दिये गये जिन प्रवचनों द्वारा तन्ययताके साथ अन्य श्रोताओंको दुर्लभ अध्यात्मरसका पान

कराया, उन प्रवचनोंका और उन्हींको लेकर गुम्फित किये गये इस ग्रन्थरत्नका आध्यात्मिक वाङ्मयमें निःसन्देह बहुत बड़ा महत्त्व है और जब तक यह ग्रन्थरत्न विद्यमान रहेगा। इसका यह महत्त्व बराबर अक्षुण्ण रहेगा।

श्रद्धेय क्षुल्लक वर्णी जी महाराजने आचार्य कुन्दकुन्द और आचार्य अमृतचन्द्र जी की अध्यात्मदेशनाको आत्मसात् करके जिस सरलता और सादगीके साथ जैन अध्यात्म जैसे गंभीर एवं दार्शनिक विषयोंको इन प्रवचनोंमें उड़ेला है उनका यह पुण्य-कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और अनुपम है।

आशा है, अध्यात्म प्रेमी समाज इस ग्रन्थका रुचिपूर्वक स्वाध्याय करेगा और अपनी दृष्टिको विशुद्ध और सम्यक् बनाकर पूर्ण आत्मस्वातन्त्र्यके पथका अनुगामी बनेगा।

राजकुमार जैन
एम. ए. पी. एच. डी

आगरा
प्राध्यापक तथा अध्यक्ष
संस्कृत विभाग
आगरा कालेज

२१-१०-१९६३

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री वर्णीजी महाराज द्वारा रचित

— आत्म-कीर्तन —

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतमराम ।।टेक।।

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ।
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ रागवितान ।।१।।

मम स्वरूप है सिद्धसमान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ।
किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ।।२।।

सुख दुख दाता कोइ न आन, मोह राग रुष दुखकी खान ।
निजको निज परको पर जान, फिर दुखका नहिं लेश निदान ।।३।।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ।
राग त्यागि पहुँचूं निजधाम, आकुलताका फिर क्या काम ।।४।।

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जगका करता क्या काम ।
दूर हटो परकृत परिणाम, सहजानन्द रहूँ अभिराम ।।५।।

[धर्म प्रेमी बंधुओ ! इस आत्मकीर्तनका निम्नांकित अवसरोंपर निम्नांकित पद्धतियोमें भारतमें अनेकों स्थानोंपर पाठ किया जाता है आप भी इसी प्रकार पाठ कीजिए]

१—शास्त्रसभाके अनन्तर या दो शास्त्रोंके बीचमें श्रोतावों द्वारा सामूहिक रूपमें ।

२—जाप, सामायिक, प्रतिक्रमणके अवसरमें ।

३—पाठशाला, शिक्षासदन, विद्यालय लगनेके समयमें छात्रों द्वारा ।

४—सूर्योदयसे १ घन्टा पहिले परिवारमें एकत्र एकत्रित बालक बालिका महिला पुरुषों द्वारा ।

५—किसी भी विपत्तिके समय या अन्य समय शान्तिके अर्थ स्वरुचिके अनुसार किसी अर्ध छंदका पाठ शान्तिप्रेमी वन्धुओं द्वारा ।

प्रवचनसार प्रवचन नवम भाग

(प्रवक्ता—श्री अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ पूज्य श्री १०५ क्षु०
मनोहरजी, वर्णी सहजानंद महाराज)

यह प्रवचनसारका तृतीय अधिकार है। इसमें चरणानुयोगका वर्णन किया गया है। जब द्रव्यके स्वरुपके ज्ञानकी सिद्धि होतीहै तब चारित्रकी सिद्धि होती है और चारित्रकी सिद्धिसे द्रव्यके स्वरूपके यथार्थ ज्ञानकी सिद्धि है, ऐसा जानकर जो कर्मोसे अविरत है याने किसी न किसी प्रवृत्तिमें लगनेका जिनके संस्कार है वे समस्त जन भी द्रव्यके अविरुद्ध आचरण करें।

ज्ञान और आचरणका परस्परमें सम्बन्ध :—पदार्थोके स्वरूपका यथार्थ ज्ञान तब होता है जब आत्मामें रागद्वेष विकल्पकी तरंग न उठ रही हो, अपने आपके बिश्राममें लग रहे हों, यथार्थ ज्ञान तो आत्माका तब होता है। यही चारित्र है। विकल्प न हो और विश्रामसे रहें ऐसी बात तब होती है जब आत्माके स्वरूपका, द्रव्यस्वरूपका यथार्थ ज्ञान हो। इस कारण ज्ञानका और आचरणका परस्परमें सम्बंध है। यथार्थ ज्ञान हो तो आचरण बनेगा और आचरण भी हो तो यथार्थ ज्ञान बनेगा। थोड़ा बहुत द्रव्य स्वरूपका ज्ञान हो तो आचरण बनेगा। और थोड़ा बहुत आचरणवृत्ति हो तो यथार्थ ज्ञान बनेगा। इसी प्रकार ज्ञान और आनन्दमें परस्पर अविनाभाव है। यहाँ आचार्यदेव इस चारित्रके आचरणमें दूसरे जीवोंको प्रयुक्त करते हैं, लगाते है।

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छसि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥

इस ग्रन्थके प्रारम्भमें पहिले परमेष्ठियोंको नमस्कार किया और उनको नमस्कार करके यह भावना भाई थी कि मैं समताके परिणामको प्राप्त होता हूं। सो जैसे दुःखोंसे छूटनेका अर्थी मैं अपने लिए पंचपरमेष्ठियोंको नमस्कार करके समता परिणामकी भावनामें आया हूं इसी प्रकार सब जीव भी परमेष्ठियोंके स्वरूपका स्मरणकर समतापरिणामको

प्राप्त हों।

आनन्दमय प्रभुके बनावटी क्लेश :—इस लोकमें सर्वत्र पर पदार्थोंकी दृष्टिमें क्लेश ही क्लेश हैं। जीव तो सब ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण है। पर अपने ज्ञानानन्दस्वरूपकी दृष्टि न करके पर पदार्थोंमें दृष्टि लगती है तो वहाँ क्लेश ही उत्पन्न होते हैं। जिसे समझते हो कि यह स्त्री बहुत आज्ञाकारिणी है, आप प्रेम रखते, मोह करते, उस प्रसंगमें आपको कितनेही बार ऐसी ठोकरें आई होंगी व आयेंगी जिसके कारण उस स्त्रीके वर्तावसे आप विह्वल हुए व होते रहेंगें। आप जानते होंगे कि पुत्र बड़ा आज्ञाकारी है, विनयशील है, लेकिन इस व्यवहारके कारण भी आपको समय समय पर दुःख उत्पन्न होता रहेगा। कौनसा ऐसा जगतका पदार्थ है कि जिसके कारण यहाँ सुख शांति हो? बाह्य पदार्थोंका संग परिग्रह धनवैभव ये सब कुछ आकुलताओंके ही कारण बने हैं। शांतिके कारण यदि हो सकते हैं तो व्यवहारसे पंच परम गुरु और निश्चयसे अपना आत्मदेव, ये ही शांतिके साधन हो सकते हैं।

संकट और संकटोंसे मुक्तिका उपाय :—इस जीवका संस्कार मोह की वासनामें, रागोंकी प्रवृत्तियोमें ऐसा लगा है कि इस मनको बहुत-बहुत समझ बूझकर भी भगवानके स्वरूपकी ओर ले जाते हैं तो बीच-बीचमें कुछ क्षणोंके ही बाद विषयके साधनोंमें चला जाया करता है। इस जीवपर संकट भीतरमें विभावका लगा हुआ है। बाह्य पदार्थोंसे कोई संकट नहीं है। वे अन्दरके संकट कैसे मिटें! यद्यपि बिना बाहरी पदार्थोंका संगम छोड़े संकट नहीं मिटते तथापि संकट मिटानेका मूल उपाय तो सम्यग्ज्ञान ही है। यहां आसन्न भव्य जीवोंको चारित्रकी प्रेरणा आचार्यदेव करा रहेहैं। जिन जीवोंका होनहार अच्छा है जो निकट भविष्यमें संसारके बंधनसे मुक्त हो जॉयगे, उन जीवोंको चारित्रकी प्रेरणा कराई जारहीहै कि हे भव्यजीवो! इस श्रामण्यको स्वीकार करो, यदि दुःखोसे छूटना चाहते हो तो। श्रामण्य नाम समता परिणामका है, मुनिधर्मका है, ज्ञानोपयोग रखनेका है। दुःखोंसे छूटना चाहते हो तो परका राग, परका मोह, परकी आशक्ति छोड़ो; सबसे निराला ज्ञानमात्र अपने आपको देखो।

उपायकी सफलताका आश्वासन :—जैसेकि ग्रंथके आदिमें भगवान महावीरको सर्व तीर्थंकरोंको, सिद्ध, अरहंत, आचार्य, उपाध्याय और साधुओं को नमस्कार करके मुझ आत्माने चारित्रको, प्राप्त करनेका संकल्प किया है।

इसी प्रकार हे आसन्न भव्य जीवो ! इन पंच परमेष्ठियोंके स्वरूपका स्मरण करके तुम सव भी समता परिणाममें प्राप्त होओ। जैसे धूपसे तपे हुए पुरुषका बाहरी इलाज है कि ठंडी जगहपर बैठाल दो, अथवा ठंडा पानी पिलादो। इसीप्रकार संसारके नानाप्रकारके संकटोंसे दुःखी हुए प्राणियों का इलाज भगवानके स्वरूपका स्मरण करना है और अपने ज्ञानस्वभावका स्मरण करना है, देखो ना, इस उपायसे चलकर हम लोग संकटसमुद्रके किनारे लगगये हैं इसी उपायके मार्गसे तुम भी आवो।

पुनः पुनः प्रभु स्मरण :—भैया ! तृतीय अधिकारमें भी पुनः पुनः सिद्ध महाराजको प्रणाम किया जा रहा है। कहते हैं कि श्री सिद्धदेवको मेरा भावनमस्कार हो। कैसे हैं ये सिद्ध देव ! जिन्हें आत्माकी उपलब्धि होगई है लोकसिद्धिवाले सिद्ध भगवान नहीं है। जैसे यहाँ चमत्कार या अंजनादि *अन्यप्रकार की सिद्धि वाले लोग हैं ऐसे सिद्धि वाले भगवान नहीं है*, किन्तु ये तो सहज ज्ञान मात्र है, स्वयं आत्मरूप है। सो शुद्ध जाननरूप परिणमते रहनेकी जिसकी वृत्ति बनगयी है ऐसी सिद्धि है सिद्ध महाराज की। उनको नमस्कार करके और जिनदेव को, जिनवर को अनगार साधुओंको सबको नमस्कार करके मैं समता परिणामको प्राप्त होता हूं। शांतिके लिए वार वार क्या करना है ? परमेष्ठियोंका सर्वज्ञस्वरूपका अन्तर्वर्णन करके स्वरूपका स्मरण करो और अपने आपके स्वरूपको ऐसा निरखो कि जो परमात्माका स्वरूप है वही मेरा स्वरूप हैं। मैं तो स्वयं सुख व आनन्द से परिपूर्ण हूं। मुझे कोई क्लेश नहीं। केवल क्लेशरहित आत्मस्वरूपका स्मरण हो तो संकट दूर हो सकते हैं।

क्षणिक समृद्धिकी अविश्वसनीयता :—इस जगतमें हम और आप वहुत अधिक फंसे हुए हैं। शरीरका वंधन, कर्मका वन्धन इस जीवके पीछे लगे हुए चले आ रहे हैं। सौभाग्यवश यदि कुछ अच्छी लौकिक स्थिति प्राप्त हुई तो उस स्थितिमें क्या विश्वास करना ? क्या उसमें प्रेम करना ? कितने दिन के लिए यह अच्छी स्थिति है ? ऐसा पुण्य समागम यदि वहुत दिन रहता होता तो यह भी कुछ अच्छा था पर यह तो क्षण भर की स्थिति है, मिट जायगी। इसका क्या विश्वास करें ? कर्म बन्धन लगे हैं उदय विचित्र आता है। कहीं कीड़े मकोड़े वन गये, पशु पक्षी हो गये तो ? कौन जाने कैसा कहाँ जन्म हो जाय ? आज तो चैतन्य शक्ति जागृत है, कुछ समझ है। कहीं असंज्ञी जीव वन गये तो फिर कल्याणका मार्ग कैसे मिलेगा ? आज बुद्धि

भी विशिष्ट है, अच्छा जन्म पाया है, यदि इस स्थितिमें भी मोह बुद्धि न छोड़ सके तो फिर कल्याण कहाँ किया जा सकेगा ? केवल यह निरखना है कि मेरा जीव, यह मैं आत्मा सर्वसे न्यारा केवल अपने स्वरूपमात्र हूं।

श्रम किसके लिये :—भैया, यहाँ क्या चाहते हो ? किसके लिये चाहते हो ? अपने लिए चाहो तो ठीक है। मगर ये जगतके जीव अपने लिए कुछ नहीं चाहते दूसरोंके लिए चाहते हैं। जैसे धनी बनरहे हैं तो अपने लिए धनी नहीं बनरहे है। दूसरे मुझे धनी कह सकें इसके लिए धनी बनना चाहते हैं। परिवार चाहते हैं तो अपने लिए नहीं चाहते है, किन्तु दूसरे लोग जान सकें कि ये कुटुम्बवाले हैं इसके लिए चाहते हैं। और तो क्या धर्मके काम तक भी अपने लिए नहीं चाहते हैं, दूसरे लोग कह सकें ये बहुत धर्मात्मा हैं, पुजारी हैं इसके लिए चाहते हैं। अपने लिए कुछ चाहें तो भली बात है। उनके लिए चाहते हैं जो स्वयं मोही हैं, स्वयं संसारमें रुलने वाले हैं, स्वयं बड़े दुःखी हैं। ये मोही जीव अपने लिए कुछ नहीं चाहते हैं।

अपना भी तो कुछ देखो :—भैया जो कुछ चाहो, जरा धैर्य धरकर ठंडे चित्तसे अपने आपमें अपने आपकी जुम्मेदारी जानकर अपने लिए चाहो। मेरे लिए मेरा उद्धार हो, ऐसी भावना रखनेवाले साधु पुरुष होते हैं। उनको ही संत कहते हैं। वह चाहे गृहस्थी भेषमें हों चाहे साधुभेषमें हों जिसने अपने भीतरमें प्रकाश पा लिया हो, भेद विज्ञान प्राप्त करलिया है ऐसे संत पुरुष अपने आपमें शांतिका अनुभव करते है। कैसे हैं ये संत जन ? अपने आपमें सच्चा विश्वास रखरहे हैं। कितने ही पुरुष तो ऐसे हैं कि जानने वाले तो स्वयं हैं और कहते हैं कि आत्मा वात्माकुछनहींहै देखोतोवही बोल रहा है, वही समझ रहा है और वही अपने आपको मना कर रहाहै, इसको ही कहते हैं नास्तिकता। अपना ही सत्त्व खोदिया उन्होंने, पर संत पुरुष अपने स्वभावका सच्चा श्रद्धान करते हैं।

संतोंकी श्रद्धा व यत्न :—ज्ञानी संत अपनेको मानते हैं कि यह मैं चैतन्यचमत्काररूप हूं। मैं सुखरूप नहीं हूं, दुःखस्वरूप नहीं हूं। मैं धनवाला नहीं हूं, घरवाला नहीं हूं, कुटुम्बवाला नहीं हूं, मैं मूर्ख और पंडित भी नहीं हूं, मैं तो एक शुद्ध चैतन्यचमत्कार मात्र हूं। प्रतिभास करनेकी जिसमें योग्यता हो ऐसा यह मैं आत्मतत्त्व हूं, सबसे निराला हूं, ऐसा श्रद्धान है संत पुरुषों का। इस निज आत्मामें सहज ज्ञान है और बार बार इस ही सहज आत्मज्ञानस्वरूपमें डुबकी लगानेकी तैयारी वाले हैं संत

पुरुष। कहीं दुःखी हुए झट अपने ज्ञानसमुद्रमें डुबकी लगाया तो सर्व क्लेश दूर हो जातेहैं। क्लेश क्या हैं ? कोई हजार रुपयेके धनका नुक्शान हो गया, लोग मानते इसमें क्लेश है। ज्ञानमात्रमें डुबकी लगावो और देखो यहां तो एक पैसा भी मेरा नहीं है, फिर हजार रुपये मेरे हों कैसे ? मेरा तो मात्र ज्ञान स्वरूप है, इस ज्ञानमात्र स्वरूपको कोई चुरा नहीं सकता, कोई हर नहीं सकता। मेरा तो मात्र ज्ञायक स्वरूप है इसमें ही रमण करना यह हुआ निश्चय रत्नत्रय। इस निश्चय रत्नत्रयके स्वरूपका प्रतिपादन करने वाले, साधन करनेवाले जो आचार्य, उपाध्याय, साधुजन हैं उनको बार बार प्रणाम करके यह मैं आत्मा समता परिणामको प्राप्त होता हूं।

भगवानकी उपासनाकी पद्धति :—भगवानका जो स्वरूप है वैसाही मात्र मैं हूं। जो स्थिति भगवानमें नहीं है उसके पानेके लिए आप अड़ करके बैठ जावो तो आपको उसकी प्राप्ति कैसे होसकती है ? भगवानके पास धन नहीं है और आप भगवानसे धन मागनेकी अड़ पकड़ें तो भगवान अपने आसनसे उठकर अपना हाथ उठाकर कुछ दे नहीं सकते। भगवानका स्वरूप एकाकी केवल ज्ञानस्वरूप है। उनकी तिजोरीमें लड़के नहीं पड़े हुए हैं कि तुम यदि एक दो लड़कोंकी चाहमें अड़ जावो तो वे दे दें। यदि भगवान के स्वरूपमें दृष्टि दो तो अवशिष्ट रागवश बद्ध पुण्यकर्मके विपाकसे ये सब बातें अपने आप मिल जायेगी, किन्तु इन संगोंका करना क्या है ? हम प्रभू की उपासना उनके स्वरूपरूपमें करें कि वह मात्र ज्ञायक स्वरूप है, ज्ञान-प्रकाश है। यही एक वैभव बड़ा वैभव है कि जिस ज्ञानसे तीन लोक तीन कालके समस्त द्रव्य गुणपर्याय प्रतिभासित होते हैं, ज्ञात होते हैं।

प्रभुकी निश्छल सेवाका परिणाम :—हमारा विशाल ज्ञान स्वरूप है। उस ज्ञानस्वरूपकी उपासना हो तो अपने आपमें भी विषय कषाय रागद्वेष न रहनेके कारण ज्ञान और आनन्दका विकाश होता है। निश्छल होकर प्रभुकी सेवा करो, हे प्रभो आपकी सेवाके फलमें मुझे कुछ नहीं चाहिए केवल जैसा आपका शुद्ध ज्ञान स्वरूप है वैसा ही ज्ञानमात्र मेरा स्वरूप मेरी नजरमें रहे, सर्व दुनियां को भूल जाऊं, सर्वसे विश्वास हट जाये, एक भी कोई पदार्थ मेरे ध्यानमें न रहे। ऐसे ज्ञानसमुद्रमें मैं डुबकी लगाऊं। ऐसे ज्ञानमात्र प्रभुकी उपासनामें लगना चाहिये और कुछ नहीं चाहिए।

यहां पूज्य श्री कुन्दकुन्दमहाराज का अभिप्राय प्रकट करते हुए श्री अमृतचन्द्रसूरि जी कहते है कि जैसे मेरे आत्माने दुःखोंसे छूटनेकी इच्छा

से पुरुषार्थ करके, विशुद्ध दर्शन ज्ञानकी ही है प्रधानता जिसमें ऐसी समता
नामक धर्मका स्वरूप प्राप्त किया हैं उसी प्रकार दूसरोंकी आत्मा भी यदि
दुःखोंसे छूटना चाहती है तो उसही ज्ञानमार्गको प्राप्त करें। भगवान
की मूर्तिमुद्रा अपनी मूर्तिमुद्रा से दर्शकोंको यह उपदेश दे रही है कि तुमको
यदि सर्व संकटोसे छूटना है तो तन, मन, धन, वचनकी चेष्टाओंको त्याग
कर अपने आपके आत्मामें लीन हो जाओ, किसी परकी चिन्ता न रखो।
इस प्रकार आचार्यदेव अपने वचनोंमें कहते है कि तुम्हे भी दुःखोंसे छूटना
हैं तो अपने चारित्रका पालन करो। देखो ना, इस गलीसे चलकर मैंने
अनुभव पाये हैं और उन अनुभवोंको पाकर हम संसारके किनारे लग गये
हैं। उसही मार्गके प्रणेता हम लोग ये स्थित हैं। जैसे कोई नदीमें से
चलकर किनारे लग रहा हो तो उस पुरुषका अधिकार है कि दूसरेको कहे
कि देखो इस गलीसे आना, यह गली अच्छी है। इससे पार हो जाना है।
देखो ना, हमभी तो इस गलीसे आकर यहां से पार हो गये हैं। यहां साधु
महाराज भी इन आसन्नभव्य जीवोंसे कह रहे है कि आवो इस गलीसे,
समताकी गलीसे। देखो ना इस गलीसे चलकर हम लोग सुखसातापूर्वक
अपने आपमें ठहरे हुए हैं। इस प्रकार एक कल्याण मार्गके लिए साधुसंत
पुरुष की एक तैयारी होरही है। इस अनुभूत ज्ञानमार्ग के प्रणेता आचार्य-
देव भव्यजीवोंको सम्वोध रहे हैं।

वाह्यमें विश्वास न कर अन्त.कल्याणकी प्रेरणा :—भैया ! तुम अपना
जिसमें विश्वास बनाए हो, कुटुम्वमें, धनमें, वैभवमें लगे रहो जीवनभर,
अन्तमें कुछ न मिलेगा। शांति न मिलेगी, धर्म न मिलेगा। खाली हाथ
चले जाना होगा। इस दुर्लभ मनुष्य जन्मके लाभसे वंचित रह जाना होगा।
तो अपने मनके माफिक मत चलो। कुछ मनसे समझो, विषयोंमें इतनी
आशक्ति न रखो। अपने आपको निहारो। यह तो स्वयं ज्ञान और आनन्द
का निधान है। शुद्ध है स्वरूप, परिपूर्ण है स्वरूप। कुछ चीज इसमें वनाना
नहीं है। वनी वनाई है स्वयं, किन्तु मोह राग द्वेषने इस वने वनाए स्वरूप
को ढक रखा है। जरा उस रागद्वेषके परदेको हटा तो दो। यहाँ स्वयं
शांतमय परमात्मदेव विराजमान है। किसीसे कुछ मत चाहो। किन्हीं लोगों
से मैं अपने आपके बारेमें वड़ा समझा जाऊँ ऐसी उत्सुकता मत करो।
अपने आपमें गुप्तही गुप्त छिपेही छिपे अपना गुप्त कल्याण करलो। अपने
आपमें सहजानन्दका अनुभव करलो। किसी लौकिक विभूतिमें, इस विश्वमें

विश्वास न करो। ये सब संकटोंके ही कारण हैं। पूर्व कालमें भी महापुरुषों ने इस धन वैभव राज्यके पीछे अनेक संकट सहे। कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध क्यों छिड़ा ? लाखोंकी जान वहाँ क्यों गयीं ? केवल राज्य वैभवकी लिप्सा के पीछे।

परिग्रहके संगमें महापुरुषके भी आपन्नता :—भगवान श्री रामचन्द्रजी जिनके अलौकिक पुण्य था, जो अन्तमें मुक्त हुए, वे अब सिद्ध भगवान हैं, वे रामचन्द्रजी भी जबतक विरक्त नहीं हुए, परिग्रह और वैभवके राज्यमें उनकी कुछभी जबतक बुद्धि रही तबतक उन्होंने कितने बड़े-बड़े संकट सहे। राज्याभिषेक होने को है, कि लो, थोड़े समय बाद वन जाना पड़ रहा है, वनमें घूम रहे हैं। कहीं तो आनन्द पाया और कहीं क्लेश पाया। कहीं मनमाने भोजनका योग रहा और कहीं क्षुधाकी वेदना सही। वनके दुःखों का क्या कोई पार है, जहाँ भयावह पशुवोंका भी चीत्कार है।

सीताहरण का क्लेश :—किसी जगह रावणने सीताजीके रूप को देखकर मोहित होकर छल बलसे सीताका हरण किया। देखो वहाँ भी स्त्री हरे जानेका महाक्लेश। कितना क्लेश हो गया कवियोंने तो यहाँ तक वर्णन कर दिया कि श्रीराम पशुपक्षियोंसे भी पूछते फिरे कि कहीं तुमने मेरी सीताको देखा है। खैर इस प्रसंग में भी बहुत दौड़ धूप करनेपर सीताजी का पता लग जाता है। सीताजी लंकामें रावणके बागमें ठहरी थी। सीताजी को लानेके लिए रामचन्द्रजी ने सेना जोड़ी, राजा महाराजाओंने लड़ाईमें सहायताके लिए अपना सर्वस्व लगाया। इस लड़ाईके प्रसंगमें कितनी ही बार हारते और जीतते हुए दिखाई देते हैं।

भ्रातृविपत्तिका क्लेश :—संग्राममें रावणने लक्ष्मणके शक्ति मारी भगवान रामचन्द्रजी के लिए वह वन भी महल था। उन्हें अपने भ लक्ष्मणके बलका महान् सहारा था। जो भक्तकी तरह भक्ति कर र हो, जिसने सीताजी के चरणोंमें ही दृष्टि रखी हो, उस भाईके जब शक्ति ल गई, भाई मृतप्राय होगया उस समयके क्लेश देखो। खैर वह भी बात निपटी किसी प्रकार क्लेश दूर हुए ? उसके बाद फिर युद्ध हुआ। विजय हु सीताजी को लेकर घर आए।

अपवादका क्लेश :—भैया, बड़े पुरुषोंके द्वारा उपद्रव हो तो उस मुकाबला करनेमें उतने क्लेश नहीं होते, किन्तु एक धोबीके द्वारा उनको ए विचित्र क्लेश और हो जाता है। अफवाह उड़ा दिया सीता भी तो रावण

घर रहीं। यदि यह ऐसा होगया तो क्या हुआ इतनी बात सुनकर मर्यादा-पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी ने अपनी मर्यादाको रखनेके लिए अपनी प्राणोंसे प्रिय सीताको जंगलमें छुड़वा दिया। उस समय कितना क्लेश भोगा वहां भी तो दुःखोंका अंत न आया। कितने ही वर्षोंके बाद नारदकी लीलामें श्रीराम लक्ष्मणका उनके पुत्र लव और कुशसे महान् युद्ध हुआ। उन दो वीर बालकोंने बड़ा युद्ध किया। कथा बहुत लम्बीहै। सबकी प्रार्थनापर रामचन्द्र जी सीताजी को पुनः लिवा लेगये।

लौकिक बड़प्पनका असीम कष्ट :—फिर मर्यादापुरुषोत्तमको कितने क्लेश हुए? अपवादश्रवणका क्लेश न मिटा तो श्री रामचन्द्रजीको सीता जीसे यह वचन बोलना पड़ा कि ऐ सीते तुझे तो इस लोकमें कितना अपवाद लगाहुआ है तू यहां कैसे रह सकेगी। सीताजी कहती हैं कि जो परीक्षा करना हो करलो। कहो हलाहल विष पीलूं, कहो सर्पोंके बीच पड़ जाऊं? कहो अग्निमें प्रवेश करूं। रामने कहा कि ऐ सीते तुम अग्निमें प्रवेश करो। सीता अग्निमें प्रवेश कर जाती हैं। सीताके अग्निमें प्रवेश करते समय रामचन्द्रजीको कितने क्लेश हुए होंगे। रामचन्द्रजी जानते थे कि सीता निर्दोष है, फिरभी वे महापुरुष थे। इस प्रसंगमें वे अपने मुखसे कैसे कह सकते थे कि ऐ सीते तुम निर्दोष हो, तुम अग्निमें मत कूदो, हमारा भ्रम मिट गया। महापुरुष ऐसा नहीं कह सकते। जहाँ हजारों मनुष्य परीक्षाका दृश्य देखरहे हैं वहाँ रामचन्द्रजी कैसे कह सकते हैं कि सीते तुम निर्दोष हो। खैर सीताजीका पुण्यका प्रताप था? सीताजी बच गयीं। अग्निका जल होगया। अब रामचन्द्रजी सीताजी से प्रार्थना करते हैं कि हे जगदम्बे! जगन्माता! अब पानी मत बढ़ाओ, लोग हैरान होंगे। सब योंही प्रार्थना करने लगे कि हे जगदम्बे जगन्माता बचावो! सीताने उनको बचाया। रामचन्द्रजी सीतासे घर चलनेके लिए प्रार्थना करते हैं। दीन वचनोंमें सीताजी से बोले कि हमारी तरफ न देखो तो लक्ष्मणको देखो, अपने बालक लव कुशको देखो, अपने हनुमान महासेवकको देखो। सो देखो जबतक रामचन्द्रजीके अनुराग रहा तबतक उन्हें कितने-कितने क्लेश भोगने पड़े। यहाँ सीताजीका क्या हाल हुआ कि जब तक मोह था तब तक ही पतिपत्नीका सम्बन्ध था जहाँ मोह मिटा वहाँ सब जीव एक समान नजर आने लगे, सो सीता विरक्त होकर आर्यात्रत लेकर तपस्यामें उद्यत होगयीं।

देवोंका कौतूहल व महापुरुषपर आपत्ति :—इतनेमें भी रामचन्द्रजीके

दुखोंका अन्त न हुआ। देवोंने सोचा कि राम और लक्ष्मण दोनों भाइयोंमें जितनी प्रीति है उतनी संसारमें किसीमें प्रीति नहीं हैं। तो यह देखें तो सही। दो देव आकर लक्ष्मणसे बोले राम ! हाय राम (याने राम तो गुजर गये)। इतनी बात सुनकर लक्ष्मणके प्राण पखेरू उड़ गए। लक्ष्मणकी मृत्युके बाद रामके इष्टवियोगके दुःखोंका क्या ठिकाना ?

संकटोंसे मुक्तिका अवसर—भगवान रामके क्लेश कब मिटे, जब बाह्य परिग्रहोंका, वैभवका, परिवारजनोंका सबका मोह तोड़कर शुद्ध आचरणमें, ज्ञानब्रह्ममें रत हुए तब श्रीरामके क्लेश मिटे। क्लेशोंका क्षय करके राम भगवान प्रभु हुए। राम ही क्या, ऋषभदेवको देखलो। ६ माहतक आहारके लिए गए पर पानीतक न मिला। कितने महापुरुषोंने कैसे-कैसे संकट सहे। ये सब संकट पर वस्तुओंके सम्बन्धसे होते हैं। संकट मिटते हैं तो ज्ञान और आनन्दसे परिपूर्ण निज आत्मतत्त्वमें दृष्टि लगानेसे। इसके अतिरिक्त अन्य कोई संकटोंको दूर करनेका उपाय नहीं है।

आचार्यदेवकी हितकी बातको सुनकर अपने हितमें लगनेका इच्छुक वह आसन्न भव्यपुरुष श्रमण होनेकी चाह करताहै। सर्व रागद्वेषोंसे मुक्त, रहित होकर मात्र ज्ञान स्वरूपमें ठहरनेकी भावना करताहै। सो अब श्रमण होनेकी चाह करनेवाला पुरुष पहिले क्या किया करताहै ? इस बातका उपदेश देते हैं।

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोइदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥ २०२ ॥

जो श्रामण्य पाना चाहता है, सर्व संगोंका सन्यास करके केवल आत्म-रमणकी धुन बनाताहै वह पहिले बंधुवर्गसे पूछताहै। माता, पिता, गुरु, स्त्री, पुत्र, इनसे अपना छुटकारा करताहै और ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार, वीर्याचार इन पाँच प्रकारके आचरणोंको प्राप्त होताहै। वह पुरुष बंधुवर्गको कैसे पूछताहै। उसका वर्णन किया जारहाहै।

विरक्त संतकी बंधुवर्गसे पृच्छना—हे इस मनुष्यशरीरके बंधुसमूहमें रहनेवाले आत्माओ ! इस मनुष्यकी आत्मा तुम सबकी कुछ नहीं है। ऐसा यह निश्चयसे जानो। इसही कारण पूछा जारहाहै। यह आत्मा जिसे भेद-विज्ञान प्रकट हुआहै, अपने आपके अनादिसे रहनेवाले बंधु स्वयंके अपने आत्माको प्राप्त कर लेना चाहताहै। इन भाई बंधुओंसे यह बात कही

जारहीहै कि इन मनुष्योंके शरीरके अन्दर रहनेवाले आत्माओंसे हमारा कोई सम्वन्ध नहीं है, यह मैं आत्मा अपने अस्तित्वसे हूं और अपनेही परिणमनसे परिणमता रहता हूं। इस मेरेको तुम्हारेसे रंच भी सम्वन्ध नहीं है। आज मुझे सहज स्वरूपके दर्शन हुए हैं और उस शुद्ध स्वरूपके दर्शनमें जो आनन्द प्राप्त किया है उस आनन्दको प्राप्त करनेके वाद अव मेरेमें झूठे असार विषयोंकी वासना नहीं रही। सो अव मैं अपना ही सच्चा भाई, अपना जो आत्मा है उसको प्राप्त होना चाहताहूं। भैया वंधुवर्गसे पूछा तो जारहा है, किन्तु अपने कल्याणके लिए किसी वंधुवर्गसे पूछनेकी आवश्यकता नहीं होती। किन्हीं वंधुवोंसे पूछकर विरक्त होना यह आत्माकी एक कमजोरी है। पर जिसके इतनी कमजोरी रह गई है किन्तु वैराग्यकी उत्सुकता पूर्ण है इस मिश्रणके फलस्वरूप ही अपने भाई वर्गसे यों पूछा जाता है। भाइयोंसे केवल पूछने भरका दस्तूर होताहै उनसे छुटकारा पानेका आवेदन नहीं किया जाता। आगे देखेंगे कि स्त्री; माता, पिता पुत्र आदिकसे छूटनेकी भी वात कहेंगे। पर भाइयोंसे छूटनेकी वात नहीं कर रहे। केवल एक सूचना भर देते हुए चले जातेहैं।

विरक्त संतकी माता पितासे पृच्छना—अव गुरुओंमें आदि गुरु तो अपने माता पिता हैं जिन्होंने चावसे हितके अभिप्रायसे पाला पोसा और जिससे अनेक आशाएं रखीं उन माता-पितादिकसे यह विरक्त संत अपने धर्मानुरागसे स्वयं कुछ पूछ रहाहै, कह रहाहै कि हे इस मनुष्यके शरीरके उत्पन्न करने वालेकी आत्मा !। देखो भैया सम्वोधन किस प्रकार किया जारहा है। पिताके शरीरसे वोलनेकी आवश्यकता क्याहै ? शरीर तो जड़ है, उससे वोलनेसे कुछ लाभ नहीं है, इसलिए उस शरीरमें रहनेवाले आत्मासे वोलो। वह पिता है तो मेरा नहीं है। इस मनुष्यके शरीरका निमित्तमात्र जनक है, आत्माका भी जनक नहीं है। ऐसा यहाँ ज्ञानको सम्वोध रहेहैं। हे इस मनुष्य शरीरके उत्पन्न करनेवालीकी आत्मा, यहाँ माताको सम्वोधा जारहाहै। इस मनुष्य की आत्मा इन दोनोंके द्वारा उत्पन्न नहीं होताहै। यहाँ पर आत्माका सत्य विवेचन किया जारहाहै। यह वात निश्चयसे समझ जावो कि तुम दोनोंके द्वारा यह मेरा आत्मा उत्पन्न नहीं किया गया है।

ज्ञानी संतकी करुणा—देखो ज्ञानी संतोंकी महिमा, विरक्त होते हुए भी इस प्रकारका वचनालाप करते जातेहैं। सम्भव है उन वचनालापोंसे माता पिताका भी उद्धार हो जाय। वे इसमें मोह नहीं करें, ये भी मान जांय कि

मैं इनके द्वारा उत्पन्न ही नहीं हुआ हूं। इसप्रकार की अन्तः प्रेरणा देते हुए ये वचन हैं। यह तुम निश्चयसे जानो। इस कारण तुम दोनों इस मुझ आत्माको छोड़दो। अर्थात् मोह मत करो। भैया! कोई किसीको पकड़े हुए तो है ही नहीं। यद्यपि यह दीख रहाहै कि आप अपने इस शरीरसे वंधे हुए हैं, शरीर चले तो साथ आत्माको जाना पड़ताहै। इतना वन्धन है। पर यह सव वन्धन, जवरदस्तीका कार्य सव निमित्त नैमित्तिक भावोसे होता रहता है। आत्मा तो आकाशवत् निर्लेप अमूर्त है। वह किसी पदार्थको पकड़ कैसे सकताहै।

परका मुझमें अत्यन्ताभाव :—देखो भैया एक क्षेत्रावगाहमें रह कर भी यह आत्मा शरीरको छुवे हुए तक भी नहीं है। ऐसा यह आत्मा दूसरेको पकड़ेगा क्या। पकड़ना यही कहलाता है कि हम अपने उपयोगमें परको अपना मानलें, ऐसी मान्यता रूप जो विकार है वही परकी पकड़ कहलातीहै। पकड़ते तो हैं हम अपने विकारको और अपनेमें परका आश्रयभूत, विपयभूत जो वाह्य पदार्थ है उसमें पकड़े जानेका उपचार किया जाताहै। भाई पकड़ना तो परका लक्ष्य है, निश्चयसे तो यह परको जानता भी नहीं है। जानता तो है यह अपने आपके स्वरूपको, जो कि परकी झलकरूप परिणम जाता है, ऐसे अपने आत्माको जानता हूं। चूंकि वह इन पदार्थोंको विपय-मात्र करके ज्ञेयाकार रूप होताहै इसकारण इन पर पदार्थोंमें जाननेका उपचार किया जाताहै। इन प्राणियोंका परके साथ मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्वंध है। और इस ज्ञेय ज्ञायक सम्वंधका मोहवश दुरुपयोग करते हैं तो इनको संसारमें रुलना पड़ताहै।

ज्ञानी संतका माता पितासे छुटकारा :—आज यह आत्मा भेदविज्ञानसे अभ्युदित है। इसमें भेदविज्ञानकी ज्योति प्रकट हुई है सो यह मैं आत्मा, जो मेरा निजी माता पिता है, सो मैं इस आत्माको ही प्राप्त होता हूं। मोही जन इस प्रसंगको देखकर वड़ा आश्चर्य भी कर सकते हैं और रुदन भी कर सकतेहैं। एक सुकुमार अपने घरसे अपने कल्याणके अर्थ अपने उच्चस्थान के लिए मोहको त्याग कर घरसे जा रहाहै। जानेवालेको इसमें जितना अपूर्व आनन्द है उसको वही समझ सकताहै। दूसरे दर्शक लोग तो उसकी नाना कल्पनाएँ कर सकते है। पर उस राजकुमारको केवल एक ज्ञानस्वरूप ही रुचरहा है। वह माता पितासे कहरहा है कि तुम दोनों हमको छोड़ो अर्थात् हमसे प्रीति और मोह न करो। क्योंकि इस शरीरमें वसनेवाला यह मैं

आत्मा तुम दोनोंके द्वारा उत्पन्न नहीं हुआ, तुम दोनों मेरे कुछ नहीं लगतेहो। तुम दोनों केवल भ्रममें अपनी कल्पनाएं वनाकर दुःखी होरहे थे। भ्रम कर रहे थे, अंधकारमें पड़े हुए थे। यह तुम्हारी दोनोंकी भूल थी। मैं तुमसे न्यारा था, न्यारा हूं और न्यारा रहूंगा। आज मैं अपने आत्माका जनक अपने आपकी आत्माको प्राप्त होता हूं।

ज्ञानी संतकी रमणीसे पृच्छना :—माता पितासे छुटकारा पाकर अव स्त्रीसे कहताहै कि अहो इस मनुष्यके शरीरके रमानेवाली की आत्मा! इस मनुष्यकी आत्माको तुम नहीं रमाया करती हो। यह तुम निश्चयसे जानो। सम्वोधनमें कितना ज्ञान दिया जा रहाहै। तुम यह निश्चयसे समझो कि तुम्हारे द्वारा मैं रम नहीं रहा था, केवल वह तुम्हारी भूल थी और मेरी भी भूल थी। दोनों ही भूलके संगी थे। इस मनुष्यके शरीरके रमानेवालीकी आत्मा ऐसा संवोधन करके यह स्पष्ट दरशाया गया है कि शरीरको रमाने वाले शरीरसे वात नहीं की जा रही हे। वह तो जड़ है। शरीरके अन्दर वसनेवाले आत्मासे वात की जा रहीहै। तो हे इस जनके शरीरको रमाने-वालीकी आत्मा! तूने हमको नहीं रमाया यह निश्चयसे जानो। इस कारण इस आत्माको तुम छोड़ो।

वन्धनकी स्थितियां—देखो भैया, माता पिता स्त्रीका वंधन विशेष वन्धन होताहै। भाईका वन्धन नहीं होताहै। यद्यपि किन्हीं-किन्हींको भाईसे इतना अधिक अनुराग लगा हुआहै कि भाईका भी वंधन वन जाता है। पर लोकप्रायकी दृष्टिसे भाई-भाईका कुछ वन्धन नहीं है। वन्धन तो पिता पुत्र आदिका भी नहीं है। जव तक राग है, मोह है तव तक वह वंधनहै, राग मिटा कि वन्धन टूटा। राग मिटनेपर जो स्वतंत्रता उत्पन्न होतीहै उस स्वतंत्रतामें जो आनन्दका अनुभव होताहै उस अनुभवमें यह सामर्थ्य है कि अनगिनते भवोंके वाँधे हुए कर्म क्षणभरमें ही खिर जाया करतेहैं। रागद्वेपसे ये कर्म नहीं खिरा करते हैं प्रत्युत और दृढ वँध जाते हैं। जहाँ रागद्वेप मोह रहित अपने ज्ञान स्वरूपपर दृष्टि हुई कि ये कर्म अपने आप ही खिर जातेहैं। जैसे गीली धोती सूख रहीहै, गिर जाय और उसमें धूल चिपट जाय तो उस धूलको, उसी समय झिटककर न साफ करना चाहिए। उससे तो धूल और दृढ़तासे चिपक जायगी। विवेक यह कहताहै कि धीरेसे उस धोतीको फैला दो व सुखालो और फिर सूख जानेपर वादमें जरा झिटक दो तो यह धूल सव खिर जायगी। इसी प्रकार विपय कपाय वासनाओंसे गीले इस आत्मामें

कर्मधूलि चिपक गई है। उन कर्मोंका मैं नाश करूं, ये कर्म वड़ा दुःख देते हैं यों वाह्यदृष्टिमे क्या कर्मका नाश होगा ? अरे वे कर्म तो हमें दिख ही नहीं रहेहैं तो कर्मोंका नाश करेंगे क्या ? कर्मोंकी दृष्टि रखकर कर्मोंका नाश नहीं किया जा सकता।

कर्मनाशक अन्तःपुरुषार्थ—विवेक यह कहताहै कि धैर्य रखो, मन, वचन, कायकी तड़पन न करो। गम खाकर निश्चिन्त होकर अपने आपके आत्मामें ऐसा पुरुषार्थ करो कि यह तुम्हें दृष्टिगत होता रहे कि यह मैं आत्मा विषय कषायोंके भावोंसे परे केवल शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं। मेरा जो निर्माण है वह मात्र ज्ञान और आनन्दभाव है। जितनी अलावला इसमें प्रकट होतीहै वह मेरा स्वभाव नहीं है। यह उपाधिके संयोगमें ही ऐसा प्रतिभासित होताहै। ठहर जावो, धैर्य धरो, किसी बड़े वलिष्ट पुरुपसे यदि कुछ वात फस जाय, वीत जाय तो वहां अटकसे काम न निकलेगा। निश्चेष्ट रहो, धैर्य रखो तो विवेक पूर्ण तेज निकलेगा। अपने आपमें विषय कषाय परिणामोंसे रहित शुद्ध ज्ञानस्वरूपका दर्शन करो, अनुभव करो। वह अनुभव तव होगा जव मन, वचन, कायकी चेष्टायें सर्व समाप्त होजायेंगी। उस अनुभवमें वह सामर्थ्य है कि इससे ये अष्टकर्म, जिनके फलके अनुसार संसारमें रुलते रहते हैं, वे सर्व कर्म क्षणमात्रमें दूर हो जायेंगे। केवल एक यह आत्मानुभव ही कर्त्तव्य है, एक ही उपाय है सर्व संकटोंसे दूर होनेका।

विरक्त संतकी वाणीका प्रभाव—यह विरक्त संत स्त्रीसे कह रहाहै कि तुम मेरी आत्माको रमानेवाली नहीं हो, यह निश्चयसे जानो। अतः इस आत्माको छोड़ो अर्थात् तुम भी इसका विकल्प न करो, मोह छोड़ो तो तुम भी सुखी हो जावोगी। यह आत्मा आज जहाँ कि ज्ञान ज्योति अतिशय वेगसे प्रकट होतीहै, यह मैं आत्मा अपने आपकी अनादि रमणी अर्थात् अनादिकाल से वनी हुई रमणी जो अनादिकालसे मेरी अनुभूति है मैं उसको प्राप्त होता हूं। ज्ञान ज्योति प्रकट हो जाय तो वह स्त्री भी इसी प्रकार निर्विकार, निर्लेप स्वयं अपने आपका अनुभव करने लगे। ऐसे प्रसंगमें कुटुम्बीजनका भी उद्धार होना सम्भवहै क्योंकि यह सत्य विरक्त संतकी वाणीहै, उसवाणी को सुनकर कुटुम्वजन भी विरक्त हो जाते हैं। जैसे पद्मपुराण की कथामें पढ़ाहै कि उदयसुन्दरका वहनोई केवल मुनि महाराजके दर्शन करके प्रतिज्ञा कर चुकाथा कि मैं सन्यासी वनूँगा। साला दिल्लगी करताहै कि मुनि वनोगे ? वोला हाँ मुनि वनेंगे। हम वन जाय तो क्या तुम भी वन

जाओगे ? हाँ हम भी वन जाएँगे। वह मुनि वन जाता है। सालेके भी विचित्र मोहक्षयका प्रसंग देखकर अपने स्वभावके दर्शन हो जाते हैं, वह भी विरक्त हो जाता है। इन दोनोंकी अद्भुत लीलाको देखकर स्त्री भी मोहांधकार से दूर हो जाती है। वह भी विरक्त हो जाती है धन्य है ऐसे परिवारका संग कि जिसकी चेष्टासे, वचनालापोंसे दूसरे भी उद्धारको प्राप्त हो जाते हैं। परिवारके किसी सदस्य द्वारा दूसरोंका भी उद्धार हो सका तो उस परिवार का संग उत्तम संग है वे गृहस्थ धन्य हैं। यहां यह विरक्त संत कहता है कि मैं अपनी अनादि रमणीको प्राप्त होता हूं।

अनादिरमणी :—अब देखिए अनादिरमणी। यह जीव अनादिकालसे अपनी अनुभूतिमें ही रमा चला आरहा है। चाहे कोई कषायकी अनुभूति हुई हो तो उसमें रमा चला आया, चाहे निष्कषायभावकी अनुभूति हुई हो तो उसमें रमा चला आया। यह जीव परमें रम ही नहीं सकता। अपने आपके खोटे विकल्पमें रमता है तो उस विकल्पका जो विषय है उसमें रमने का उपचार किया जाता है। खोटे विकल्पका विषयभूत परपदार्थ है सो यह समझकर पर पदार्थोंमें न रमनेका उपदेश भी दिया जाता है। वस्तुतः पर पदार्थोंमें कौन रम रहा है। मिथ्यादृष्टि भी किसी परमें नहीं रमता। कोई पर पदार्थ किसी दूसरे पदार्थमें प्रवेश नही कर सकता। मिथ्यादृष्टि मोही अपने आपके प्रदेशमें रहते हुए बाह्य पदार्थोंका विषय करके अपने आपमें विपरीत कल्पनाएँ करतेहैं और उनमें ही रमतेहैं। वे अपने विकारों में रमनेकी बाते दूसरोंको कैसे बतावें ? तो दूसरोंको बतानेका सरल ढंग यह है कि यह मोही जीव अपने स्वरूपमें न रमकर पर पदार्थोंमें रम रहाहै। पर पदार्थोंमें रमता कोई नहीं है। मैं अनादिकालसे अपनी अनुभूतिमें रमता चला आया हूं। कभी खोटी अनुभूतिमें रमण हुआ तो कभी अच्छी अनुभूति में रमण हुआ ? पर यह मोही अपनी अनुभूतिको छोड़कर अन्य किसी पदार्थकी परिणतिमें रम नहीं सकता। मैं अब अपनी अनादि रमणी स्वकी अनुभूतिको प्राप्त होता हूं। यहां ज्ञान भी जगगया इस कारण शुद्ध स्वकी अनुभूतिमें यह रमना चाहता है।

ज्ञानी संतकी पुत्रसे पृच्छना :—अब पुत्रसे कहा जारहा है कि अहो इस मनुष्यके शरीरके द्वारा जन्य पुत्रकी आत्माओ ! इस मनुष्यके शरीरमें बसने-वाले मुझ आत्माके द्वारा तुम पैदा नहीं किए गये हो। यह निश्चयसे तुम जानों। कहीं तुम मोह मत करो कि हाय मुझे पैदा करनेवाला पिता मुझे

छोड़कर चला गया। किसीकी आत्माको कोई आत्मा पैदा करनेवाला नहीं है। तुम स्वयं सत् हो। अपने स्वरूपमें रहनेवाले हो। मेरे द्वारा तुम उत्पन्न नहीं किये गये हो। यह बात तुम निश्चयसे जानो। इसकारण इस मुझ आत्माको छोड़ो। छोड़ने का तात्पर्य यह है कि तुम भी मोह छोड़कर अपने प्रभुस्वरूपके दर्शन करो और सुखी होजावो।

विरक्त संतकी अलौकिक दया :—यह विरक्त संत दया करके पूछरहा है परिवारको। अपनी अटकमें नहीं पूंछ रहाहै वह, कि ये लोग मुझे जकड़े हुए हैं, सो मैं उनसे प्रार्थना करूं कि ये मुझे छोड़दें। यहाँ कोई जकड़े हुए नहीं है। मैं केवल कल्पनाएं बनाकर अंधकारमें जकड़ा हुआ था। यद्यपि यहां इसका निर्मोह स्वरूप होगया फिर भी पूर्वसमयमें जो व्यवहार हो रहा था, सो अब धर्मपन्थमें लगानेके आशयसे रागवश दया करके उनसे बातें कर रहा है। ज्ञानी पुरुष किसीको कुछ भी बात कहे उसकी बात बातमें ज्ञानरस भरा रहताहै। वह दया करके अपने अन्तर्भावसे कह रहा है कि तुम निश्चयसे समझो कि मेरे द्वारा तुम पैदा किएहुए नहीं हो। अतः तुम मुझे छोड़ो। अर्थात् तुम भी कल्पनाएं न रखो कि मुझे किसीने पैदा कियाहै और वह मुझे छोड़कर चला गया है। तुम्हारा पैदा करनेवाला कौन है ? तुम स्वतः सिद्ध हो, एक चैतन्य पदार्थ हो। ये तो सब मोहमें मोहके नाते हैं। इस आत्माको छोड़ो। आज यह आत्मा जिसके कि ज्ञान ज्योति प्रकट हुई है अपने आपका अनादिजन्य जो आत्मा है उसको प्राप्त होना चाहता है।

स्वयम् ही स्वयंका पिता व पुत्र होनेका हेतु.—निश्चयसे भैया! आत्माका पुत्र स्वयं वही आत्मा है अर्थात् यह उपादान भूत आत्मपदार्थ अपने आपकी वृत्तियोंको उत्पन्न करता है। वे आत्मवृत्तियाँ आत्मा ही तो हैं। इसकारण आत्माने ही निज आत्माको उत्पन्न किया। जो ये आत्मवृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं वे मेरे उपादानभूत आत्मासे उत्पन्न होती हैं। तो इस मुझ आत्माका पिता भी यह आत्मा है। अनादिजन्य अपने आपका पुत्र स्वयं निज आत्मा है। मैं उस आत्माको प्राप्त होरहा हूं अर्थात् अपनी विशुद्ध वृत्तियोंको प्राप्त होरहा हूं। इस प्रकार गुरुसे, स्त्रीसे और पुत्रसे अपने आत्माको छुड़ाताहै।

वैराग्यकी छटा—एक बार जब श्रीकृष्णनारायणजीकी सभामें यह चर्चा चल रही थी कि देखो बारह वर्ष बाद द्वारिकाजी भस्म हो जायेगी। भगवान के वचन गलत नहीं होते हैं। जिसको विरक्त होना हो विरक्त होओ और जिसको

जो उपाय करना हो उपाय करे। अनेक पुरुष विरक्त हो रहे थे। प्रद्युम्न श्रीकृष्णजीके पुत्र भी विरक्त होना चाहते थे। सोचा कि इस मायामय संसार में बसनेसे कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसी इच्छा कर चलने लगे। लोग समझाते हैं—बेटा, क्या कर रहे हो ? देखो तुम्हारे दादा वसुदेव तुम्हारे पिता चाचा आदि बैठे हुए हैं, इन सब बुजुर्गोंके सामने ऐसी बचपनकी बातें क्यों करते हो ? प्रद्युम्न बोले कि यदि मेरा दादा संसारमें थम्भ बनकर रहना चाहता है तो रहे, मेरेमें वह शक्ति नहीं रही कि मैं यहाँ रह सकूँ। चल देतेहैं। स्त्रीके निकट जाकर कहा—मैं जारहा हूं, वैराग्य हो गया है। स्त्री कहतीहै कि तुम पूर्ण विरक्त नहीं हुए हो। विरक्त होते तो तुमको मेरी सुध न होती और न कहने आते। तुम जावो अथवा न जावो, लो यह मैं चली।

आनन्दका हेतु मात्र भावपुरुषार्थ—भैया ! शुद्ध आनन्द ज्ञान और वैराग्यमें है केवल विचारकी बात है, अपने उपयोगमें अपने स्वरूपकी स्वतन्त्रता नजर आने लगे, अन्यसे मोह हट जाये, चाहे परिस्थितिवश राग करना पड़रहा हो, घरमें रहना पड़रहा हो। जैसे मानो आज जितने श्रोतागण हैं सभी मानलो विरक्त होकर, साधु हो जाएँ तो बात निभ न सकेगी और हो जाएँ तो निभ भी जायगी। बहुत गृहस्थ पड़े हुए हैं मगर किसीके रईसी ढंगसे रहनेका संस्कार पड़ा हुआ है, किन्हींको किसी प्रकारकी वृत्ति पड़ी हुई है, किसी प्रकारका गौरव बना हुआ है इसके कारण ऐसी परिस्थिति बनी है कि नहीं छोड़कर जासकते हैं। पर मोह तो पूरा छूट सकताहै जितना कि छठवें सातवें गुणस्थानवर्ती साधुजनोंका मोह छूटा हुआ है, ठीक इतना ही पूरा मोह गृहस्थका छूटा हुआ हो सकता है।

गृहस्थ व साधुजनोंकी निर्मोहता—मोह छूटनेके बावत गृहस्थ व साधु में रंच भी फर्क नहीं है। जैसा मोह साधुका छूटा हुआ है वैसाही मोह गृहस्थका छूटा हुआ है। अन्तर उनमें केवल रागका रहता है, इसमें रंच संदेह नहीहै। परका परके साथ कुछ सम्बन्ध हैं, ऐसी दृष्टि को ही कहते हैं मोह, अज्ञान। परका परके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है ऐसा जच जानेका नाम है निर्मोहता। यह तो केवल ज्ञानकी बात है। साधु को ऐसा स्वरूप जचा हुआ है और ऐसा ही स्वरूप ज्ञानी गृहस्थको जचा हुआ है किन्तु परिस्थिति मजबूर कर रही है कि गृहस्थ तो घरवारके बीच रहरहा है, अनेक रागकी बातें उन्हें बोलनी पड़ती हैं, गृहस्थी निभानी पड़ती है, किन्तु साधुने सब छोड़ दिया है। उन साधुओंको किसी बातका संकोच नहीं है।

यह विरक्त ज्ञानी संत पुरुष इसप्रकार कुटुम्बपरिवार आदिसे विरक्त हुआ छुटकारा पालेता है। भैया, पूछनेकी आवश्यकता क्या थी। पूछे कौन ? पूछने वाला था मोह। मोह मिट गया। अब पूछनेकी क्या आवश्यकता थी। लेकिन कमजोरी और दया दोनोंका मिश्रण परिवार जनोंको पुछा रहा है न केवल कमजोरीसे ही पूछा जारहा है और न केवल दयासे। केवल दया हो तो जगत के और जीव हैं उनसे पूछनेका काम क्यों नहीं करता ? तो कमजोरी और दया दोनोंके समन्वयमे यह विरक्त संत परिवार जनोंसे इस प्रकार पूछता है और गुरु पुत्रादिकसे छुटकारा पा लेता है। कदाचित् उस पूछनेके प्रसंगमें कोई कहदे कि अभी नहीं जासकते आप, तो क्या वह ज्ञानी रुक जायगा ? उसका किसीमें रंच भी वन्धन नहीं है । वह उनसे छूट चुका है। केवल जाते समय अपनी ही ज्ञानकलाको दिखाता हुआ जारहा है। सम्भव है उसके इस व्यवहारसे इन सवके भी नेत्र खुल जायें और सुखी हो जायें। केवल इस भावनासे पूछ रहे हैं। उनका उत्तर, विपरीत जवाव इसके लिए वंधन नहीं वनता। इसतरह यह गोत्रसे छुटकारा पाकर अव गुरुके समीप जा रहा है। वहाँ क्या करता है ? इस वातका वर्णन इस ही गाथा में आगे कहा जायगा।

गृहत्यागके पश्चात् विरक्त श्रावककी अग्रिम योजना—यह विरक्त गृहस्थ ज्ञानस्वभावके अवलोकनके प्रसादसे उत्पन्न वैराग्यका प्रताप पाकर तृष्णा के साधनोंसे दूर होरहा है जितने भी साधु परमेष्ठी हुए हैं वे सव पहिले गृहस्थ थे। भलेही कोई विवाहित हो अथवा अविवाहित हो, पर गृहस्थ ही थे। जन्म लिया गृहस्थोंके ही यहाँ। गृहस्थीमें ही पले पुषे, कुछ ज्ञान सीखा, गृहस्थधर्ममें रहे। किसी समय जव किसीके ज्ञानकी भक्ति जगती है, वैराग्य जगता है, तो वे सर्वसमागमको असार जानकर त्याग देते हैं। यहाँ से घर छोड़कर तो चला, अव रास्तेमें विचार कर रहा है। मैं क्या करने जा रहा हूं ? मुझे अव क्या करना है तो सीधा प्रोग्रेम है कि ५ प्रकार के आचरण होते हैं, जिन आचरणोंसे आत्मा संसारके संकटोंसे दूर होकर अविनाशी सुखको प्राप्त करता है उनका शरण लिया जाय। वे ५ आचरण हैं। (१) ज्ञानाचार, (२) दर्शनाचार, (३) चरित्राचार, (४) तपाचार और (५) वीर्याचार इन ५ आचरणोंका सीधा अर्थ है ज्ञानका आचरण करना, ज्ञानका यत्न करना सो ज्ञानाचार है। सम्यग्दर्शनका यत्न करना दर्शनाचार है, चारित्र आदिका यत्न करना चारित्राचार है। अनशनादिका यत्न करना,

तपका यत्न करना तपाचार है। अपनी शक्ति माफिक इन सब आचरणों में उत्साह बनाए रहना सो वीर्याचार है।

मार्गकी संधिमें ज्ञानीका चिन्तन—वह मार्गमें चलता जारहा है और सोच-रहा है कि यह ज्ञानाचार इस शुद्ध आत्माका कुछ नहीं होता। फिर भी इसको ग्रहण करता हूं जब तक इसके प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं। इस ज्ञानाचारके प्रसादसे अपने आपकी प्रभुताके दर्शन करलूं और यथार्थ निर्णय करलूं कि मेरा तो मैं मात्र सहज ज्ञान स्वभाव हूं। प्रवृत्ति भी इस मुझ आत्माका काम नहीं है। पहिले तीव्र राग रहनेके कारण विषय कषाय करनेकी प्रवृत्ति थी, अब राग मंद हो जानेके कारण व्रत और तपमें प्रवृत्ति होरही है वह भी रागका काम था और यह व्रत आचरण करते हैं यह भी रागका काम है। वह तीव्र रागका काम था और यह मंद रागका काम है। यहाँ मंदिर आते है, पूजन करते हैं, जप करते हैं, स्वाध्याय करते हैं ये सब रागकी प्रवृत्तियां हैं ज्ञानकी प्रवृत्ति तो केवल शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रह जाना है। घरमें था तब वहाँ तीव्र राग की प्रवृत्ति थी यहाँ मंदिरमें आये तो यह मंदरागकी प्रवृत्ति है। तत्त्वको देखो। अपने आपके सहज स्वरूपको देखो। मंदिरमें पूजन आदिक करते हुए भी ज्ञानी जीवके ऐसी धारणा है कि यह भी जो मन, वचन, कायकी चेष्टा हो रही है वह भी रागका काम है, मेरा काम नहीं है। उस ज्ञानीने सबसे अछूता मात्र ज्ञानचमत्कारमय अपनेको अपने ज्ञानसे देखा। भगवान की पूजा वह है जिसमें अपने आपके सहज स्वभावको परखा जाता है।

ज्ञानाचारके ग्रहणका निश्चय—भैया, यह ज्ञानी विरक्त श्रावक मार्गमें चला जा रहा है सोच रहा है कि हे अष्ट प्रकार के ज्ञानाचारो ! मैं जानता हूं कि तुम सब भी रागकी प्रवृत्ति हो। तुम मेरे कुछ नही लगते, किन्तु जब तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं तब तक मैं तुमको स्वीकार करता हूं, तुम्हारा पालन करूंगा।

प्रथम ज्ञानाचार :—ज्ञानाचार ८ प्रकार के होते हैं। उनमें प्रथम ज्ञानाचारका नाम है कालज्ञानाचार। समयपर स्वाध्याय करना जैसे जब विप्लव लग रहा हो, सूर्यग्रहण हो, चन्द्रग्रहण हो, अथवा कोई अपने नगरमें महान् गुरु आचार्य पधार रहे हों अथवा अपने यहाँसे अन्यत्र जारहे हों, संधिवेला हो इत्यादि समय स्वाध्याय करने का नही है। इन सब समयोको टाल कर जो अन्य समय है उसमें स्वाध्याय करना, ज्ञान बढ़ाना यह काल-

नामक ज्ञानाचार है। ऐसे समयमें न पढ़ना, ऐसे समयमें पढ़ना इस यत्नको राग ही तो उत्पन्न करता है। कालनामक ज्ञानाचार रागरूप प्रवृत्ति है। यहाँ भेदविज्ञानकी वृत्ति देखो। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानस्वभावी हूं। धर्मके अर्थ जो हमारी ज्ञानाचारकी प्रवृत्ति होरही है यह ज्ञानाचार भी मैं नहीं हूं। मेरा नहीं है। मैं इस ज्ञानकी प्रवृत्तिसे भी अछूता एक शुद्ध ज्ञानस्वभावी हूं।

अनुभूत पुरुषका शब्दजन्य ज्ञान—भैया जैसे मिश्रीके स्वादका हम खूब बयान करें कि देखो मिश्रीका स्वाद बहुत मीठा होता है। कितना मीठा होता है ? गन्नेका रस चखा है ना, जिसमें मीठापन है, उससे कई गुना मीठा गरम किया हुआ गाढ़ा रस है। और जितना स्वाद रसमें है उससे कई गुणा स्वाद राबमें है और राबसे भी कई गुणा स्वाद गुड़में है। और गुड़से भी बहुतसा मैल निकाल लेते हैं फिर शक्कर बनती है सो उससे कई गुणा मधुर स्वाद शक्करमें है। और इस शक्करसे भी बहुत सा मल निकाल लेते हैं तब मिश्री बनती है। तो कितना स्वाद उस मिश्रीमें है। ऐसा खूब बताया पर जिसने जीवनमें मिश्री न खाई वह आँख फाड़कर देखे, कान फाड़कर सुने तो भी वह मिश्रीके स्वादका अनुभव नहीं कर सकता कि यों होती है मिश्री। पर जिसने मिश्रीका स्वाद चखा है उसको इतना अधिक सुनानेकी आवश्यकता नहीं है। प्रसंगमें थोड़ा सा बोल दिया कि मिश्रीका स्वाद बड़ा मधुर होता है। इतनी बात सुनकर वह मिश्रीके स्वादका पूर्ण परिचय पालेगा। इसीप्रकार जिसने अपने सहज ज्ञानका अनुभव किया उसके लिए तो एक दोहा ही काफी है, जैसे बच्चे लोग पढ़ते है "आप अकेला अवतरे मरे अकेला होय" या, सकल ज्ञेयज्ञायक तदपि निजानन्दरसलीन। बस इतने ही दोहेको सुनकर अपने सहज ज्ञानस्वभावका अनुभव कर लिया जाता। और जिसने अनुभव न किया उसको कितनाही समझाया जाय पर वह केवल सुनने तक का है या कुछ सोचने तक का है, पर परिचय नहीं हो पाता, जिसको आत्मस्वभावका परिचय होगया है वह आत्माकी बात सुन कर ही समझ जाता है कि अहो यह मेरी बात है। जिसने अपने सहज ज्ञानस्वभावका परिचय किया ऐसा ज्ञानी विरक्त गृहस्थमार्ग में सोचरहा है कि मैं ज्ञानाचारको ग्रहण करूंगा पर हे ज्ञानाचार तुम मेरे स्वरूप नहीं हो फिर भी मैं तुमको तबतक ग्रहण करूंगा जब तक तुम्हारे प्रसादसे अपने शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं।

द्वितीय ज्ञानाचारका संकल्प :—दूसरा ज्ञानाचार है विनय पूर्वक रहना,

नम्र रहना। थोड़ासा ज्ञान पाकर अहंकार होता है। अगर श्रुत ज्ञानमें कुछ अधिक प्रवेश हो तो अहंकार मिट जाता है। जैसे वाहरसे पहाड़ देखा जाताहै तो ऐसा लगताहै कि यह कितनासा पहाड़ है अभी जव चाहे चढ़ूँगा तो चट चढ जाऊँगा, पर जव पहाड़के नीचे पासमें पहुँचताहै तो ऐसा लगताहै कि अरे यह तो वड़ा ऊंचा है, इसपर चढ़नेमें छः घंटे लग जायेंगे। थोड़ा ज्ञान जव रहताहै तो यह होताहै कि हमने खूव ज्ञान पायाहै, पर कुछ अधिक ज्ञान होनेपर ऐसा लगताहै कि ओह मुझे तो वहुत जानना वाकी है, अभी तो कुछ नहीं समझा। ज्ञानी पुरुष विनयसे परिपूर्ण रहता, विनय करता, शास्त्रोंकी गुरुवोंकी गुणमूर्ति की उपासना करता। जिनसे ज्ञानकी शिक्षा मिलीहै व मिलतीहैं उन सवके प्रति विनयपूर्ण व्यवहार होना यह एक ज्ञानाचार है। इसही को विनयाचार कहते हैं। इस स्थितिरूप मेरा स्वरूप नहीं है। मैं तो सवसे न्यारा केवल चैतन्यस्वरूपमात्र यह शुद्धात्मा रागवृत्तियोंसे परे हूं। देखो ना, अपने आपमें अपना यह प्रभू नित्य विराजमान है। उसको समझिये कि यह मैं हूं। वाकी खटपट प्रवृत्तियाँ यह मैं नहीं हूं।

तृतीय ज्ञानाचारका संकल्प :—तीसरा आचार है उपधानाचार। कोई ग्रंथ पढ़तेहैं तो प्रतिज्ञा करतेहैं ना भैया ! कि जवतक मैं इसको पूरा न करलूं तवतक अमुक पदार्थका त्याग है अथवा अन्य अन्य प्रकारका नियम है इसके उपलक्षमें कोई नियम रहताहै, पर यह उपधान नामक जो ज्ञानाचार है यह इस मुझ आत्माका कुछ नहीं है, यह मैं जानता हूं तो भी मैं इसको तवतक ग्रहण करता हूं जवतक अपने शुद्ध आत्माके स्वरूपको प्राप्त करलूं।

चतुर्थ ज्ञानाचारका संकल्प :—एक वहुमान ज्ञानाचार होताहै। ज्ञानी पुरुषोंका वहुमान करना सत्कार करना उनको उच्च आदर वुद्धिसे देखना यह वहुमान ज्ञानाचार है। हे वहुमान ज्ञानाचार ! तुम मेरे स्वरूप नहीं हो फिरभी मैं तुमको तवतक ग्रहण करता हूं जवतक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूँ।

पञ्चम ज्ञानाचारका संकल्प :—इसीप्रकार एक अनिन्हव ज्ञानाचार है, जिस गुरुसे कुछ सीखाहै जिस कुछ छोटे पुरुषसे भी कुछ सीखाहै तो भी उसको न छिपाना उनका नाम प्रकट करना यह अनिन्हव ज्ञानाचार है। कुछ लोग ऐसे होतेहैं कि अपनी वड़ाईके अर्थ यों कह देतेहै कि मैंने सीखा तो किसीसे नही, पर यों ही सोचते-सोचते मैंने ज्ञानाभ्यास करलिया। जैसे कोई

हारमोनियम बजाना जानताहै। और, कोई उससे पूछे कि भाई किससे सीखाहै। तो अपनी बड़ाईके लिए, जिससे सीखाहै उसका नाम भी बताना दोष समझताहै। अनिन्हव एक गुण है। अनिन्हव ज्ञानाचार ! मैं निश्चयसे जानता हूं कि तुम मेरे शुद्ध आत्माके आचार नहीं हो। फिरभी मैं तुमको ग्रहण करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माकी प्राप्ति करलूं।

अन्तिम तीन आचारोंका संकल्प :—इसी प्रकार अर्थाचार व्यंञ्जनाचार व उभयाचार नामक तीन ज्ञानाचार हैं। शब्दोंको शुद्ध पढ़ना। दूसरों से कहते भक्तामर स्तोत्र सिखादो। वह वहां शुद्ध पढ़ना सीख रहा है यह भी एक ज्ञानाचार है। शब्द शुद्ध पढ़ना। पर सोचो तो सही, क्या मेरे आत्माका यह स्वरूपहै कि हम भक्तामर स्तोत्रकी पुस्तक लें और पढ़ें ? नहीं। मेरा स्वरूप तो शुद्ध ज्ञाता द्रष्टा रहनेका है। जैसे हम औरोंके बच्चों को देखकर यह बच्चा है बस इतना ज्ञानमात्र करके रह जाते हैं इसी प्रकार घरके बच्चोंको भी देखकर कहो कि यह भी एक बच्चा है। उतना ही तो उससे सम्बंध है जितना कि दूसरे बच्चोंसे है। सर्व चेतन अचेतन अर्थोंसे मात्र ज्ञेयज्ञायक सम्बंध है। केवल ज्ञानमात्र करके रह जावे तो यह आत्माके स्वरूपका विकाश है, किन्तु किसी प्रकारका राग उठना यह मेरा स्वरूप नहीं है। स्वाध्याय करते समय शुद्ध पढ़नेकी कोशिश करना यह ज्ञानाचार है। करना चाहिए, पर ज्ञानीके अन्तरसे यह आवाज उठती है कि ऐसा यत्न करना यह मेरा स्वरूप नहीं है फिरभी मैं इस यत्नको स्वीकार करता हूं जब तक इस यत्नके प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूं। इसी प्रकार अर्थका शुद्ध आना व शब्द और अर्थ दोनोंको शुद्ध करना यह सब ज्ञानाचार है। ज्ञानी पुरुषका वैराग्य इतना उच्च वैराग्य है कि धर्मके काम करते हुए भी यह सोच रहा है कि ऐसे बोलना, शरीर की चेष्टाएं करना, यह मेरा कुछ नहीं लगता है, लेकिन इन सबको मैं करता हूं। कबतक ? जबतक कि इसके प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं ज्ञानी गृहस्थ कल बताई हुई पद्धतिसे स्त्री पुत्र मित्र माता पितासे छूटकर घरका परित्याग कर एक मोक्षकी धुनमें चला जारहा है। वह सोच रहा है कि अब मुझे क्या करना है। ज्ञानाचारादिक ५ आचारोंका मैं पालन करूंगा, पर हे आचारो ! मैं तुम स्वरूप नहीं हूं। देखो भैया ! ज्ञानी संतोंकी इतनी सावधानी उत्कृष्ट प्रवृत्तियोंके प्रति भी वर्त रही हैं।

दर्शनाचारके ग्रहणका निश्चय—मैं सम्यग्दर्शनाचारको प्राप्त होता हूं।

सम्यग्दर्शनाचार के आचार हैं ८—निःशङ्कित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सित, अमूढदृष्टित्व, उपगूहन, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना। इन सबका लक्षण अभी कहा जायगा। पर ज्ञानी तो उनमें भी देख रहा है कि ८ प्रकार के दर्शनके आचारो ! तुम मेरे आत्माके कुछ नहीं हो। ऐसा मैं निश्चयसे जानता हूं। फिर भी मैं तुमको ग्रहण करता हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त कर लूँ।

दर्शनाचारके ग्रहणका संकल्प—निशंकित दर्शनाचारमें बताया है "जिन वचमें शंका न"। भगवान जिनेन्द्रदेवके वचनोंमें शंका न करो। जो वचन मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत हैं उनमें तो खूब तर्क करो, खूब प्रश्न करो, हल करो, परन्तु जिन वीतरागके वचनोंमें आत्माके मोक्षमार्गके प्रयोजनभूत तत्त्वके विवरणमें रंच भी गल्ती नहीं पायी, शत प्रतिशत सत्यता नजर आयी तो भगवान जिनेन्द्रदेवके सभी वचनोंको सत्य निरखो। कोई कहे कि हमें चलकर नरक दिखादो तब हम मानेंगे। स्वर्गमें कोई हमें स्वर्ग दिखादे तब हम स्वर्गको मानेंगे। तो स्वर्ग नरक को तर्कों से पूर्ण रूपसे सिद्ध नहीं किया जा सकता है। अभी यहाँ ही किसीकी बातोंमें दसों बातें सही उतर गयीं हैं और आपके कामकी हैं, और दो बातें ऐसी भी उन्होंने कह दी कि जिन्हें आप नहीं समझ सके और जो चित्तमें नहीं उतरी तबभी आपने यह विश्वास कर लिया कि ये दो बातें भी सही हैं। यह छद्मस्थ की बात कह रहे हैं जिसका कि कुछ नियम नहीं है। फिर तो जो वीतरागी है, किसीप्रकार का रागद्वेष नहीं है, उनकी वाणीमें मोक्षमार्गके प्रयोजन-भूत तत्त्वोंमें किसी प्रकारकी अशुद्धता नहीं पायी है तो उनके जो वचन हैं, ४ गतियाँ हैं, स्वर्ग है, नरक है, जम्बूद्वीप है, ३४३ घनराजू प्रमाणवाला लोक है, हे प्रभो तुम्हारी भक्तिके प्रसादसे बिल्कुल सब सत्य नज़र आ रहा है। जिनेन्द्र भगवानके वचनोंकी शंका न करना सो निःशंकित अंग है।

आन्तरिक निःशङ्कता— दूसरी बात-आत्माके सहज ज्ञान स्वरूपकी निरख करनेके पश्चात् अपने आपमें किसी प्रकारका भय न हो। सो निःशंकित अंग है। कैसा कानून बनरहा है यह धन रहेगा कि न रहेगा ? कैसे आगे गुजर होगा ? किसी प्रकारका भय सम्यग्दृष्टिपुरुषके नहीं है। वह जानता है कि यह मैं ज्ञानस्वरूप हूं। ज्ञानरूप प्रवृत्ति है। ज्ञानको भोगता हूं। ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। इसको लूटनेवाला कोई डाकू नहीं है। इसको छीनने वाला, चुराने वाला कोई चोर नहीं है। इसके बाँटने वाला कोई

भाई नहीं है। कैसा भी उपद्रव हो जावे किन्तु कभी मेरी आत्माका नाश नहीं होता मैं तो चैतन्यस्वरूप हूं. स्वयंसत् हूं, ऐसा निर्णय रखनेवाले पुरुषको वाह्य पदार्थों के संयोग वियोगका भय नहीं रहता। भय उसे होता है जिसके ममता होती है। जिसके ममता नहीं है, आत्मस्वरूपका यथार्थ निर्णय है उसको भय नहीं रहता है। यह निःशंकित दर्शनाचार है। जिनेन्द्र-भगवानके शब्दोंमें मेरे कोई शंका नहीं, "मैं निःशंक परिणमन और प्रवृत्ति करता हूं फिर भी वैंसा मेरा स्वरूप नहीं। देखो भैया ? रत्नत्रयके अङ्गरूप प्रवृत्तिसे भी मैं अपनेको न्यारा समझ रहा हूं पुत्र मित्रकी चर्चा ही क्या है, वे तो प्रकट भिन्न हैं। अपने आपमें उठनेवाले उच्च विचारोंको भी वह ज्ञानी स्वरूप नहीं समझ रहा फिर इन दंदफंदोंको समझेगा ही क्या ?

निःकांक्षित दर्शनाचारका संकल्प—इसी प्रकार दूसरा अंग है निःकांक्षित अंग धर्म धारण करना। धर्मके एवजमें किसी अन्य पदार्थों कीचाह न करना निःकांक्षित अंग है। पूजा करके यह आशय कि घरके लोग खुश रहें, ऐसा भाव ज्ञानीके नही होता। हम गृहारम्भमें रहकर २३घंटे वहुत राग कर चुके हैं' वहुत मलिनता धारण कर ली है वड़ा वोझ लाद लिया पर वीतराग प्रभुके दर्शन कर उन भारों को दूर करें। ऐसी बुद्धिसे ज्ञान-युक्त पूजक पूजा करने आता है।

निःसहि शब्दका भाव—दर्शन करनेवाले वन्धु मन्दिरके द्वारसे प्रवेश करते ही निःसहि निःसहि वोला करते हैं। उसका क्या प्रयोजन है लौकिक प्रयोजन तो यह है कि निःसहि शब्दको सुन कर कोई भगवानके सामने खड़ा हो तो वह अलग होजाय। उसकी सूचना है कि मैं दर्शन करने आरहा हूं, यदि कोई भगवानके समक्ष खड़ा हो तो वह एक तरफ होजाय, मुझे दर्शन करनेमें वाधा न दे। कोई देव खड़ा हो तो वह भी एक तरफ होजाय मुझे दर्शन कर लेने दे। मेरे से भी उनकी आसादना न हो इस लिए एक तरफ होजावे। यह नि.सहि का लौकिक अर्थ है।

निःसहि शब्दका आध्यात्मिक मर्म—मंदिरद्वारमें पहुँचते ही ज्ञानी यह सोचता है कि हे रागद्वेष विकारो ! २३-२३॥ घंटे तुम मुझमें घुलमिलकर रहे और तुमने मनमानी शैतानी भी की। अव तो वीतरागप्रभुके मंदिरमें हम जा रहे हैं। अब यहाँ रागद्वेषादि विकारो ! तुम्हारी दाल न गलेगी रागद्वेषादि विकार वहाँ न ठहर सकेंगे। तुमसे हमारी दोस्ती भी रह चुकी है इस कारण दोस्तीको निभाकर हम सूचना दे रहे हैं कि सीधे चुपचाप

मेरी आत्मासे निकल जावो। वीतराग प्रभूके मंदिरमें हम जारहे हैं, वहां विकारभावोंकी स्थिति न रह सकेगी। ऐसा विचार करता हुआ ज्ञानी मंदिरमें प्रवेश करता है कहीं ये रागादिक विकार मुझे यों न कहने लगें कि हमतो तुम्हें विषयकषायोंमें रमाकर मौजी बनाये रहे किन्तु तुम ऐसे निर्दयी बन गए कि बिना सूचना दिए ही पछाड़ डाला, सो ये रागादिक विकारो! तुम्हारे लिए सूचना है कि तुम हमसे दूर हट जावो। इतनी तैयारीसे मंदिर में आता है। अन्यथा मंदिरमें आकर अपने विषय कषायोंके पोषणकी इच्छा करें तो क्या ज्ञानकी बात हुई? अपना इतना शुद्ध चित्त बनाओ कि मुझे कुछ न चाहिए। मैं तो शुद्ध स्वभावमें और प्रभूस्वरूपके दर्शनमें लगा हूं, मुझे तो चिच्चमत्कारमात्र प्रभुताके दर्शन होते रहें।

शान्ति एवं आनन्दका स्थान—मुझे अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मिल सकता हमें शांति एवं आनन्द यहीं मिल रहा है। शान्ति तो इस उपयोगमें ही है। घर कुटुम्ब परिवारके लिए जो मेरे कुछ नहीं हैं, उनके लिए श्रम करना केवल एक भ्रम ही था। उनका भी उदय था इससे उनकी दासता करता रहा। किस वस्तुमें लगनेका विकल्प करूं? मैं तो अपने आप जो कुछ ज्ञानमें आरहा है उसकी उपासनामें आरहा हूं, वही शांति का साधन बनता है। प्रभूकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य कुछ रंच भी वांछा न करो। कोई सा भी व्रत पालन विषय कषायके लिए नहीं करना है पौत्रादिक के लिए धनसम्पत्तिके लिए किसी भी लौकिक सिद्धिके लिए रविव्रत आदि का पालन करना सब मिथ्यात्व है। भैया! इस ध्येयके लिए ही प्रभूकी उपासना करो कि रागद्वेष विकार मुझसे हटजाएँ। ये ही बड़े संकट हैं। निर्दोषताकी सिद्धिके लिए प्रभूके स्वरूपको निहारना है। प्रभूके जैसा स्वरूप वाला मैं हूं। इस स्वभावकी चर्चामें किसी प्रकारका लौकिक पदार्थ न चाहिए यह निःकांक्षित अंग है। निकांक्षित आचारो! तुम भी मेरे स्वरूप नहीं हो मैं तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप हूं फिर भी मैं तुमको ग्रहण कर रहा हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं।

तृतीय दर्शनाचारका संकल्प—इसी प्रकार तीसरा दर्शनाचार है निर्विचिकित्सित। धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करनेमें ग्लानि न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग कहलाता है। जैसे माताको अपने पुत्रसे प्रेम है तो पुत्रके चाहे नाक निकली हो तो भी वह अपनी धोतीके पल्लेसे बड़े प्रेमपूर्वक नाकको पोछ लेतीहै। क्योंकि उस बच्चेसे उस मांका घनिष्ट प्रेम है। इसी

प्रकार धर्मात्माजनोंसे तुम्हारा घनिष्ट प्रेम हो तो धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुए मनमें ग्लानि न उत्पन्न होगी। जिनसे बहुत मोह है उनकी सेवामें तुमने कुछ भी नहीं पाया, जिसके मोह नहीं है ऐसे गुरुओंकी सेवा तो करो, इससे अन्तरमें शुद्ध विकाश होगा। धर्मात्माजनोंकी प्रीतिमें तन,मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करना पड़े तो न्योछावर करदो। जैसे अपने पुत्र की बीमारीमें अपने घरका सब कुछ खोकर अंतमें कर्जा लेकर भी द्रव्य लगा देते हो, इतना ही भीतरमें भाव अपने गुरुओंके प्रति हो। जैसे अपने बच्चों के लिए तन, मन, धन न्योछावर कर देते हो वैसे ही अपने गुरुओंके प्रति सब कुछ न्योछावर कर सको इतना साहस, ऐसी ही प्रीति धर्मात्माजनोंमें होनी चाहिए; लेकिन यहाँ परमार्थ चिद्रूपकी भक्तिमें ज्ञानी इस दर्शनाचार-के प्रति भी कह रहा है कि तुम मेरे स्वरूप नहीं हो फिरभी मैं तुम्हें ग्रहण करता हूं। जब तक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूँ।

अन्तरङ्ग व बहिरंग निर्विचिकित्सित दर्शनाचार—यहां निर्विकित्सा अंग चल रहा है। रत्नत्रयसे पवित्र साधुओंके शरीरमें ग्लानि न करना सोई निर्विकित्साङ्ग है। यह बहिरङ्ग अंग है और अपने हर्ष विवाद आदि परिणामोंको देखकर अपनेमें घबड़ाहट न करना, म्लान उपयोग न बनाना किन्तु सदा पवित्र शुद्ध ज्ञायक स्वभावकी दृष्टि करना यह अंतरङ्ग निर्वि-चिकित्सित अङ्ग है। दोनों प्रकारके निर्विकित्साङ्गके परिणामोंके प्रति यह ज्ञानी संत जो जिन दीक्षा लेनेके लिए गुरुके समीप जा रहा है, रास्तेमें अपने विचार बना रहा है कि हे निर्विकित्सित दर्शनाचार! यद्यपि निश्चयसे तुम मेरे नहीं हो। तुम एक पर्याय हो, क्षणिक हो, यह मैं जानता हूं फिर भी मैं तुमको तब तक पालता हूं जब तक मैं तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूँ।

चतुर्थ दर्शनाचार का संकल्प—इसी प्रकार यह ज्ञानी संत अमूढदृष्टि अंग में अपना परिणाम बनाता है। अमूढदृष्टि कहते हैं कुमार्गमें, कुमार्ग-गामियोंमें मुग्ध न होना सो अमूढदृष्टि है, किसी लौकिक साधनाके बल पर कुछ चमत्कार भी किसी कुमार्गगामीमें बन जाय तो भी उन कुमार्ग गामियों में मुग्ध न हो अपने आप में अटल विश्वास बनाए रहना अमूढ़ दृष्टि है। ऐसा शुद्ध ज्ञानीके अन्तरमें परिणाम है जो कुमार्ग और कुमार्ग गामियोंसे हटा हुआ रहे, अथवा हटाए हुए रहता है, ऐसा परिणामरूप दर्शनाचारको मैं जानता हूं कि निश्चयसे यह मेरे आत्माका कुछ नहीं है। फिर भी जब

मेरी आत्मासे निकल जावो। वीतराग प्रभूके मंदिरमें हम जारहे हैं, वहाँ विकारभावोंकी स्थिति न रह सकेगी। ऐसा विचार करता हुआ ज्ञानी मंदिरमें प्रवेश करता है कहीं ये रागादिक विकार मुझे यों न कहने लगे कि हमतो तुम्हें विपयकपायोंमें रमाकर मौजी वनाये रहे किन्तु तुम ऐसे निर्दयी वन गए कि विना सूचना दिए ही पछाड़ डाला, सो ये रागादिक विकारो! तुम्हारे लिए सूचना है कि तुम हमसे दूर हट जावो। इतनी तैयारीसे मंदिर में आता है। अन्यथा मंदिरमें आकर अपने विषय कषायोंके पोपणकी इच्छा करें तो क्या ज्ञानकी वात हुई? अपना इतना शुद्ध चित्त वनाओ कि मुझे कुछ न चाहिए। मैं तो शुद्ध स्वभावमें और प्रभूस्वरूपके दर्शनमें लगा हूं, मुझे तो चिच्चमत्कारमात्र प्रभुताके दर्शन होते रहें।

शान्ति एवं आनन्दका स्थान—मुझे अन्यत्र कहीं आनन्द नहीं मिल सकता हमें शांति एवं आनन्द यहीं मिल रहा है। शान्ति तो इस उपयोगमें ही है। घर कुटुम्व परिवारके लिए जो मेरे कुछ नहीं हैं, उनके लिए श्रम करना केवल एक भ्रम ही था। उनका भी उदय था इससे उनकी दारुता करता रहा। किस वस्तुमें लगनेका विकल्प करूँ? मैं तों अपने आप जो कुछ ज्ञानमें आरहा है उसकी उपासनामें आरहा हूं, वही शांति का साधन वनता है। प्रभूकी उपासनाके अतिरिक्त अन्य कुछ रंच भी वांछा न करो। कोई सा भी व्रत पालन विपय कपायके लिए नही करना है पौत्रादिक के लिए धनसम्पत्तिके लिए किसी भी लौकिक सिद्धिके लिए रविव्रत आदि का पालन करना सब मिथ्यात्व है। भैया! इस ध्येयके लिए ही प्रभूकीउपासना करो कि रागद्वेष विकार मुझसे हटजाएँ। ये ही वड़े संकट हैं। निर्दोपताकी सिद्धिके लिए प्रभूके स्वरूपको निहारना है। प्रभूके जैसा स्वरूप वाला मैं हूं। इस स्वभावकी चर्चामें किसी प्रकारका लौकिक पदार्थ न चाहिए यह निःकांक्षित अंग है। निकांक्षित आचारो! तुम भी मेरे स्वरूप नहीं हो मैं तो एक शुद्ध ज्ञायक स्वरूप हूं फिर भी मैं तुमको ग्रहण कर रहा हूं जव तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूँ।

तृतीय दर्शनाचारका संकल्प—इसी प्रकार तीसरा दर्शनाचार है निर्विचिकित्सित। धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करनेमें ग्लानि न करना निर्विचिकित्सित अङ्ग कहलाता है। जैसे माताको अपने पुत्रसे प्रेम है तो पुत्रके चाहे नाक निकली हो तो भी वह अपनी धोतीके पल्लेसे वड़े प्रेमपूर्वक नाकको पोछ लेतीहै। क्योंकि उस वच्चेसे उस माँका घनिष्ट प्रेम है। इसी

प्रकार धर्मात्माजनोंसे तुम्हारा घनिष्ट प्रेम हो तो धर्मात्मा पुरुषोंकी सेवा करते हुए मनमें ग्लानि न उत्पन्न होगी। जिनसे बहुत मोह है उनकी सेवामें तुमने कुछ भी नहीं पाया, जिसके मोह नहीं है ऐसे गुरुओंकी सेवा तो करो, इससे अन्तरमें शुद्ध विकाश होगा। धर्मात्माजनोंकी प्रीतिमें तन,मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर करना पड़े तो न्योछावर करदो। जैसे अपने पुत्र की बीमारीमें अपने घरका सब कुछ खोकर अंतमें कर्जा लेकर भी द्रव्य लगा देते हो, इतना ही भीतरमें भाव अपने गुरुओंके प्रति हो। जैसे अपने बच्चों के लिए तन, मन, धन न्योछावर कर देते हो वैसे ही अपने गुरुओंके प्रति सब कुछ न्योछावर कर सको इतना साहस, ऐसी ही प्रीति धर्मात्माजनोंमें होनी चाहिए; लेकिन यहाँ परमार्थ चिद्रूपकी भक्तिमें ज्ञानी इस दर्शनाचार-के प्रति भी कह रहा है कि तुम मेरे स्वरूप नहीं हो फिरभी मैं तुम्हें ग्रहण करता हूं। जब तक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूँ।

अन्तरङ्ग व बहिरंग निर्विचिकित्सित दर्शनाचार—यहां निर्विकित्सा अंग चल रहा है। रत्नत्रयसे पवित्र साधुओंके शरीरमें ग्लानि न करना सोई निर्विकित्साङ्ग है। यह बहिरङ्ग अंग है और अपने हर्ष विवाद आदि परिणामोंको देखकर अपनेमें घबड़ाहट न करना, म्लान उपयोग न बनाना किन्तु सदा पवित्र शुद्ध ज्ञायक स्वभावकी दृष्टि करना यह अंतरङ्ग निर्वि-चिकित्सित अङ्ग है। दोनों प्रकारके निर्विकित्साङ्गके परिणामोंके प्रति यह ज्ञानी संत जो जिन दीक्षा लेनेके लिए गुरुके समीप जा रहा है, रास्तेमें अपने विचार बना रहा है कि हे निर्विकित्सित दर्शनाचार! यद्यपि निश्चयसे तुम मेरे नहीं हो। तुम एक पर्याय हो, क्षणिक हो, यह मैं जानता हूं फिर भी मैं तुमको तब तक पालता हूं जब तक मैं तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूँ।

चतुर्थ दर्शनाचार का संकल्प—इसी प्रकार यह ज्ञानी संत अमूढदृष्टि अंग में अपना परिणाम बनाता है। अमूढदृष्टि कहते हैं कुमार्गमें, कुमार्ग-गामियोंमें मुग्ध न होना सो अमूढदृष्टि है, किसी लौकिक साधनाके बल पर कुछ चमत्कार भी किसी कुमार्गगामीमें बन जाय तो भी उन कुमार्ग गामियों में मुग्ध न हो अपने आप में अटल विश्वास बनाए रहना अमूढ़ दृष्टि है। ऐसा शुद्ध ज्ञानीके अन्तरमें परिणाम है जो कुमार्ग और कुमार्ग गामियोंसे हटा हुआ रहे, अथवा हटाए हुए रहता है, ऐसा परिणामरूप दर्शनाचारको मैं जानता हूं कि निश्चयसे यह मेरे आत्माका कुछ नही है। फिर भी जब

तक इसके पालनके प्रसादसे आत्माको प्राप्त कर लूं तव तक मैं इसको प्राप्त करता हूं। देखो इन आचार परिणामोंकी उदारता कि ये परिणाम होकर स्वयं नष्ट हो जाते हैं, किन्तु इन उपासक भव्य जीवोंको अपना नाश करके उच्च स्थानमें पहुँचा देते हैं।

पञ्चम दर्शनाचारका संकल्प—भैया, अब उपबृंहण नामक दर्शनाचार की चर्चा देखिये—दूसरोंके दोषोंको प्रकट न करना इस धर्मको कलंकित न बनाना, अपने गुणोंकी वृद्धि करना सो उपबृंहण है। इसका व्यावहारिक अंग है उपगूहन अर्थात् दूसरे धर्मात्माजनोंमें यदि कोई दोष हो तो उस दोषको लोकमें प्रजामें जाहिर न करो, क्योंकि प्रजाजनोंमें दोष जाहिर होनेपर लोक उस व्यक्तिको बुरा नहीं कहेंगे पर धर्म, मजहब अथवा धर्म के पालन करनेवाले सबको बुरा कहेंगे। क्योंकि उस व्यक्तिसे लोगोंका परिचय नहीं है। प्रजा लोग यह कहेंगे कि इस मजहबवाले यों बेकार भद्दे होते हैं। अतः यदि धर्मात्माजनोंमें कदाचित् कोई दोष भी हो तो भी लोक में प्रकट न करो। पहिली बात। दूसरी बात यदि वह पुरुष अपने हठ पर ही उतारू है, दोष नहीं छोड़ना चाहता है, दोष किए ही जा रहा है तो उसको यह घोषित करके कि ये अब मेरे गुरु नहीं हैं, उसको अलग कर दो, यह भी उपगूहन अंग है। जिससे प्रजाजन यह न कह सकें कि इस धर्म वाले भी ऐसे बुरे हुआ करते हैं। इसका ही नाम उपबृंहण है इससे आंतरिक व्यवस्था क्या रहती है कि अपने आपके दर्शन, ज्ञान, चारित्र गुणोंकी वृद्धि कर स्वयं शांतिके मार्गमें चलते हैं जिसे पहिचान कर दूसरे लोग भी स्वयं शांतिका मार्ग अपनाने लगें। इसे कहते हैं उपबृंहण। इन अंगोंकी प्रवृत्तिके प्रति ज्ञानी संत भावना करता है कि हे उपगूहननामक दर्शनाचार ! मैं यह जानता हूं कि तुम इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो। यह मैं शुद्ध आत्मा तो एक ज्ञानस्वभावी तत्त्व हूं। इसमें प्रवृत्ति निवृत्तिका कोई काम नहीं है। हमारा तो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहना ही मात्र काम है, समझता हूं फिर भी हे उपगूहन दर्शनाचार ! मैं तुमको तब तक प्राप्त करता हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूँ।

स्थितिकरणनामक छठे दर्शनाचारका संकल्प—यह विरक्त संत आगे और विचार बनाता है। एक स्थितिकरण नामक दर्शनाचार है। कोई धर्मात्मा पुरुष किसी कमीसे अपने किसी कषाय के उदयसे धर्मसे च्युत हो रहा हो, खोटे मार्ग में लगने वाला हो तो उसको समझा बुझाकर अथवा धनकी

गरीबी के कारण आकुलताओंकी अपूर्ति के कारण धर्म से च्युत होता हो तो धन भी खर्च करके उस धर्मात्मा पुरुषको मार्ग में स्थित कर देना सो स्थितिकरण अंग है। देखो घर में उत्पन्न हुए दो, तीन, चार पुरुष ही मेरे लिए सब कुछ हैं, मुझे तो इनका ही खर्च निभाना है, मेरा तन, मन, धन, वचन सब कुछ इनके लिए ही है, ऐसा परिणाम होना बड़ी मूढ़ता का परिणाम है। ये घर के दो चार पुरुष कोई भी मेरे कुछ नहीं है, यों ही ये अट्टसट्ट आ गये हैं। कोई हमारी गणित लेखा बुद्धि कला के कारण ये नहीं आये हैं। जगत में जीव यत्र तत्र विचरते रहते हैं। उनमें से कुछ यहाँ आ गये। उनको तो अपना समझ लेना शेष अन्य जीवों को पराया मानना यह बहुत बड़ी मूढ़ता है।

गृहस्थका निर्मोहताके अर्थ एक कर्तव्य—भैया ऐसा उदार परिणाम रखो कि जितना व्यय आपका अपने कुटुम्बके प्रति होता हो, उतना नहीं तो चौथाई, चौथाई नहीं तो आठवां भाग नियमसे दूसरे जीवोंके उपकारमें लगना चाहिए। अन्यथा यह महामोह तुम्हें बर्वाद कर डालेगा। इन दो चार को ही अपना सब कुछ मान लेना और बाकी जीवोंको गैर मान लेना यह महामूढ़ता है इस अनुदारताको चित्तसे हटाओ। अपनी दया करना हो तो इस अविवेक को दूर करदो। यह अविवेक प्राणियोंमें गहन छाया हुआ है। अपने आपकी भलाई इष्ट है, तो इस मोहको कम करिये और मोहको कम करने का उपाय है कि अन्य जीवोंकी भी सेवा करने लगो। उनमें भी अपने धनका व्यय किया जाय। सर्व परिवार पर जो व्यय हो उसका एक चौथाई अन्य जीवों के उपकार में व्यय होना चाहिए। अगर नहीं व्यय कर सकते तो समझ लीजिए कि वह महामोह है।

आत्मसावधानीसहित स्थितिकरणका संकल्प—कोई धर्मात्माजन किसी कारणसे अपने धर्मसे च्युत होकर विषय कषायोंमें गिररहा हो तो अनेक उपाय करके उसको धर्ममें स्थिर कर दो सो स्थितिकरण अंग है। हे स्थिति-करण प्रवृत्तिरूप दर्शनाचार ! मैं जानता हूं कि यद्यपि तुम मेरे शुद्ध आत्मा के कुछ नहीं हो, फिरभी मैं तुमको प्राप्तकरता हूं जब तक तुम्हारे प्रसाद से शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर लूँ। यह ज्ञानी संत की वैराग्य वासना है वह विरक्त पुरुष जिस व्रतका पालन करने जा रहा है उस व्रतको भी वह कह रहा है कि तुम मेरे नहीं हो। मैं जानता हूं, मेरा तो शुद्ध आत्माको पाने का प्रोग्राम है, और उसका उपाय तुम हो। सो मैं इस शुद्धात्मा को प्राप्त

करलूं तब तक तुम्हें पालन करूँगा।

खुदगर्जी नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूप—यहाँ कोई खुदगर्जी की बात नहीं कही जा रही है। पूजाके अंतमें तो आप भी कह देते हैं—तुव पद मेरे हियमें, मम हिय तेरे पुनीत चरणों में। तव लों लीन रहूं प्रभु, जब लों प्राप्ती न मुक्ति पद की हो। इसमें भी अपनी खुदगर्जी बड़ी जाहिर हो रही है कि हे भगवान! मैं तुमको तब तक पूजता हूं, तब तक तुम्हारे चरणोंमें अपने हृदयको बनाए रखता हूं जब तक मोक्ष पद मुझे प्राप्त न हों। यह कोई खुदगर्जी की बात नहीं है। यह वस्तुस्वरूपकी बात है। मुक्त अवस्था प्राप्त होनेपर वह आत्मा अत्यन्त निर्लेप, सर्वज्ञ, अनन्तानन्दमय हो जाता है। हे प्रभो मुक्त होनेपर मुझमें वह शक्ति नहीं रहती कि मैं आपकी पूजा करूं, आपकी उपासना करूं, ध्यान करूं।

हितसे च्युत न होना आचार का उद्देश्य—इसी प्रकार यहाँ भी आचारोंका शुद्धात्मोपलब्धि होने तक पालना वस्तु स्वरूप है। जैसे किसी अपराधके कारण हजार रुपयेका दण्ड हो गया है तो तुम ५ रुपयेका दण्ड देकर ९९५ रुपये बचा लेते हो। तुम खुशी खुशी ५ रुपये दे भी देते हो। पर अन्तर में तो यह परिणाम है कि यह भी एक दण्ड है। यह भी न देना होता तो अच्छा था। इसी प्रकार विषय कषायोंका बड़ा अपराध किया और उनमें बहुत प्रवृत्ति रूप दण्ड मिल रहा है, दुःख मिल रहा है, क्षोभ मिल रहा है। यदि व्रत, तपस्या रूप से दण्ड थोड़ा भुगतकर इस बड़े दण्ड से छूट जायें तो ज्ञानी पुरुष खुशी-खुशी व्रत तप आदि करता है किन्तु अन्तरमें यह समझता है कि यह व्रत तप आदि मेरा स्वभाव तो नहीं है। इनके भी करने का मेरा काम नहीं है। मैं तो शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं। यदि शुद्ध ज्ञान दृष्टि रहती, तो भैया! अपने हित में बहुत अच्छा था।

वात्सल्यनामक सप्तम दर्शनाचारका संकल्प :—यह ज्ञानी पुरुष अब आगे वात्सल्यअङ्गमें विचररहा है। धार्मिक जनोंको देखकर उनके गुणोंको जान कर अत्यन्त प्रसन्न होकर उन गुणी पुरुषोंसे निश्छल प्रेम करना सो वात्सल्य प्रेम है। जैसे गाय बछड़ेपर निश्छल प्रीति करती है। उस बछड़ेसे गाय का कुछ हित नहीं होता है। कभी गाय बीमार पड़जाय तो वह बछड़ा कहीसे पूरा लेकर उस गायके मुखमें न रख देगा कि ले,तू भूखी है, तू भी खाले। वह बछड़ा उस गायके किसी काममें न आयगा बल्कि वह बड़ा होने पर गायपर उपद्रव ही ढायगा। लेकिन उस गायका बछड़ेपर निश्छल

प्रेम रहताहै, बछड़ा नहीं मिलता है, तो वह दौड़कर ढूंढकर तड़फकर उससे मिल लेती है। जैसे गाय बछड़ेपर निश्छल प्रेम करती है उसी प्रकार एक धर्मात्मा पुरुष दूसरे धर्मात्मा पुरुषपर निश्छल सत्य प्रेम करता है। हे वात्सल्यनामक दर्शनाचार ! तुम इस लोकव्यवहारमें बड़े पवित्र अंग हो लेकिन मैं समझरहा हूं कि तुम भी मेरे कुछ नहीं हो। मैं तो टंकोत्कीर्णवत् निश्छल एक शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं और तुम पर्याय हो, विनाशिक हो, तुम मेरे कुछ नहीं लगते; यह मैं निश्चयसे जानता हूं तो भी तुमको तबतक प्राप्त करता हूं जबतक मैं तुम्हारे ही प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं।

प्रभावनानामक अष्टम दर्शनाचारका संकल्प :—इसी प्रकार यह निकट-भव्य पुरुष प्रभावना अङ्गकी बात सोचता है। देखो भैया, सम्यग्दर्शनके अंगोंका पालन करो और साथ ही यह अपना विवेक बनाओ कि इन अंगों का इसप्रकार पालन करना भी तो एक मुक्तिसे पहिली अवस्था है। इस अवस्थासे मुझे संतोष नहीं है। उस अवस्थासे भी परे शुद्ध वीतराग निर्विकल्प आनन्दरूप अपने स्वरूपमें प्राप्त होना चाहता हूं। प्रभावना अङ्ग क्या है कि पूजन विधान, उपदेश, व्याख्यान, ज्ञानीका समागम जुटाना आदि अनेक उपायोंसे धर्म प्रभावना करना यह तो है बहिरंग प्रभावना और अपने आपके रत्नत्रयके तेजसे, दर्शन ज्ञान चारित्रके आचरणके प्रतापसे अपनी उन्नति करना, अपनी प्रभावना बढ़ाना, अपने अर्थ अपना महत्त्व बढ़ाना सो आंतरिक प्रभावना है।

ज्ञानप्रभावनारहित योजनामें प्रभावना अङ्गका अभाव—भैया ! अपना नाम खुदानेके लिए कीर्ति बनानेके लिए गजरथ चला देना, अमुक चीज बना देना, ऐसा मेला भरा देना उनमें अपव्यय कर देना, अपने कषायों का पोषण करना ऐसी अनुचित पद्धतिसे कि उस उत्सवको देखकर दूसरे लोग ईर्ष्या करने लगें और द्वेष बढ़ाने लगें, जिससे मेला करानेवालेको भी कोई लाभ नहीं हो, इसमें तो वह कषाय ही कषायमें बना रहा, अहंकारमें ही घुलता रहा और बाहरके नगरवासी प्रजाजन इस मजहबवालोंसे खार खाने लगे और उनपर विपदाएँ ढानेके प्रोग्रैम सोचने लगे, यह तो कोई प्रभावना नहीं है। प्रभावना तो वह है कि जिन पद्धतियोंसे, उत्सवोंसे लोग यह जान सकें कि इनका सिद्धान्त बड़ा महान् है। इनके सिद्धान्तके बलसे ही वास्तविक शांति हो सकती है। ऐसी ज्ञानवर्द्धक पद्धतिसे उत्सव मनाना, मेला करना यह सब बाह्य प्रभावना है और वास्तविक सच्ची आंतरिक

प्रभावना तो यह है कि खुद धर्मका श्रद्धान करें, ज्ञान करें, आचरण करें।

स्वयंकी निर्मलता विना प्रभावना असम्भव—यदि सभी लोग अपने आप में ऐसा सोचने लगें कि खुद चाहे कैसे ही भ्रष्ट हों, पर ऐसा वोलें कि जिससे दूसरे लोग धर्ममें लगे रहें और प्रभावना वनी रहे ऐसा ही सव सोचेंगे तो यह सव एक भ्रष्टोंका संघ वन जायगा कि जिसमें भ्रष्ट तो सभी हैं और धर्मका फतवा सव दे रहे हैं व जय हो, जय हो के नारों से आसमान गुंजा रहे हैं, वहां एकको भी लाभ नहीं मिल सकता।

सावधानी और साधना—वास्तविक प्रभावना तो अपने आपके श्रद्धान ज्ञान और आचरणकी वृद्धि करना है। इस प्रकार के दोनों ही तरहकी प्रभावनारूप दर्शनाचार! निश्चयसे मैं समझ रहा हूं कि इस शुद्धात्माके तुम कुछ नहीं हो, तुम पर्याय हो, मैं शुद्ध अविनाशी चेतनतत्त्व हूं। फिरभी मैं तुमको तव तक प्राप्त करता हूं, पालन करूंगा जव तक तुम्हारे ही प्रसाद से मैं शुद्धात्माको प्राप्त कर लूं। यहाँ पर ज्ञानी आचारोंके प्रति कृतज्ञता प्रदर्शित करते हुए उनसे हितकी भावना कर रहा है। यह विरक्त संत जो अपनी स्त्री पुत्र मित्रोंको ज्ञानकी किरणें देकर उनसे छुटकारा पाकर किसी गुरुकी शरणमें जा रहा है, वह गृहस्थ ज्ञानाचार और दर्शनाचार के सम्वन्धमें इस प्रकारकी भावना कर रहा है।

चारित्राचारके ग्रहणका निश्चय—अव इसके आगे चारित्राचारके सम्वन्धमें वात कही जा रही है। चारित्राचार १३ प्रकारके होते है। ५ महाव्रत, तीन गुप्ति और ५ समिति। ये १३ प्रकारके चारित्र मोक्षमार्ग की प्रवृत्तिके कारण हैं। ऐसे १३ प्रकारके चारित्राचारोंके प्रति कहा जारहा है कि हे चारित्राचारो! मैं निश्चयसे जानता हूं कि तुम मेरी शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, फिर भी मैं तुमको प्राप्त करता हूं जव तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूं।

अहिंसामहाव्रतनामक प्रथम चारित्राचारका संकल्प—१३प्रकार के चारित्रों में प्रथम चारित्र है अहिंसा महाव्रत। पृथ्वीकाय, जलकाय, अग्निकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय और त्रसकाय, इन जीवोंकी हिंसा न करना अहिंसा महाव्रत है। यहां खूव ध्यानसे सोचिए, वह आत्मा तो एक शुद्ध ज्ञान प्रकाश रूप है। इसका सहज कार्य तो ज्ञाता द्रष्टा रहना है। मैं अमुक जीव से परे हट जाऊं, अमुक जीवपर दया करूं ऐसा परिणाम ज्ञान भावके कारण नहीं होता, रागभावके कारण होता है। ज्ञानभावके कारण तो

शुद्ध जानन वृत्ति होती है। हाँ उसमें ज्ञानका किसी दर्जे तक सहयोग है। किसी विशिष्ट दर्जे तक का ज्ञान हो तो इस प्रकारकी दया हुआ करती है कि मैं जीवोंकी हिंसा न करूं और इनका उद्धार करूं।

अध्रुव के आत्मस्वरूपत्वका अभाव—वास्तवमें यह परिणाम भी अनुरागका परिणाम है, शुद्ध ज्ञानका परिणाम नहीं है। इस कारण अहिंसा महाव्रत रूप चारित्रसे भी यह ज्ञानी पुरुष कह रहा है। हे अहिसा महाव्रत रूप चारित्राचार! तुम इस मुझ शुद्धात्माके कुछ नहीं हो। अहिसा महाव्रत आत्माका एक विशुद्ध परिणाम है, वह परिणमन मिट जायगा। मेरे में सदा न रहेगा जो मेरी चीज है वह मुझमें सदा रहती है। हे अहिंसा व्रत रूप चारित्र! तुम मुझ शुद्धात्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं तो भी तुम्हारा (अहिंसा महाव्रत का) हम पालन करते हैं, वहुत निर्दोष पद्धतिसे तुम्हें पालूंगा कव तक? जव तक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्धात्माको प्राप्त कर लूं।

कृतज्ञता और सावधानीका समन्वय—भैया यह चारित्राचार एक विशुद्ध परिणमन है। मगर आत्माका स्वरूप नहीं है। यह सदा रहने वाला नहीं है। यह तो किसी विशिष्ट परिणाममें होता है क्या इस व्रत और तपस्याका सदा काल पालन करना आप चाहते हैं क्या? सदा काल तक पालन करते रहने का मतलव यह है कि आप भगवान नहीं वनना चाहते हैं। जब तक व्रत और तप का पालन है तब नक क्या वह परमात्मा है। व्रत और तपस्याकी स्वरूप रूपमें रुचि करना तो मिथ्यात्व है, सम्यक्त्व नहीं है। यह ज्ञानी विरक्त संत इन व्रत तपस्याओंको वड़ी प्रसन्नतासे पाल रहा है और कृतज्ञता भी मान रहा है कि मेरा उद्धार तो तुम्हारे प्रसादसे होगा, फिर भी तुम कुछ मेरे हो नहीं, तुम विशुद्ध परिणमन हो, इस कारण मैं तुमको तब तक पालता हूं जव तक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त कर लूं।

मार्मिक भेद विज्ञान—यहाँ आत्माके उत्कृष्ट भेदविज्ञानकी वात कही जा रही है। आखिर धन वैभव मेरा कुछ नही है। रुपया पैसा ये मेरे कुछ नहीं है। धनवैभव की चर्चा तो किसी भी जगह नहीं की गयी है। अगर की भी है तो लोकमें महामूढ़ता वतानेके लिए की है। यह वैभव तो मेरा कुछ है ही नहीं। प्रकट पराया है। कहो चोर लूट ले जाएं, कहो सरकार छुड़ा ले, कहो वंधु हड़प करलें। किसी भी प्रकार यह नष्ट हो सकता है। यहाँ मेरा कुछ नहीं है। इसका भी यह विवेक है कि हमें धन प्राप्त होता

हैं तो मुफ्त प्राप्त होता है, ऐसा जानकर उदारता के साथ धर्मकी प्रभावना में, ज्ञानकी प्रभावनामें, लोगोंके उपकारमें व्यय करना चाहिए।

पुण्य फलकी आत्मासे भिन्नता—यह सम्पत्ति तो पुण्योदय से प्राप्त होती है। जो सम्पत्ति आज मिली है यदि उस सवको भी लुटा दो तो चूंकि यह सव पुण्योदयसे मिला है और पुण्यका उदय आत्मामें चल रहा है तो कलके दिन आपको नहीं पता कि कैसे सम्पत्ति मिलेगी, पर मिल जायगी। कुए में पानी जितना भरा है उतना रहेगा ही। तुम जल निकाल लो तो उतना भर जायगा और न निकालो तो उतना ही रहेगा। पर मोहके परिणाममें यह बुद्धि नहीं होती है। यह धन वैभव तो मेरा कुछ नहीं है। यह शरीर भी मेरा नहीं है। ये द्रव्यकर्म व रागादिक विकार आदि भी मैं नहीं हूं। और अपना उद्धार करनेके लिए साधुपना अंगीकार करना, व्रत तपस्या धारण करना ये परिणाम भी मेरे नहीं हैं। मैं तो उन सवसे न्यारा चेतन मात्र हूं।

चारित्राचारका अवसर :—आठ कर्मोंमें से मोहनीय कर्म एक प्रधान आत्मगुणघातक कर्म है। मोहनीयकर्मके उदयमें इस जीवका श्रद्धान विगड़ जाता है, रागद्वेष वढ़ जाते हैं। जितने भी संकट आते हैं वे सव मोहनीयकर्मके उदय के कारण आते हैं। जव कुछ विवेकका, पुरुषार्थका निमित्त पाकर अथवा देशनालब्धिमें मोहनीयकर्मका उपशम अथवा क्षयोपशम होनेको होता है। उस समय आत्मामें वड़ा विशुद्ध परिणाम होता है। जैसे तुम्हारा जीव किसी जोरदार डाकू चोरोंके गिरोहमें फंस गया हो और उससे निकलनेका अवसर मिल रहा हो तो उसकी प्रसन्नताका कोई ठिकाना नहीं है। उसके वड़ी प्रसन्नता होती है। इसी प्रकार व्यर्थ ही पर पदार्थोंके प्रति रागद्वेषभाव करनेके कारण जो एक विकट फंसाव लगा होता है उससे निकलनेका अवसर आता है तो उस समय जीवको वड़ी प्रसन्नताका, निराकुलताका अनुभव होता है।

ज्ञानी संतका सत्यमहाव्रतके लिये संकल्प :—उपशम या क्षयोपशमको पाकर अन्तरात्मत्वको प्राप्त हुआ ज्ञानी श्रावक गुरुके पास जारहा है और मनमें सोचरहा है कि मैं गुरूजीसे क्या चीज लूंगा। वह ज्ञानाचारकी वात सोच चुका, दर्शनाचारकी वात सोच चुका, अव चारित्राचारके सम्वन्धमें चिन्तन चल रहा है कि मैं १३ प्रकारके चारित्राचारोंका पालन करूंगा। अहिंसा नामक चारित्राचारका कल वर्णन हो चुका है। आज सत्यमहाव्रत नामक चारित्रका चिन्तन चलेगा। दूसरे जीवोंसे अहितकारी वचन न वोलना

और जो बचन शुद्ध हों, हितकारी हों वही बोलना, सो सत्य महाव्रत है। इस लोकमें हम आपको अपने आपके कल्याणकी बात उत्पन्न होना चाहिए। अपनेको दंदफंद, व्यर्थही किन्हींके झगड़ोंमें फंसना, किसीसे कुछ प्रयोजन साधनेका अपना श्रम लगाना आदिक कर्त्तव्य नहीं करनेको पड़े हैं, क्योंकि उन कर्मोंसे संसारमें संकटोंका बन्धन होता है।

स्वयंमें निधि, किन्तु विकट हैरानी :—यह दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है। ऐसा उपाय कर लीजिये कि जिससे संसारके संकट सब समाप्त होसकें। बड़ी हैरानी होती है यह जानकर कि शांति और आनन्दका तो यह आत्मा घर ही है, निधान है, और इसे शांति व आनन्दकी खोज करनी पड़ रही है। है स्वयं शांति और आनन्दमय, ज्ञानस्वरूप, मगर यह बाहरमें ज्ञानकी खोज करता है। जैसे एक भजनमें कहा करते हैं कि "पानीमें मीन प्यासी, मोहि सुन-सुन आवे हांसी' जलके अन्दर मीन प्यासी है ऐसा कोई कहे तो क्या हँसी न आयगी ? आयगी।

ज्ञानकी स्मृतिमें मगरका दृष्टान्त :—एक जिज्ञासु पुरुष, साधुके निकट पहुँचा, बोला महाराज मेरी आत्माका ज्ञान करा दीजिए। साधु बोला जावो अमुक नदीमें, बेतवा नदीमें अमुक घाटपर मगर रहता है उससे जाकर पूछो। वह गया मगरके पास। कहा महाराज मेरी आत्माको ज्ञान बतलाओ। मेरे आत्मा है या नही है ? कहां है ? मगर बोला ठहरो ! मुझको बड़ा दुःख है, पहिले अपना दुःख मिटालें फिर तुम्हें ज्ञानकी वात बतलायेंगे। वह बोला क्या दुःख है ? मगर बोला मैं बहुत प्यासा हूं, तुम्हारे हाथमें लोटा डोर है। जाओ उस कुएसे पानी भर लाओ। अपनी प्यास बुझालें फिर ज्ञान देगे। वह जिज्ञासु कहता है कि मगरराज मुझे तो गुरु महाराजने तुम्हें ज्ञानी वताया था और इसी कारण तुम्हारे पास ज्ञान लेने आया था। किन्तु आप तो बड़े बेवकूफ नजर आरहे हैं। आपके नीचे ऊपर पानी है, आप पानी से सराबोर हो फिरभी कहते हो कि कुएसे एक लोटा पानी ला दीजिए, मुझे प्यास लगी है। मगरराजने कहा हाँ मैं तो बेवकूफ़ हूं पर तुम मुझसे भी ज्यादा बेवकूफ हो, क्योंकि तुम ज्ञानसे तो सरावोर हो, ज्ञानही तो तुम्हारा स्वरूप है। ज्ञानको छोड़कर आत्मा और क्या होता है। पुद्गल हैं इन्हें हाथोंसे पकड़कर बताया जासकता है कि यह है पुद्गल, रूप, रस, गंध, स्पर्शका पिंड है यह पुद्गल। आत्मा क्या है ? जो ज्ञान है, जानन है, प्रकाश है; प्रतिभास है वही तो आत्मा है। सो ज्ञानमय तो स्वयं हो और पूछते हो कि

मुझे ज्ञान देदो यह कितनी हैरानीकी वात है। वड़ी हैरानीकी वात है कि सव कुछ मामला तैयार है। अपने आपका प्रभुत्व भी अपनेमें, ज्ञान और आनन्द भी अपनेमें है, पर अपनेको रीता ही नजर आरहा है। ज्ञान और आनन्दकी भीख माँगी जारही है। ऐसा प्रभुराज होकर भी परपदार्थोका भिखारी वनरहा है। इन सवका कारण है मोह।

ऐकान्तिक व्यामोह :—भैया! वतलाओ इस आत्माका आपके शरीरसे सम्वन्ध है क्या। इस आत्माका इन घरके मिलेहुए दो चार प्राणियोंके आत्माओंसे कोई सम्वंध है क्या? कुछ लिखापढ़ी है कि यह जीव मेरा पुत्र है, कुछ रजिस्ट्री हुई है क्या? कोई निशान है क्या? अरे जैसे जगतके सव जीव है वैसेही घरमें उत्पन्न हुए ये दो चार प्राणी भी है। पर व्यर्थमें एक मोहका अंधकार जिसके कारण यह परमात्मा प्रभु नजर नही आरहा है। जैसे वीरान जंगलमें भूलाहुआ मुसाफिर कहां जाय। थोड़ासा पूर्व दिशामें चलताहै फिर कल्पना होतीहै, कि अरे मैं भूलरहा हूं मुझे पश्चिम दिशामें चलना चाहिए। वह पश्चिम दिशाको चलता है, उत्तर दिशाको चलता है, दक्षिण दिशाको चलता है। इस प्रकारसे वीरान जंगलमें फंसाहुआ मुसाफिर जैसे भटककर प्राण गंवा देता है उसी प्रकार रागद्वेप मोहके विकल्परूप जंगलमें संसारमें फंसा हुआ यह आत्मा दुखी होरहा है, वर्वाद होरहा है।

शान्तिके उपाय—भैया! आनन्द तो प्रभुके भजनमें है, स्वरूपके चिंतन में है। तीसरी जगह कहीं आनन्द नही है। इस कारण भैया! पुण्यके उदय से आप लोग वड़े वन गये, उत्तमकुल पाया, उत्तम समागम पाया, कभी कभी ज्ञानी पंडित विद्वानोका समागम रहता है, वुद्धि श्रेष्ठ पायी है, आजीविकाभी अच्छी पायी है, सव कुछ पाया है। अव यदि मोहवश विषय कपायोंकी ओर ही झुकाव रहा तो ये सव दुर्लभसे दुर्लभ समागम पाना सव निष्फल हो जायगा सोचो! यह ज्ञानी विरक्त संत गृहस्थ सोच रहा है कि मुझे क्या करना है? पुत्र, मित्र, स्त्रीका तो त्याग कर लिया। घरसे सम्वन्ध तो छूटगया मैं निराकुल और स्वतंत्र हो गया। अव करनेका काम क्या है? इन्हीं ५ आचारोंका पालन करना है।

सत्य महाव्रतका नियन्त्रण—यह ज्ञानी विरक्त संत सत्य महाव्रत चारित्राचारके प्रतिकहरहा है कि हे सत्य महाव्रतरूप चारित्राचार! तुम्हारी वड़ी उत्कृष्ट सच्चाई है। जो सच्चाईसे रहता है उसमें गुणका परम

विकाश होता है। सो हे सत्य चारित्राचार ! तुम बहुत ही पवित्र हो, फिरभी मैं यह समझ रहा हूं कि यह सत्यपालनका जो यत्न है, महाव्रत है यह भी मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो ध्रुव शुद्ध चित्प्रकाशमात्र है। न अच्छी प्रवृत्ति करना, न बुरी प्रवृत्ति करना, किन्तु ज्ञाता द्रष्टामात्र रहना यह मेरी बान है, यह मेरा स्वभाव है, फिर भी मैं हे सत्यमहाव्रत रूप चारित्राचार ! मैं तुमको पालता हूं, पालूंगा जब तक तुम्हारे प्रसादसे इस शुद्धात्माको प्राप्त न करलूं। चिंतन करता जा रहा है ज्ञानी गृहस्थ। बहुत बड़ा काम करना है ना, इसलिए उसके सम्बन्धमें उच्च चिंतन चलना प्राकृतिक बात है।

तृतीय चारित्राचारका संकल्प :—अब क्या सोचता है यह विरक्त श्रावक कि हे अचौर्य महाव्रत रूपी चारित्राचार, तुम्हारा भी बड़ा पवित्र वातावरण है। किसीकी चीजको, चाहे वह तृणमात्र भी हो न चुराना, न छूना, न ग्रहण करना, उठाकर दूसरेके उपयोगमें भी न देना किन्तु समस्त पर पदार्थोंसे अत्यन्त उदासीन भाव रखना सो यही अचौर्य नामक चारित्राचार है। चोरीके यत्नमें बड़ा संकट है। अव्वल तो लौकिक संकट, सरकारके संकट, फिर पड़ौसी अविश्वास करने लगते हैं उसका संकट, और फिर सबसे बड़ा संकट है उसमें आत्मबलकी हीनता। दूसरोंकी चीज चुरानेके परिणाममें आत्म-बल शिथिल होजाता है। बड़ा संकट है ना ? आचौर्यरूप प्रवृत्तिसे रहनेमें निर्मलता है, निशंकता है। अनाप सनाप विषय भोग साधन हों तो भी चित्तमें अनीति है तो क्या, मौज व्यग्रता ही तो व्यग्रता है। एक तो इसको देखो और एक उसके उपयोगकी स्थिति देखो जिसके कलके खानेका भी ठिकाना नहीं है किन्तु अपनी नीति, अपनी सच्चाई, अपने चारित्रपर दृढ़ है। एक उसका वातावरण आत्मामें अन्तरङ्गमें देखो तो प्रसन्नताकी ही वृत्ति है। हे अचौर्य महाव्रत नामक चारित्राचार, तुम्हारा वातावरण कल्याणप्रद है, सन्मार्गमें लगनेवाला है फिरभी मैं यह जान रहा हूं कि तुम मेरे स्वरूप नहीं हो। चोरीका त्याग करना, कुपथसे बाहर हटना, अच्छे मार्गमें लगना, ऐसा आत्माका स्वभाव नहीं है, अगर ऐसा स्वभाव हो तो वह कार्य सिद्धभगवानके भी होना चाहिये। यदि प्रवृत्ति निवृत्ति है तो वह आनन्दरसमें मग्न न होगा। साधु तपस्या करता है ? करना पड़ता है। उसके बिना उद्धार नहीं है। पर कोई प्रकारका यह व्रत और तप आत्माका स्वभाव नहीं है। कह रहा है वह विरक्त पुरुष कि हे अचौर्य महाव्रतनामक चारित्राचार मैं ! जानता हूं कि तुम इस शुद्धात्माके कुछ नहीं हो फिर भी मैं तुम्हारा आदर

करता हूं, पालन करता हूं, जबतक कि मैं तुम्हारे प्रसादसे इस शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूँ।

ब्रह्मचर्यनामक चारित्राचारके प्रति संकल्प—चिंतन करता हुआ चला जा रहा है यह ज्ञानी संत। कुछ घर बारसे छुट्टी मिली, साधु बननेकी इच्छा से गुरुकी तलाशमें फिर रहा है। वह आत्महितके लिये चतुर्थ महाव्रत चारित्रके बावत चिन्तन कररहा है। हे ब्रह्मचर्य नामक चारित्राचार ! तुम्हारी महिमा अद्भुत है। आत्माका आत्मामें रम जाना सो ब्रह्मचर्य है। और पुरुष स्त्रीके सम्बन्धको त्याग करके रहना ब्रह्मचर्य है। स्त्री पुरुषका सम्बन्ध न रखके अपने एकाकी शुद्ध आत्मामें रहना सो ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्माके बलमें प्रगति प्रदान करता है। हे ब्रह्मचर्य महाव्रत तुम्हारा वातावरण बड़ा परमपवित्र है। ब्रह्मचर्यः परं तपः। ब्रह्मचर्य एक उत्कृष्ट तप है, और ब्रह्मचर्य ही सर्व कुछ वैभव है। वही क्षमा है, वही दया है, वही सिद्धि है। ऐसे हे परम पवित्र ब्रह्मचर्य नामक चरित्राचार ! यद्यपि मैं जानताहूं कि तुम इस शुद्धात्माके कुछ नहीं हो। यह आकाशवत् निर्लेप ज्ञानधन आत्मा की स्वभाववृत्ति नहीं है फिर भी मैं तुम्हारा पालन करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त न करलूँ।

परिग्रहत्याग महाव्रत चारित्राचारके प्रति संकल्प—परिग्रहत्यागमहाव्रत नामक चारित्राचारसे ज्ञानी पुरुष कुछ कह रहा है। यह परिग्रह त्याग नामक चारित्र इस आत्माका सर्वोत्तम शृंगार है। यहां तक देखिये कि जब कभी भी बड़ी वेदना हो जाती है, कष्ट हो जाता है तो एक सहारा देने वाला आकिंचन्यभाव है। हजारों लाखोंका नुकसान हो जाय कदाचित्, तो यथार्थ शांति तब मिलती है जब यह भाव बनता है कि जो नुकसान हुआ वह मेरा कुछ नहीं था मैं कुछ नहीं लाया था, कुछ न ले जाऊंगा। मैं अकेला ही विज्ञानघन आनन्दस्वरूप भावात्मक पदार्थ हूं। मेरा तो अन्यत्र कुछभी नहीं है। मेरा क्या गया जब इस किसी प्रकार आकिञ्चन्यभाव उत्पन्न होता है तब उस टोटे वालेको शान्ति मिलती है। आकिञ्चन्यभाव न हो और उस द्रव्यपर टोटेपर दृष्टि रहे तो दिमाग फेल हो सकता है, हार्ट भी फेल हो सकता है, सदाके लिए विदाई भी हो सकती है। कितना परम शरण है यह आकिञ्चन्यभाव।

आकिञ्चन्य भावका सम्पदामें भी सहारा—यह आकिञ्चन्य भाव केवल विपदामें ही मदद नहीं करता किन्तु सम्पदामें भी यह आकिञ्चन्य भाव

बड़ा शरण है। नहीं तो सम्पदा पाकर खूब मुनाफा होरहा है, खूब द्रव्य आ रहा है उसमें बड़ी आशक्ति हो रही हैं मौज मान रहे है, बड़ा श्रम कर रहे हैं, यहाँ वहाँ दौड़ धूप लगाये हैं, कहीं किन्हींके ऊपर नाराज होते, कहीं कुछ परेशानी उठाते, कितना बड़ा श्रम किया जारहा है, वह भी श्रम अन्तर की प्रेरणासे किया जा रहा है। यदि उस सम्पदाके संयोगके समय भी आकिञ्चन्यभाव हो, यह सब जो मिला है मेरा कुछ नहीं है, ऐसा आकिञ्चन्यभाव हो तो तुरन्त ही अनुभव करलो कि कितनी ही बेचैनी समाप्त हो जाती है। जो पुरुष सम्पदाके संयोगमें हर्ष मानते हैं, राग और मौज मानते हैं वे पुरुष सम्पदाके वियोगके समय इतना व्याकुल होंगे कि उस मौजमें एकदम पानी फिर जायगा। वियोगके समय वह पुरुष सावधान रह सकता है जो संयोगके समय सम्पदामें लिप्त नहीं होता है।

गृहस्थकी मुख्य दो तपस्यायें—गृहस्थकी तपस्या हम दो बातोंमें अधिक समझते हैं। एक तो यह कि जो पुण्यके उदयसे प्राप्त हो उसमें ही ६ विभाग बना ले। एक विभाग तो धर्म दानके लिए हो, परोपकारके लिए हो दूसरा विभाग अपने खुदके धर्मके उपयोगके लिए हो; यात्रा करने, संतसंगमें जानेके लिए आदि स्वधर्मोपयोगके लिये हो। और जो शेष चार भाग हैं उनमें से २ भाग तो कुटुम्बके पोपणके लिए हों, और एक भाग तो आगेकी व्यवस्थाके लिए जोड़े और एक भाग कभी संतानादिका विवाह किया जाय या कोई आपत्ति किसी प्रकारकी आये तो उसके लिए एक भाग रखना चाहिए। इस प्रकारसे आय के ६ प्रकारके भाग करके उसमें जो खर्चको बजट मिल सकेगा, उसमें ही अपना गुजारा करना चाहिए। चाहे कभी सूखे चने चबाकर पानी पीना पड़े, ऐसेमें भी समझो कि मेरा कुछ नहीं बिगड़ा। ये सब मुझसे अलग चीजें हैं। मेरा जीवन तो धर्मसाधनके लिए है। ज्ञान दर्शनके उपयोगमें साधनाके लिए है, प्रभुभक्तिके लिए है। एक तो तप गृहस्थीका है यह। दूसरा तप यह है कि जो समागम मिला है, जो वैभव मिला है उसको निरंतर यह जानते रहें कि ये तो मिट जानेवाली चीजें है। ये तो सब मुझसे अलग होजाने वाली चीजें है। मैं किस परमें लगूं? ये सब विनाशीक हैं, इस संयोगमें क्या हर्ष मानूं, जो भिन्न चीजें हैं, मिट जाने वाली चीजें हैं, जिससे मेरी आत्माका रंच भी सम्बन्ध नहीं है, उस संयोगमें हर्ष न मानूं, मौज न मानूं। यह गृहस्थीका तप है। यदि कोई गृहस्थ इन दो तपोंकी साधना करता रहे तो उसे सन्मार्ग मिलेगा। यह

सब स्वयंके ज्ञानके बलपर हुआ करता है।

परिग्रहके संगका क्लेश :—परिग्रहके सम्वंधसे ये क्लेस मिल रहे हैं। एक चुटकुला है कि एक वार गुड़ भगवानके पास गया। बोला महाराज हम वड़े दुःखी हैं। दुःख क्या है वेटा ? : महाराज ! जवमैं खेतमें खड़ा था तो लोग मुझे तोड़ा करते थे। दांतोंसे फाड़कर मुझे खा डालते थे। खेतमें क्या खड़ा होता है—गन्ना, गिनना। मीठा लगता है ना, इससे खाते ही चले जाते लोग गिननेकी क्या जरूरत ? फिर जब वहुत वड़ा हुआ पक्का होगया तो काट लिया मुझे, कोल्हूमें पेलकर रस निकाल लिया। वादमें मुझे राव वनाया कढ़ाईमें पकाकर। राव खाया। फिर मुझे गुड़ वनाकर खाया। और जवमैं सड़ भी गया तो लोग मुझे कूट-कूट कर तम्बाकूमें मिलाकर खाते रहे। तो हे भगवान मेरा उद्धार करो। तो भगवान वोले कि तू इसी समय यहांसे हट जा तो तेरा कल्याण है, क्योंकि तेरी वातें सुनकर मेरे मुखमें पानी आगया। तू जल्दी यहांसे चला जा। भैया भगवानकी वात नहीं कह रहे, चुटकुला है। इसी तरहसे तो यहाँ परिग्रहियोंकी हालत है।

परिग्रहमें अशान्तिही अशान्ति :—हम यदि इन परिग्रहोंमें ही फसे रहे तो शांति कहाँ मिलेगी ? शांति है ही नहीं। वड़ा परिश्रम करके खूब धन कमाया जोड़ा, हम लड़कोंको वड़ा वनाएंगे, हम अपना पोजीसन हाई वनावेंगे। अरे पोजीसन वनाओगे तो क्या कभी बूढ़े भी नहीं होगे ? बूढ़े होगे तो शारीरिक क्लेश होंगे, कोई मानलो सांस चलने लगी अव उसमें परिग्रह क्या कर लेगा ? वतलाओ। तुम मरणासन्न वैठे हुएहो तो यह वतलावो कि वह परिग्रह क्या कर लेगा ? वह परिग्रह कुछ भी तो मदद नहीं कर सकता है।

नरजीवनकी आवश्यकतायें :—भैया नरजीवनकी आवश्यकताकी वात सोचो तो मोटीसी बात इतनी है कि कर्म और शरीरके सम्वंधसे एक क्षुधाकी वेदना आगयी तो रोटी चाहिए और लोग सब बुरे विचारके हैं। इसीलिए तन ढाकनेको कपड़े चाहिए। नहीं तो कपड़ेकी भी क्या जरूरत ? इतनी ही तो बात है ना ? इससे आगे तो और करना भाव वनाना, तृष्णा ये तो सव ऊधम है। इन ऊधमोंसे शांति नहीं प्राप्त हो सकती। पुण्यके उदयसे चाहे लक्ष्मी छप्पड़ फाड़कर अनाप सनाप मिल जाये, उसकी मना नहीं करते हैं, पर उसमें मेरी रति नहीं हो। हे धन वैभव ! तुम आते हो तो आवो, तुम दूसरोंके उपकारके लिए हो। मेरी आत्माको कुछ नहीं

चाहिए। यदि मुझे कुछ चाहने का मतलब बना तो फिर यह मेरा जीवन वेकार हो जायगा।

वाह री दौलत—इस धनको दौलत कहते हैं। इसके दो लातें होती है। जब धन आता है तो छाती में लात मारता है। जिससे अकड़ हो जाती है और जब धन जाता है तो कमरमें लात मारकर जाता है। फिर वह झुक जाता है। इसमें कहीं चैन नहीं है। इसलिए भैया धन वैभवमें लिप्त न रहो। देखो उन चक्रवर्तियोंने भी तो धनको उपेक्षित कर दिया। तीन लोकके समस्त वैभवको उन चक्रवर्तियों ने तिनकेके समान समझा। ज्ञानी संत यह विचार करते हैं कि इस वैभवसे मेरा पूरा पता तो नहीं पड़ेगा। मेरा पूरा तो मेरे रत्नत्रयके साधनसे ही पड़ेगा। वह विरक्त रहता है। जलमें कमलकी तरह निर्लेप रहो, घरमें रहने वाले जो दो चार प्राणी हैं उनके भी भाग्य की श्रद्धा करो उनका भी भाग्य है, सो उनके कारण यह कमाई हो रही है। मैं कमाने वाला नहीं हूं।

कर्तव्य व यथार्थ प्रत्यय का समन्वय—यह ज्ञानी संत विरक्त अपने कल्याणके अर्थ साधुकी खोज में, गुरुकी खोज में जाता हुआ चिंतन कर रहा है कि हे परिग्रह नामक चारित्राचार ! तुम्हारा वातावरण बहुत पवित्र है, कल्याणकारी है, फिरभी मैं यह जान रहा हूं परिग्रह का त्यागकर उससे हटजाना, जो निवृत्ति और प्रवृत्तिकी चेष्टा है वह मेरा स्वभाव नहीं है। तुम मेरे कुछ नहीं हो फिर भी मैं तुम्हारा आदर करता हूं। हे परिग्रह चारित्राचार ! मैं तुमको पालता हूं, कबतक ? जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्धात्मा प्राप्त न करलूं। जैसे वैराग्य में आकर आपने अपने घरसे चलदिया, मैं नहीं सुनता, अपनी धुनकी बातें करते हो। क्या ऐसा उफान सम्यग्दृष्टि पुरुष भी करते हैं ? नहीं, क्योंकि ये व्यवहारिक धर्म, व्रत, तप आदि मेरे आत्माके स्वभाव नहीं है सो मैं आत्माके स्वभाव को पानेके लिए इन व्रत और त्यागों को करता हूं।

गुप्तियोंके सम्बन्धमें चिन्तन—पंच महाव्रतोंकी याद करके वह तीन गुप्तियोंके समीप जा रहा है। गुप्तियाँ तीन होती हैं (१) मनोगुप्ति (२) वचन गुप्ति और (३) कायगुप्ति। मन को रोकना, मनको कहीं न जाने देना, मन को अपने आत्मस्वभावकी ओर लगाना इसमें ही मनका विश्राम कराना तो यह सब मनोगुप्ति है। देखिये भैया, शरीरके क्लेश जीवमें ज्यादा है या मनवाले जीवोंको मनका क्लेश ज्यादा है, मनका क्लेश ज्यादा है सोचलो।

शरीरका क्लेश उतना ज्यादा नहीं है। ये सब भी इस मनके ही रंगी बैठे हैं। सो सब समझ गए होगे कि हां सच है। मनका क्लेश ज्यादा है। कोई बात कही, किसीने न मानी तो मन कितना दुःखी होजाता है। शरीरके क्लेशकी बात विचारो, किसीके कुछ न माननेसे इस शरीरका क्या बिगड़ा ? तुमपर कौनसी आफत आ गयी ? नही मानते तो न मानो।

मानसिक व्यथा—अभी यही समाजमें सब देख लो कि धर्मके नामपर, मंदिरकी व्यवस्थाके सम्बन्धमें, धार्मिक संस्थाओंके सम्बन्धमें खटपटी चलती रहती है। क्यो चल रही है ? मन नहीं मिलता है इतना ही तो है, और क्या बात है। जितनेभी धार्मिक कार्य हैं उनमें भी विवाद चलता है। और, वह विवाद किस बातका है कि मेरी बात नही मानी गयी। अरे बात क्या है ? बात तो यही है कि मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूं। भलेकी बात तो केवल इतनीही है कि मेरी ज्ञाता दृष्टा रहनेकी ही स्थिति रहे। ऐसा जानना ही हमारा काम है। सो समझो और मनके संकटोंको दूर करो।

मनके संकटोंकी उपज—अच्छा, देखो भैया, मनके संकट किसने बढ़ाये ? पहिले तो बड़े चतुर बनते थे। समाजके आगे मेरी इज्जत हो यह चाहते थे। अब जरा-जरासी बातें देखकर दुःखी होने लगे। तुम्हें यह दुःख न लेना था तो उल्लू ही बने रहते। उल्लू ही बने रहते तो सुखी रहते। पहिले तो बड़ी चतुराई वगराई अपने नामकी चाह की, धन जोड़ा, अब दुःखी हो रहे है। कोई तुम्हें न जानता तो तुम सुखी ही थे। यह तुम्हारा मन चंचल है। इस मनकी चंचलताके कारण दुःखी हो रहे हो। इस सबसे साधु पुरुष विरक्त रहता है। स्वच्छंद मनवालोंको ही बातसे लगाव रहता है।

मुग्धकी मूढ़ता—भैया, एक कथानक है कि दो युवक चले जा रहे थे। एक बुढ़िया मिली। दोनोंने कहा राम राम। बुढ़ियाने कहा—खुश रहो। आगे चलकर दोनोंमें झगड़ा हुआ। एकने कहा बुढ़ियाने मुझे आशीर्वाद दिया था, दूसरेने कहा—नही, बुढ़ियाने मुझे आशीर्वाद दिया था। लड़ते लड़ते दोनों लौटकर बुढ़ियाके पास गये। बुढ़ियासे पूछा कि बूढ़ी बऊ, हम दोनोंमें से किसे तुमने आशीर्वाद दिया था। बुढ़िया बोली दोनोंमें से जो ज्यादा बेवकूफ हो उसे। तो एकने कहा कि मैं ज्यादा बेवकूफ हूं। सुनो। हमारी दो शादियां हुई। दो स्त्री हमारे हैं। जब मैं अटारीसे नीचे आ रहा था जीना परसे तो एक स्त्रीने मेरा हाथ पकड़ लिया और नीचेवाली स्त्रीने पैर पकड़ लिया। एकने ऊपरको खींचा और एकने नीचेको खींचा।

गाथा २०१, दि० १३-५-६३]

सो जब एकने नीचेको खींच लिया तो मेरा पैर टूट गया। तो देखो मैं हूं ना बेवकूफ। दूसरेने कहा कि मेरे भी दो विवाह हुए। सो जब मैं पलंग पर लेटा हुआ था तो एक स्त्री मेरे एक हाथपर सिर धरके लेट गई और दूसरी स्त्री दूसरे हाथपर सिर धरकर लेट गई। इततेमें सरसोंके तैल से जलने वालेदीपकसे से जलती हुई वाती लेकर चुहिया दौड़ने लगी। वह बत्ती मेरे आंख पर आ गयी। सोचा कि हाथ उठाकर किस स्त्रीको कष्ट दू। यदि मैं यह हाथ उठाऊं तो इसको कष्ट होगा, यह हाथ उठाऊं तो इसको कष्ट होगा। मैं योगी-ज्ञानी संतकी तरह पड़ा हुआ हूं, मैं किसे कष्ट दू। मैं आंख से जलती हुई बत्ती न हटा सका तो यह मेरी आंख फूट गयी। तो मैं बेवकूफ हूं ना. बूढ़ी बऊ। बऊने कहा—दोनोंको आर्शीवाद दिया।

मनका वशीकरण—सो भैया यह मन चंचल है। उसको रोक सकने वाला संत पुरुष ही हो सकता है। ऐसे मनको वसमें करना ही मनोगुप्ति है। है मनोगुप्ति नामक चारित्राचार। मैं जानता हूं कि तुम्हारा वातावरण अच्छा है। फिर भी तुम मेरी शुद्धात्माके कुछ नहीं हो, सो मैं तुम्हें तब तक पालन करता हूं जब तक मैं तुम्हारे प्रसादसे अपने आत्माको प्राप्त कर लू। जिनदीक्षा लेनेके भावसे चला जारहा है यह विरक्त गृहस्थ संत और आचारपालनके सम्वन्धमें चिंतनकर रहा है।

ज्ञानी संतका वचनगुप्तिका संकल्प—अब यह वचनगुप्तिका संकल्प करते जारहा है। वचनगुप्तिका अर्थ है अपने वचनोंको वशमें रखना। वचनगुप्तिका उत्कृष्ट रूप है कि किसीभी प्रकारका वचन न बोलना और अन्तर्जल्पको भी रोकना। वचनगुप्तिका मध्यमरूप है वचनोंका न बोलना और अंतर में वस्तु स्वरूप सम्बंधी शुद्ध अंतर्जल्प होना। वचनगुप्तिका तृतीयरूप है कि हितकर वचनोंका अन्तर जल्प होना। वचनोंको वशमें करनेसे वचनगुप्ति नामक चारित्राचारका पालन होता है।

मनुष्यकी परखका वाह्य साधन—मनुष्यका धन वचन है। किसी भी मनुष्यको पहिचानो कि यह गुणी है, या मूर्ख है या भला है, या बुरा है, सब कुछ पहिचान बचनोंसे होती है और व्यवहारसे ये वचन ही सुखके कारण बनजाते हैं और ये वचन ही क्लेशके कारण बनजाते हैं। किसीको बुरा बोलदिया, कटु वचन कहदिया तो बड़ी विडम्बना खड़ी होजाती है। और प्रेमके हितकारी परिमित वचन बोले जाते हैं तो लोगोंको भी सुख रहता है और वचन बोलनेवालेको भी सुख रहता है। फिर भी किसी भी

प्रकारके वचन बोलनेका प्रयत्न किया जाता है तो वहां मूलमें कोई संक्लेश विचार बाधा उत्पन्न होती ही है। वचनोंका बिल्कुल त्याग करना और आप विश्रामसे अपने आपके ज्ञानप्रकाशमें विश्राम पाना उत्तम कर्त्तव्य है। यह विरक्त संत वचनगुप्तिका संकल्प बनाए हुए है कि मैंने आत्मकल्याणके लिए घर छोड़ा, परिवार छोड़ा, सर्व परिग्रहका सन्यास किया। अब मैं अमुक-अमुक आचारोंका पालन करके और वचनोंका भी परित्याग करके शुद्ध ज्ञान ब्रह्ममें लवलीन रहूंगा। ऐसे वचनगुप्तिके सम्बंधमें संकल्प किया जारहा है। साथ ही आत्मसावधानी भी चलरही है। हे वचनगुप्ति नामक चरित्राचार! वचनोंको वशमें करना हितकर वचन बोलना सब प्रवृति निवृत्ति रूप आचार मेरा स्वरूप नहीं है। तुम मेरे कुछ नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं, फिर भी तुम्हारे प्रसादसे जबतक शुद्ध आत्माको प्राप्त न कर लूं तबतक मैं तुम्हारा आदर करता हूं, ग्रहण करता हूं, पालन करता हूं।

कायगुप्तिका संकल्प—तीसरी गुप्तिका नाम है कायगुप्ति। शरीरको वश में रखना, प्रथम तो दृढ़ आसन माड़कर शरीरको अत्यन्त निश्चल बनाना कायगुप्ति है। भगवानकी मूर्ति इन सब गुप्तियोंकी मुद्रा ही तो है। यह मूर्ति मुद्रा दर्शनमात्रसे आपको यह बतादेती है कि कहाँ दौड़ते भागते हो? कहीं तत्त्व नही है। तत्त्व अपने आपमे है सो आसन लेकर पैरके ऊपर पैर फसाकर निश्चल होकर ठहर जावो। क्या काम करते हो? क्या करने योग्य है? इस जगतमें सभी दृश्य असार हैं। सर्व कार्योंको छोड़कर हाथपर हाथ रखकर निश्चल ठहर जावो। कहां सुख चाहते हो? किससे बोलना चाहते हो? कहां तुम्हें शान्ति है? तेरी शांति तेरा हित तेरे ही स्वरूपमें है। अतः बाहरकी दृष्टि छोड़कर वचन व्यवहारका भ्रम छोड़कर निश्चल होकर बैठो। यद्यपि लौकिक जन ऐसे आत्महितमें प्रवृत्त प्राणियोंको कायर कहदेंगे, कुछ करते नहीं बना सो निश्चल होकर बैठगये। किन्तु भैया, सोचो तो करता कौन क्या है? सब कुछ करनेका विकल्प करलिया। विकल्प करनेका क्या फल होता है सो यही परिणाम अंतमें इन्हें मिलेगा। सब असार बातें हैं इसलिए यह ज्ञानी संत बाहरमें कुछ नहीं चाहता। कायगुप्तिसे कायको वशमें करो। शरीरकी चेष्टा न करो। शरीरकी चेष्टा करना भी पड़े तो बड़ी सावधानीसे दूसरोंका आदर करते हुए चेष्टा करो। दूसरोंका अहित न हो तो उसमें खुदका भी अहित नहीं होता इसलिए कोई सुगम उपकारी चेष्टा हो व निश्चेष्ट रहनेका यत्न हो। हे कायकी प्रवृत्ति और निवृत्ति

रूप चरित्राचार ! इस शुद्ध आत्माके तुम कुछ नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी मैं तुम्हारा पालन करता हूं तबतक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं ।

ईर्यासमिति सम्बन्धी संकल्प—अब आगे समिति सम्बंधी चिंतन चलरहा है। समितिका अर्थ है अत्यन्त सावधानीपूर्वक प्रवृत्ति। उनमें प्रथम समिति है ईर्या समिति। यदि आप चार हाथ जमीन आगे देखकर शुद्ध परिणामोंसे उत्तमकार्यके प्रयोजनसे दिनके प्रकाशमें गमन करें तो ईर्यासमिति होता है। ईर्यासमिति केवल चलनेका नाम नहीं है। कोई पुरुष किसी जीवको सतानेके लिए अथवा कोई अन्य पाप करनेके लिए जावे और बड़ी सावधानीसे चार हाथ जमीन आगे देखकर जिसमें जीवोंकी हिंसा न हो ऐसे ढंगसे जावे तो क्या उसे ईर्यासमिति आप कहोगे? आप कहेंगे देख भालकर तो जारहा है, चार हाथ जमीन आगे देखकर जारहा है, साधूभेषमें जारहा है। सो भैया, वाह्यचेष्टाको क्या देखें, अन्तरमें परिणाम तो गंदे होगये हैं, वह तो किसी पापके करनेके लिए जारहा है वह ईर्यासमिति नहीं है। अच्छे कामके लिए भी वह जावे, यात्रा करने जावे या कहीं उपदेश देने जावे और चार हाथ जमीन आगे देखकर जावे किन्तु क्रोध सहित जावे, बुरा भला बकता हुआ जावे तो क्या उसे ईर्यासमिति कहेंगे? ईर्यासमितिमें चार बातें हुआ करती है। एकतो दिनमें चलना, सूर्यके प्रकाशके बिना निर्जन्तु प्रासुक भूमि नहीं रहती, तो दिनके उजेलेमें ही चलना। दूसरी बात है चार हाथ जमीन आगे देखकर चलना। तीसरी बात क्या है अच्छे कामके लिए चलना और चौथी बात चलते हुए में शांतिके समताके परिणाम रहना। ये चार बातें होती हैं तो ईर्यासमिति कहलाती है।

स्वभाव और सद्वृत्तिका आदर—ईर्यासमितिमें सावधानीसहित वृत्ति है, बहुत पवित्र, हितकर परिणाम है, सो हे ईर्यासमितिरूप चारित्राचार! तुम्हारे हुक्म माफिक मैं प्रवृत्ति करूंगा, चेष्टा करूंगा मगर यह मेरे शुद्ध आत्माका स्वरूप नहीं है। मैं तो एक ज्ञानमय आत्मतत्त्व हूं इसका कार्य तो जाननमात्र है। ज्ञाता द्रष्टा रहना ही मेरा कार्य है परदया करना, हिंसा टालना देखकर चलना ये सारे प्रवृत्ति और निवृत्ति मन्दकपायके काम है। तुम इस मुझ शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी हे चारित्राचार तुमको मैं पालन करता हूं जबतक तुम्हारे प्रसादसे मैं मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त न करलूं ।

ज्ञानी संतके भाषासमितिका संकल्प—दूसरी समितिका नाम है भाषासमिति। हित, मित, प्रिय वचन बोलनेको भाषासमिति कहते हैं। ऐसे वचन बोलना जो दूसरोंके हितके साधक हों, तिसपर भी परिमित हों, ज्यादा न बोलना और प्रिय हों। वे वचन इतने मधुर हों कि सुननेवाला सुनना चाहे। हितके लिए भी आप कड़ुवे वचन बोलें तो वहभी ऊधम है। कटुक वचन बोलो तो वचन सुननेको जी नहीं चाहता है। उन वचनोंसे क्या हितकी आशा की जासकती है। मधुर वचन बोलो और भैया, तुम्हें गरज क्या पड़ी है। तीन लोकके सभी जीव भी यदि धर्ममें लगजायें और मै ज्योंका त्यों भ्रष्ट रहूं तो क्या सब लोगोंकी धर्मकी लगनसे मेरा हित हो जायगा ? नहीं। तो दूसरोसे हितकारक वचन बोलो। ऐसी मेरी कोई अटक नहीं है कि में कटुक वचन बोलकर दूसरोंके कुछ हित अहितकी बात करूं। भले ही चूंकि धर्म मार्ग कठिन है ना ? तो वे शब्द उसे कड़ुवे लगें पर अपनी समझमें कटुक वचन न बोलो। हित, मित, प्रिय वचन बोलना सो भाषासमिति है। भाषासमितिमें सावधानी रखना चाहिये—कैसी प्रवृत्ति करना हैं, कैसी निवृत्ति रखना है, ये सब चेष्टायें हैं। हे भाषासमिति रूप चारित्राचार ! तुम मुझ शुद्ध आत्माके स्वरूप नहीं हो, मैं निश्चयसे यह जानता हूं, मेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्दका अनुभवन मात्र है। कहीं कुछ प्रवृत्ति करना, मन, वचन- कायको चलाना यह मेरा स्वरूप नहीं है। यह उपाधिकृत दोष है। मैं जानता हूं फिर भी हे भाषासमिति नामक चारित्राचारमें तुमको प्राप्त होता हूं जबतक मैं शुद्ध आत्माको न पालूं।

वचनोंका परिणाम—वचनोंमें ऐसी सामर्थ्य है कि कहीं विप्लव मचादे, कहीं शांतिका वातावरण करदे,। उदाहरणमें देखो—एक खानेका शब्द है। किसीसे कहो- आइये, जीमिए, भोजन कीजिए, भोजन करलो खालो, ठूसलो, कितने शब्द हैं ? और उन सब शब्दोंका अलग-अलग प्रभाव हैं। अरे मधुर वचन बोलोगे तो खुदको भी चैन मिलेगी। दूसरे लोग भी चैन पावेंगे। वचनको सम्हाला यह एक बड़ा तप है कि किसी समय क्रोधका वातावरण बन गया हो तो भी अपने दिलको तो चाहे दुःखी करलो मगर ऐसे वचन मत बोलो कि जिससे दूसरे दुःखी होजायें। यदि कर्मयोगमें आजीविका व्यापार आदिके प्रसंगमें नीतिपूर्वक सही बात बन पड़ती हो, और जिसके बिना नीतिमार्गमें गुजारा न हो। उस बातको सुनकर दूसरे लोग क्लेश मानें तो उसमें मेरा अपराध नहीं है। किन्तु कषायभावसे दूसरोंका

अहित करनेकी बुद्धिसे यदि कटुक वचन बोले जाते हैं तो वे खुदके अहितके लिए भी हैं व दूसरोंके अहितके लिए भी हैं। अपने मनको तो दु खी बनालो किन्तु दूसरोंके दुःख का कारण मत बनो। अपना मन अपने पास है। दूसरे क्षण ज्ञानबलसे समझाकर दुःख दूर किया जा सकता है किन्तु दूसरों को कष्ट पहुँचानेपर दूसरोंको समझा लेना अपने अधिकारकी बात न रहेगी और फिर दूसरोंको कहनेका ख्याल करके जो अपने आपमें संतापकी वेदना उत्पन्न होगी उस दुःखको दूर करनेका साधन कठिन हो जायगा। तीसरी बात यह है कि किसीके साथ अनुचित व्यवहार किया तो वे भी आपपर आपत्ति ढाने का यत्न करेंगे।

हितके लिये वचनसंयमकी अत्यावश्यकता—सो भैया ! अपनेको शांत रखनेके लिए प्रथम कर्त्तव्य यह है कि वचन बोलनेपर संयम रखना। अपने वचनोंपर संयम वही पुरुष रख सकता है जो कम बोलता हो। ज्यादा बोलने की आदत अच्छी नही कहलाती है। सोचलो, समझलो, जितना बोलना है उससे पौना बोलो। कम बोलो, कम बोलनेसे बुद्धि ठीक काम देती है। विवेकपूर्ण रहना, कुछ कम बोलना, मधुर वचन बोलना, हितकर वचन बोलना ये सब भाषासमितिके अंग है। सो हे भाषासमितिरूप चारित्राचार तुम्हारा वातावरण यद्यपि शांतिप्रद हैं, सुखकारी है, हितमार्गमें ले जाने वाला है फिरभी तुम इस मुझ शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो। कैसा अन्तर्ज्ञान है ज्ञानी संतका कि जिसके लिए लोक बड़ा धर्मका स्वरूप समझता है। वह भी ज्ञानीकी दृष्टिमें धर्म नहीं है, स्वरूप नहीं है वह उन सबसे पृथक् अविनाशी चैतन्य स्वभावकी दृष्टि करता है।

ज्ञानी संतका ऐषणासमितिका संकल्प—अब आगे एषणासमितिरूप चारित्राचारका यह ज्ञानी संकल्प करता है। एषणासमितिका अर्थ है खोजनेकी सावधानी। आहार खोजना, विधिपूर्वक शुद्ध निर्दोष आहार करना एषणा समिति है। यह ज्ञानी संत घरबार छोड़कर, परिग्रहको छोड़कर आत्म-साधनाके लिए जा रहा है। इसलिए वे सब कल्पनाएँ हो रही है कि मैं साधू व्रत यों पालूँगा। एषणसमितिमें शुद्ध निर्दोष दिनमे एक बार आहार लेना होता है।

आहारका प्रयोजन धर्मके अर्थ मात्र जीवनका टिकाव—मनुष्यशरीर एक बार के आहारपर आधारित है। यों बार बार खानेको तो १० बार खावें। कितने ही बार खावे। वह खाना जीवनके लिए नही है। वह तो रसना,

स्वादके लिए है। फिर इच्छा हुई फिर खाया। खानेका प्रयोजन तो इतना ही है कि यह शरीर टिका रहे। शरीरका टिका रहना एक बार के भोजन पर आधारित है और एक बार ही साधुका भोजन कहा गया है। दूसरी बार साधुके लिए भोजन नहीं कहा गया है। और, वह भी दिनके प्रकाशमें। सामायिक के समय टाल कर भोजन करना कहा गया है। तीसरी बात है भोजन इकट्ठा करके अपने पास रखकर स्वयं भोजन करेगा तो उसमें कितना ही प्रमाद बसा हुआ रहेगा। कोई नहीं देखता है खुदके पास भोजन है, आशक्तिसे करलो, जितना चाहो करलो, जीवजंतु बाल वगैरह आ गए उपेक्षा करलिया, खालिया, कितनी प्रकारकी शिथिलताएँ हो सकती हैं। अपने ही पास बच गया, रखतो दो, खुद मैं फिर खा लूँगा। तो खानेकी वासना दिनभर रह सकती है। तो साधु का भोजन गृहस्थके घरपर ही स्थित होकर बताया गया है। देनेवाले दो चारजने खड़े हैं, देते हैं, उसे मर्यादामें यह विधिपूर्वक निर्दोष रीतिसे तो खायगा अंतराय हो जायगा तो उसे छुपा नहीं सकता, भोजन छोड़ना ही पड़ेगा। यद्वा तद्वा बुद्धिसे नहीं खा सकता है। जो कुछ दें वही खा सकता है। इच्छा करनेका काम वहाँ नहीं रहता है। मांगने की भी बात वहाँ नहीं रहती है। जिस जगहसे साधु चला है आहारके लिए तो वह मौन व्रत लिये रहता है। वहाँ तो संकेत का भी नाम नहीं हैं।

आहार शुद्धि व दातृयोग्यताका निरीक्षण—घरपर निकले गृहस्थोंको देखकर विधिपूर्वक चलता गया। अगर गृहस्थकी भक्तिमें कमी देखो तो वहांसे चला गया। आप प्रश्न करसकते हैं कि यह तो अभिमान कहलाया कि भक्तिमें कमी देखकर घर छोड़कर आगे चलदिया। अभिमानकी बात नहीं है। वह गृहस्थकी भक्तिको देखकर दो बातोंका अनुमान करता है। एक तो यह कि इसके चित्तमें खूब उमंग है या जबरदस्ती या अन्य किसी विवशतासे तो भोजन नहीं देरहा है। भक्ति देखकर प्रसन्नताका अनुमान करता है। दूसरे इस बातका अनुमान करता है कि इसका भोजन निर्दोष है, क्योंकि यह इसकी विधि जानता है। साधुको इन बातोंका अनुमान गृहस्थकी भक्तिको देखकर होता है। क्योंकि साधुको तो मौन है। पूछसकता नहीं है कि यह चीज शुद्ध है कि नहीं है।

पहिले समयमें घर-घर शुद्ध भोजन बनता था। यह श्रावकका काम था ऐसी स्थितिमें यह बात नहीं विदित होती थी कि देखो आज इनके नये

ढ़ंग का नए सिरे का इतना खटपट करके साधुके अतिथिदानके लिए श्रम किया है। साधुकी ऐषणा तो इसी विधिसे होती थी और श्रावकका काम था शुद्ध निर्दोष आहार बनाकर अतिथिदान करना। अब श्रावकोंने तो अपनी विधि छोड़ दी, कोई कहे कि श्रावकोने अपने कर्त्तव्यको छोड़ दिया तो साधु भी छोड़ दें। साधु तो अपने कर्त्तव्यसे हैं श्रावकोंने अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया है। इसलिये आजकल लोगोंने आहार देनेमें बिडम्बना वना लिया पर जैसे श्रावकोंने अपना कर्त्तव्य खो दिया है वैसे ही साधु भी खो दें तो शायद विडम्बना न मालूम होगी। अब क्या करे श्रावकोंने अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया तो क्या साधुवोंको भी अपना कर्त्तव्य छोड़ देना चाहिये ? नहीं। वे साधुतो अपनी वातपर दृढ़ हैं शुद्ध आहार लेते हैं। मियादका आटा हो, अधिक दिनका न पिसा हो। शुद्ध विधिसे बनाहुआ हो, जल छना हुआ हो, हिंसाका जिसमें काम ही न हो ऐसा निर्दोष आहार लेना साधुका पहला काम है नहीं तो इसमें अधःकर्मका दोष लगता है। इस प्रकार शुद्ध निर्दोष विधिसे आहारकी एषणा करना एषणासमिति है। यदि कोई गृहस्थ केवल साधुके लिये आहार बनाये तो वह उद्दिष्ट है उस आहारको साधु नहीं लेगा। साधु भी शुद्ध आहार कर लेंगे और हम लोगभी कर लेंगे इस भावसे बना हो तो वह उद्दिष्ट नहीं है। क्योंकि गृहस्थ अपने लिये तो बनाता ही है यदि आज उसने अपना सबका भोजन शुद्ध वना लिया तो वह तो दोष से भी बच गया। हां खुदके लिये तो रोज जैसा अशुद्ध भोजन तैयार करे और केवल साधुके लायक जरासा शुद्ध बना दिया तो उसे साधु नहीं ग्रहण करेंगे। यह सब समितिरूप प्रवृत्ति धर्मका अंग है फिरभी हे एषणा समिति ! ऐसी बृत्ति मुझ शुद्ध आत्माकी नहीं है फिरभी मैं तुम्हारा पालन करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त न कर लूं। यहां प्राप्त कर लूं, प्राप्त न कर लूं दोनों आशय एक है जब तक न पालूं या जब तक पालूं दोनों का मतलब एक है। इंगलिश में तो यह बोला जायगा कि तुम्हारा जब तक आदर करता हूं जबतक मैं शुद्ध आत्माको पा लूं और हिन्दीमें अधिक तर यह बोला जाता है कि तब तक तुम्हारा आदर करता हूं जब तक शुद्ध आत्माको न पा लूं।

ज्ञानी संतके आदान निक्षेपण समितिका चिन्तन—अब वह आदान निक्षेपण समितिके सम्बन्धमें चिंतन करता हुआ जा रहा है। आदान निक्षेपण समितिका भाव है कि पुस्तक कमंडलादिक शोधकर धरना उठाना

यद्यपि यह प्रवृत्ति मंद कषायकी है। ज्ञान गुणकी वृत्ति नहीं, किन्तु परिणाम इतना दृढ़ तो नहीं है कि जिस जगह वैठ गया उस जगह निश्चल वैठे-वैठे या खड़े-खड़े ही मुक्तिको प्राप्त कर लूं; कोई प्रवृत्ति न करूं। यद्यपि ऐसे भी संत पुरुष हुए है कि लम्बे समय तक एक ही जगह खड़े हुए अपनी मुक्ति अवस्थाको प्राप्त करते है, जैसे कि एक वाहुवली स्वामीका ही दृष्टांत है, जवसे उन्होंने दीक्षाली तबसे एक जगह खड़े रहे, पानी नहीं लिया और वहीं अरहंत अवस्थाको प्राप्त की और-और भी साधु हुए हैं जो थोड़े ही समयमें आयु छोड़कर केवली वन गए। फिरभी, ऐसा सवको नही होता है भूख लगेगी, स्वाध्याय करना होगा, चीजें धरना उठाना होगा तो किस तरह चीजें धरे उठायें ? उसकी सावधानी होना आदान निक्षेपण समिति है।

जीवदयाका उपकरण पिच्छिका—साधुके पास पीछी होती है जीवदयाके लिए। पहले समयमें साधुजन वनोंमें रहा करते थे। मोरके पंख तो कोमल होते हैं। इससे बढ़कर कोमल चीज और कुछ नही है। दस पाँच पंख इकट्ठे करलिया जिसमें कोई कष्ट न था, दुर्लभता न थी और उससे जीवदयाका काम किया। इस प्रकार यह पीछी जीवदयाका उपकरण है। पिच्छिकामें कई गुण है। यह इतनी कोमल है कि धोखेसे अगर पंख आंखमें लगजाय तो कोई वाधा नही होसकती। इसमें पसीनेका स्पर्श नहीं होता, धूल भी इससे नहीं चिपटती इत्यादि गुणके कारण ऐसी पिछी साधुजन रखते हैं। कमंडल उठाया तो उसे पिछीसे साफ कर लिया और फिर उठाये हुए कमंडलकी तलीपर सम्भवतः कोई जीव हो इस भावसे साफ कर दिया। कहीं कमण्डलको रखना हुआ तो पिछीसे झाड़कर रख दिया। धूपमें चले जारहे है। मार्गमें पेडोंकी छाया मिलती है छायामें घुसते समय धूपमें खड़े होकर पीछीसे पूरा अंग पीछीसे पोछते है ताकि धूपमें मौज माननेवाले जंतु धूपमें ही निकल जाएं। फिर छायामें प्रवेश करते। तथा छायासे जव निकलेंगे धूपमें आने लगें तो फिर पूरे अंगको पीछीसे छायामें खड़े होकर पोछ लिया। इस विधिसे आदान निक्षेपण होता चला जाता है।

शुद्धात्मतत्त्वावलोकन व सद्वृत्तिका संकल्प—यह समिति साधुमार्गकी प्रवृत्ति है फिर भी हे आदाननिक्षेपणसमितिनामक चारित्राचार ! तुम मेरे शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो फिर भी मैं तुमको तवतक ग्रहण करता हूं जवतक मैं तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त न करलूं। इस प्रसंगमें सीधी वात यह जाननेकी है कि मेरी आत्माका जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है वह तो मेरा

स्वरूप है, मेरा धर्म है। किन्तु इसके अतिरिक्त अन्य जो कुछ प्रवृत्ति है वह चाहे सावधानीसहित हो, फिर भी मेरा स्वरूप नहीं है। जो शुद्ध आत्मा में नहीं पाया जाता है वह मेरा स्वरूप नहीं है। यही निर्णय रखिए। इस कारण अप्रवृत्तिसे बिल्कुल पृथक शुद्ध आत्माको देखरहा है यह ज्ञानी संत और शुद्ध वृत्ति बिना काम नहीं चलता सो उसका संकल्प कररहा है।

यह प्रकरण चलरहा है कि कोई गृहस्थ सम्यग्ज्ञानके बलसे अपने आपको पहिचानकर अपने कल्याणके लिए घर छोड़कर जारहा है। तो जब माता पिता स्त्री पुत्र धन वैभव सब कुछ छोड़कर वह विरक्त संत चला जारहा है तो विचार करता है कि अब मुझे क्या करना है? तो बहुतसा वर्णन होचुका। यहां चारित्राचारका वर्णन चलरहा है। ५ महाव्रत, ३ गुप्ति और ५ समितिका पालन करना चाहिए। इन १३ में से १२ का वर्णन होचुका है। अब अन्तिम चारित्राचारका वर्णन करते हैं।

प्रतिष्ठापनासमिति नामक चारित्राचारका संकल्प—अब १३ वां चारित्राचारका वर्णन किया जारहा है। अंतिम समितिका नाम है प्रतिष्ठापना समिति। शरीर है तो मलमूत्र, पसीना, नाक आदि उपद्रव होते हैं तो उनका फेंकना आवश्यक है उनको निर्जन्तु स्थानमें देखभाल कर फेंकनेका नाम ही प्रतिष्ठापनासमिति है। भैया, धर्मकी योग्यता बनाये रखनेके लिए अन्य प्रवृत्ति करना तो होता है पर क्या यह आत्माका स्वरूप है? यह आत्माका स्वरूप नहीं है। पालना तो मुझे पड़ेगा, पर हे प्रतिष्ठापनासमिति चारित्राचार तुम इस मुझ शुद्ध आत्माके स्वरूप नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिरभी इस यत्नाचारको मैं पालूँगा, जब तक उस शुद्ध निर्विकल्प आत्माको न प्राप्त कर लूं। जिस व्रतको अंगीकार करने जारहा है उस व्रतको ही गृहस्थ ज्ञानी संत कहता जा रहा है कि तुम मेरे स्वरूप नहीं हो।

जीवके स्वरूपका चिन्तन—जीवका स्वरूप तो ज्ञान दर्शन है जो जीव के साथ सदा रहे वह जीवका स्वरूप है। मेरा कल्याणकारक मेरा शरण वह है जो मुझमें सदा काल रहता हो, यह शरीर सदा काल नहीं रहता तो शरीर मेरा स्वरूप नहीं है। रागादिविकार सदा काल नहीं रहते होते हैं और मिट जाते हैं। कोई निमित्त पाकर कर्मोदयवश कषाय उत्पन्न हुई और अशांति उत्पन्न हो गई किन्तु यह सब कषायादि परिणमन मेरा स्वरूप नहीं है किसीसे कहा जाय कि १ घंटे तक क्रोध करते रहो तो कर नहीं सकता। क्रोध आदि बनाया नहीं बनता है। क्रोध मान माया लोभ ये कोई कारण

पाकर ही तो हो जाते हैं। किन्तु वे सब कारण पाकरही तो हुए। यदि कारण मिटें तो वे भी शांतहो जाते हैं। तो ये रागादिविकार भी मेरे स्वरूप नहीं है। मेरा तो वह स्वरूप है जो मेरे साथ त्रिकाल रह सकेगा। और अन्य जो विचार चला करता है, चिन्तन चला करता है वह भी तो स्वरूप नहीं है। वे चिंतन और विचार भी नष्ट होजाने वाले हैं। ये साथ सदा नहीं रहते इसलिए यह चिंतन विचार, विकल्प समझदारी ये सब भी मेरे स्वरूप नहीं हैं। मेरा स्वरूप तो जैसा प्रभुका प्रकट स्वरूप है वैसाही है।

स्वभावविकासकी असीमता—जो जानन स्वरूप है, वह सारे विश्वको जानता है। ज्ञानका काम जानना है। जाननेमें कोई सीमा नहीं है कि मैं यहाँ तकही जानूँ इतने कोस तक ही जानूँ। ज्ञानमें जो सीमा बन गयी है कि हम दूरकी नहीं जान सकते हैं, पीठ पीछेकी नहीं जान सकते हैं। यह सीमा कर्मोंके उदयसे बनती है। इस आत्माके साथ कोई दूसरी सूक्ष्म चीज ऐसी लगी हुई है कि जिसके निमित्तसे हम अपने स्वभावको पूर्ण प्रकट नहीं कर सकते हैं। दूसरी चीज क्या लगी है इस बातको हम जानें अथवा न जानें उससे कोई लाभ हानि नहीं है पर दूसरी चीज जो कुछ भी हो वह मुझमें क्यों लग गयी है, उसका कारण जरूर जानना चाहिए। हम लोगोंने अपने स्वभावका ख्याल नहीं किया, दर्शन नहीं किया बाहरी पदार्थोंमें ही अपना उपयोग फसाये रहे। बाहरी पदार्थ तो बाहर ही है। उससे मेरा रंचभी सम्बंध नहीं है। चार जीव जो घरमें पैदा होगये उनको ही मान लिया कि ये मेरे हैं, और उनके बजाय और कोई दूसरे जीव पैदा हों तो उनको मान लेते कि ये मेरे हैं। ऐसा कुछ सम्बंध नहीं है जिसमें यह निश्चय कराया जासके कि देखो यह चीज हमारी है? तो ये छुटपुट विचार भी हमारे नहीं हैं। मैं तो ध्रुव टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वरूप हूं।

परमात्मत्वके स्वतःसिद्धत्वके विषयमें दृष्टान्त—जैसे एक पाषाण रख दिया बड़ा लम्बा, चौड़ा, मोटा और कहा कि इसमें महावीर स्वामीकी मूर्ति बनाना है। उस मूर्तिका आकार बता दिया, या कोई दूसरी प्रतिमा दिखा दिया तो वह कारीगर उसको देखकर कहता है, हाँ बन जायगी। तो उसे उस पत्थरमें मूर्ति दिख गई तब वह कहता है कि हाँ बन जायगी। उस कारीगरको मूर्ति बनानेके लिए कहींसे कुछ लाना पड़ेगा? उस पत्थर में ही उस कारीगरको मूर्ति दिख गई है। कारीगर मूर्ति नहीं बनायेगा। उसे मालूम है कि मूर्ति तो इसमें स्वयं ही मौजूद है, पहिलेसे ही स्थित है।

किन्तु मूर्तिको ढकनेवाले जो पत्थर हैं उनको हटाना है। तब कारीगर क्या करता है कि छेनी हथौड़ी लेकर पत्थरको अलग करता है और जैसे-जैसे पत्थर अलग होते जाते हैं उस मूर्तिके निकटके पत्थर रह जाते हैं छोटी छेनी हथौड़ी आदिसे बड़ी सावधानीसे उन पत्थरोंको भी दूर करता है। कारीगरने तो केवल ढकनेवाले पत्थरोंको हटानेका काम किया, मूर्ति बनानेका काम नहीं किया। मूर्ति तो उसमें स्वयं स्थित है। पर मूर्तिको ढकने वाले पत्थरोंको हटानेका काम कारीगर करता है।

परमात्मत्वकी स्वतःसिद्धता—इसी प्रकार ज्ञानी सत्पुरुष अपने आपको परमात्मा बनानेका काम नहीं करता। परमात्मस्वभाव तो स्वयं स्थित है पर उस परमात्मविकाशको रोकनेवाले जो कर्म हैं, रागद्वेष आदिक भाव हैं, उन भावोंको दूर करनेका यत्न करना है। रागद्वेष मोह विकल्प आदि हटाओ, समता स्वयं प्रकट हो जाती है। जो समता और ज्ञानका पुञ्ज है उसे ही परमात्मा कहते हैं। इस परमात्माको बनाना नहीं पड़ता किन्तु परमात्माके आवरक रागद्वेषादिक भावोंको दूर करना पड़ता है। जिसे आप अपना इष्ट समझते हैं, यह स्त्री है, यह पुत्र है, यह वैभव है, ये सब पदार्थ, भिन्न चैतन्य स्वरूप आत्माका सुधार करनेमें समर्थ नहीं हैं। प्रत्युत इनके कारण बिगाड़ ही होता है।

आत्माके पतन और उत्थानके साधन—भैया! यह प्राणी इस संसारमें मोहसे डूबा हुआ है। इसही मोहके कारण यह समस्त जगत अपने प्रभुस्वरूपको ठुकराकर दर दर कुयोनियोंमें भटकता फिरता है। क्लेशकी सब बातों से आंखें मीचलो, सबका स्मरण छोड़ दो। तुम एकाकी हो, अपनेको अकेला ही जानो। अपनेको सुखदुःखरहित अकेला ही अनुभव करो, तुम्हारा स्वरूप एक है, सबसे निराला है, अपने आपमें ज्ञान और आनन्दको भोगते हुए हो। ऐसा निर्मल स्वरूप निरखो तो बहुतसें संकट तत्काल दूर हो जाते हैं। ऐसा जिसको ज्ञान हो जाता है, उसे फिर गृहस्थीसे रुचि नहीं रहती है और गृहस्थीसे रुचि न रहे तो उसे विषय और कषाय नहीं सताया करते हैं, वह निज आनन्दमें मग्न रहा करता है। यह बड़ा सुयोग पाया है, मनुष्य जन्म पाया है, जैन सिद्धान्तका श्रवण पाया है। अच्छा समागम पाया है, तो अपना कर्त्तव्य है कि एक इसही भवमें तो जरा मोहसे गम खा लो, रागद्वेषोंसे गम खा लो ऐसी हिम्मत यदि बनाओ तो रागद्वेष नहीं रहेंगे। ये सब बाहरी पदार्थ हैं। सो इन सबसे उपेक्षा भाव करके विश्रामसे स्थित हो

जावो। अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करो तो उसमें ऐसी ताकत है कि कर्मोंका क्षय हो जाता है। यह ज्ञानी पुरुष चला जारहा है और विचार करता जारहा है।

सम्यग्ज्ञानकी तीन भूमिकायें—भैया, सम्यग्ज्ञानके लिए तीन बातोंका ज्ञान होना चाहिए। (१) द्रव्य (२) गुण और (३) पर्याय। द्रव्यमें जैसे अनन्तानन्त जीव हैं वे सब पृथक्-पृथक् एक-एक जीव हैं, ऐसे भिन्न-भिन्न देखा जाय तो अनन्ते जीव हैं और अनन्ते परमाणु हैं। जैसे एक यही पुस्तक है तो यह एक चीज नहीं है। यह पेज एक चीज नहीं है। इसमें अनन्ते परमाणु भरे हुए हैं अनन्त परमाणुवोंका समुदाय यह एक पेज है। और जो वे परमाणु हैं वे सब एक एक स्वतन्त्र-स्वतन्त्र द्रव्य हैं। जीव और पुद्गलकी बात तो झट समझमें आजाती है, इसके अतिरिक्त धर्म अधर्म आकाश एक एक हैं और असंख्याते काल द्रव्य हैं। यों सब अनन्ते द्रव्य हैं। उनमेंसे किसी भी द्रव्यको ले लो। एक ही जीवको लेलो। यह स्वयं जीव एक पदार्थ हैं, एक जीवमें अनन्ते गुण मौजूद हैं। गुण कहो या शक्ति कहो। इसमें जाननकी शक्ति है। सो वह तो ज्ञान गुण है। इसमें दर्शनकी शक्ति है ना? यह दर्शन गुण हुआ। इसमें रमनेकी शक्ति होना, यही चारित्र गुण हुआ। सुखी दुःखी शांत होनेकी शक्ति है ना, यही आनन्द गुण है। इस प्रकार इस मुझ आत्मामें अनन्त शक्तियां हैं, अनन्त गुण हैं। वे शक्तियां भी सदासे हैं और सदा काल तक रहेंगी। और मैं आत्मद्रव्य भी सदासे हूं और सदा काल तक रहूंगा। द्रव्य और गुण ये त्रैकालिक होते हैं, किन्तु द्रव्योंका मतलब सब गुणोंका पिंड और गुणोंका मतलब द्रव्यमें बसने वाली शक्तियां। ये शक्तियाँ भी मुझमें सदासे है और सदा तक रहेगी और यह मैं आत्मा सदा से हूं, सदा तक रहूंगा। यह तो हुई द्रव्य और गुणोंकी बात।

पर्यायका विवरण—अब पर्यायको समझिये जितनी हमारी शक्तियां हैं उनका कुछ न कुछ रूपक है, दशा है, स्थिति है, परिणमन है। इसमें ज्ञान शक्ति है तो ज्ञानशक्तिका रूपक इसमें कुछ तो हो ही रहा है जैसे कि कमरेको जान रहे हैं, चौकीको जान रहे हैं, आपको जान रहे हैं। इसकी ज्ञानशक्तिकी कुछ न कुछ दशा तो बनरही है। किसी भी पदार्थको जानने की रूप वृत्ति होती रहे बस इसीका नाम पर्याय है। पर्याय उत्पन्न हुआ करती है, मिट जाया करती है। द्रव्य और गुण कभी नहीं मिटा करते हैं। तो ऐसा जो जानन है वह पर्याय है, किन्तु जाननकी जो शक्ति है, जिस

शक्तिमेंसे जानन बनता रहता है, मिटता रहता है और शक्ति वहीकी वही बनी है मैं उस शक्तिरूप हूं; पर शक्तिका जो काम हो रहा है उन कामोंरूप मैं नहीं हूं। इसी तरह अन्य पर्यायोंकी वात है। जैसे चारित्र शक्तिके परिणाममें रमना बना रहता है। कभी गृहस्थीमें रम गये, कभी घमंडमें रम गये, कभी लोभमें रम गये, कभी अपने आपके विचारोंमें रम गये, तो यह रमना भी पर्याय है परमें जो आशक्ति है, वह भी चारित्र गुणकी पर्याय है, विकृत है, उससे क्लेश नहीं मिटते। चारित्रकी परिणतियोंकी आधारभूत जो शक्ति है वह चारित्र गुण है। मैं क्रोधादिक रूप नहीं हूं किन्तु चारित्र शक्ति रूप हूं इसी तरह सुख दुःख वेदना ये परिणमन है, ये मिटते रहते हैं पर इस सुख दुःख की आधारभूत जो शक्ति है जिसका नाम आनन्दगुण है वह आनन्दगुण नहीं मिटता। मैं सुखरूप नहीं हूं, सुखतो मिट जाया करता है। मैं नहीं मिटता। मैं दुःखरूप नहीं हूं दुःख तो मिटजाया करता है मैं नहीं मिटता। इस सुखदुःख को उत्पन्न करनेवाली जो शक्ति है, आनन्दनामक गुण है, मैं उस आनन्दरूप हूं। इत्यादि विधिसे अपनेमें निरखिये द्रव्य गुण पर्याय।

पर्यायमात्र आत्माकी मान्यतामें मिथ्यात्व—गुण पर्यायवान यह द्रव्य समूचा मैं हूं जो मेरे अस्तित्वमें है, सत् है। उसमें रहनेवाली जो शक्ति है वह मेरा गुण है। और उन शक्तियोंसे जो काम बनता है, क्रोध बनता है, मान बनता है, रमना बनता है, विकल्प बनता है; ये पर्यायें हैं। मैं पर्यामात्र नही हूं। जव ये पर्यायें भी मेरा स्वरूप नहीं हैं तो शरीर मेरा स्वरूप कैसे हो सकता है। घर वैभव परिवार ये मेरे कैसे हो सकते हैं। जब धर्म करने बैठे तो चाहे मंदिरमें हों, चाहे घरके कमरेमें, किन्तु धर्म तो तब है जबकि किन्हीं बाह्य पदार्थोंके प्रति वेचैनी न हो अपने भावोंमें निर्मलता हो, परिणामोंमें निर्मलता हो, बाह्य पदार्थोंका विकल्प छूटे।

धर्मकी विधि—धर्म कैसे होता है ? धर्म तो भावना से ही होता है जितने समय सब कुछ भूल जावो। उतने समय धर्म होता है क्यों कि किसी भी परका स्मरण रखोगे तो धर्म नहीं निभा सकते। धर्मकी दृष्टि नहीं बन सकती है तो सबको भूल जाना चाहिए। अपने लिए केवल अपने आप ही दृष्ट होना चाहिए। सबको झिड़क दो, न तुम्हारा घर है, न स्त्री है न पुत्र है, सब जुदे-जुदे सत्त्व वाले हैं। उनका काम उनमें अपने आपसे होता है। वे तुम्हारे कुछ नहीं है ऐसा अत्यन्त निर्मल अपने आपको समझकर वैठो तो वहाँ धर्मका पालन हो सकता है। धर्मरूप तो यह आत्मा स्वयं है।

धर्मके समय धर्मका दृढ संकल्प—भैया, एक राजा था तो, वह किसी राजापर चढाई करने चला। दूसरे दिन दूसरे शत्रुओं ने इसके ही राज्यपर हमला कर दिया। उस समय सिंहासनपर रानी बैठी हुई थी तो रानीने सेनापतिको बुलाकर कहा जावो अपनी सेनाको ले जाकर उस शत्रुका मुकाबला करो। सेनापति जैन था, सेना ले जाकर शत्रुसे भिड़ने के लिए चल दिया। संग्रामका स्थान दूर था। सामका समय हो गया हाथीसे उतरनेका अवसर न था सो बैठे-बैठे जापसामायिक करने ध्यान करने बैठ गया पाठमें प्रतिक्रमण प्रमापण किया जाता है। मुझसे कीड़ों-मकोड़ोके प्रति कोई कष्ट पहुँचा हो तो वे क्षमा करें। एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय तीनइन्द्रिय, चार-इन्द्रिय पञ्चेन्द्रिय सभी जीवोसे दया करनेका क्षमा पाने का भाव किया जाता है। सो ऐसा उसने सामायिक पाठ किया। फिर वह अब आगे चला। शत्रुओ पर पांच सात दिनमें ही विजय प्राप्त करली। इस बीच एक दोगलाने रानी से कहा कि किस सेनापतिको संग्राममें भेजा जो कीडे मकोड़ोसे भी माफी मांगता है। ऐसा कायर, तुच्छ जीवोंसे क्षमा मांगनेवाला शत्रुओंको कैसे जीत सकता है।

आत्मकृपा—सेनापति ७ वें दिन जीत करके आगया। रानी कहती है कि हे सेनापति! मैने तो सुना था कि तुम कीड़े मकोड़ोंसे माफी मांगरहे थे। और तुम शत्रुओंको जीतकरके आगये। तब वह सेनापति बोलता है कि मै आपका सेवक हूं, मगर २४ घंटेका सेवक नही हूं। रात्रिको सोतेमें भी यदि काम पड़ जाय तो नीद छोड़कर आपके राजकीय कार्यके लिये हाजिर हूं खाते हुए में यदि कोई काम पड़ गयातो खाना छोड़कर आता हूं किन्तु एक घंन्टेके लिए अपना काम रखा है। कैसी भी परिस्थिति हो पर एक घंटा अपने समायिक ध्यानके लिए रखा है। उससे मैं अपनी दयाके लिए अपनेको सुरक्षित बनाता हूं, आत्मकल्याणमें लगता हूं। तब उस समय मेरा कर्त्तव्य हो जाता है कि मैं इतना नम्र बनूं कि कीडे,मकोड़ोंको भी मेरेसे कष्ट पहुँचा हो तो उनसे भी क्षमा मांगलूं। तो समझिये कि हम धर्म कररहे है सो मैं अपने धर्मका काम एक घंन्टे करता हूं। उस समय राज्यका एकभी काम नही करता हूं मेरे २३ घन्टे राज्यके पीछे व्यतीत होते है और एक घंन्टा अपने कल्याणमें व्यतीत करता हूं। जिस समय मैं राज्यका भार सम्हालता हूं। उस समय सर्वशक्ति लगाकर काम करता हूं और इसी वजहसे ६-७ दिनमें ही इतनी विजय प्राप्त करके आया हूं।

आत्मधर्म—प्रयोजन यह है कि हम लोग इस संसारके कार्योंमें २४ घन्टे व्यस्त रहा करते हैं तो ऐसी वृत्तिसे क्या लाभ मिलेगा। जी रहे हैं। उमर बढ़ रही है, समय निकल रहा है, विकल्पोंमें फँसे हुए हैं तो कौनसा लाभ मिलेगा ? इससे लाभ कुछ न मिलेगा। २४ घंटेमें कमसे कम १ घंटा तो अपने लिए बनाओ। २४ घंटे परिवारके लिए घरके लिए मत विताओ। २४ घंटेमें एक घंटा तो अपनेको न्यारा जानकर ऐसी तैयारी करके बैठो कि मेरा कहीं बाहरमें कुछ नहीं है। मेरा तो मात्र मैं ही आत्मा हूं। ऐसी तैयारी करके निर्ममत्व परिणामसे अपने आपमें अपनी निधिके दर्शन करो और ऐसा विचार बनाओ कि किसीके सोचनेसे कुछ मेरा होता नहीं है। धन वैभवकी बात बहुत सोचते रहे, तो सोचनेसे वैभव मिल नहीं जाता। किसीको सुखी या दुःखी करनेके लिए मनमें चिंतन करते रहे तो उस चिंतनसे कोई सुखी या दुःखी नहीं हो जाता है। सर्व पदार्थ अपनी-अपनी योग्यतासे अपने आपमें परिणमते चले जाते हैं। किसीका मैं कुछ करने वाला नहीं हूं। इस कारण सबका स्मरण तजकर केवल सहजशुद्ध ज्ञानस्वरूपमें अपने आपका अनुभव करना यही धर्मका उत्कृष्ट पालन है।

सत्य दर्शनके लिए आग्रह—हम गुप्त ही गुप्त अपने आपमें ही अपना उपयोग बसाकर निर्विकल्पदशाके आनन्दका लाभ लें। अब तक विकल्प करके, रागद्वेष करके अपने आपमें विह्वलता मचा करके अशांति ही पायी है। जरा निराकुलताका भी स्वाद लो। जिस किसी झंझटमें पड़ोगे तो उसमें तो बड़ी बैचेनी होगी। अपना विचार ऐसा बनाओ कि हमें किसी पर वस्तुसे कुछ मतलब ही नहीं है। रागद्वेष मोह आदिमें फसनेसे तो बैचेनी ही बढ़ती है। कुछ समय तो अपना ऐसा बनाओ कि हमें किसी भी परभावका विचार नहीं करना है। हमारे चित्तसे कषाय हटे, रागद्वेष मोह हटे। ऐसा हठ करके बैठ जावो कि मैं तो केवल अपने आपके स्वरूपमें जो कुछ होगा उसीमें रहूंगा। मुझे किसी परका विचार नहीं करना हैं, कितने ही आज्ञाकारी पुत्र हों, कितना ही प्रेम करनेवाला कोई हो। कोई किसीसे प्रेम नहीं करता, कोई किसीका सहायक नहीं हो सकता। तो सबको भूलकर अपने आपके स्वरूपका अनुभव करो।

ऐसे साहसके साथ यदि तुम अपने ज्ञानस्वरूपके अनुभवमें लगो तो समझो कि सर्वसिद्धि प्राप्त हो गई। बाहरी पदार्थोंमें जब तक पड़े रहोगे तब तक अशांति ही मिलेगी, शांति नहीं प्राप्त हो सकती है। ऐसा परिचय

पाकर जो गृहस्थ विरक्त होता है घर द्वार छोड़कर चला जाता है तो मार्ग में विचार करता है। यह सब तो छोड़ दिया, अब आगे करनेका काम क्या है? साधु होऊँगा, आचरणका पालन करूंगा, अपने आपकी समाधिका ध्यान बनाऊँगा और नाना प्रकारकी तपस्या करूँगा। यहाँ तक वह ज्ञान चारित्रके सम्बन्धमें सोच चुकता है।

ज्ञानी संतका तपाचारके लिये संकल्प—अब यह तपाचारके सम्बन्धमें विचार करता है। तप होते हैं १२—अनशन, उनोदर, व्रतपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित्त, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग और ध्यान। इन १२ प्रकारके तपोंके सम्बन्धमें यह ज्ञानी गृहस्थ अपना संकल्प कररहा है। ज्ञानानन्दमें सुवासित ज्ञानीको रात और दिन करनेका तो कुछ काम है नहीं, सब कुछ छोड़ करके आत्मकल्याणके लिए आया है ना। तब मैं नाना प्रकारकी तपस्यायें करूं, ऐसा संकल्प होता है तपस्यायें किस लिए की जाती है? कोई कहे कि यह शरीरको कष्ट क्यों दिया जाता है? उसका क्या प्रयोजन है? इसका समाधान यह है कि अगर मौज में रहे, भोगकी स्थितिमें रहे तो उससे विकार पैदा होता है इसलिए तप करनेसे मन भोगसे हट जाता है। मन दूसरी जगह नहीं जाता है। दूसरी बात यह है कि यदि आरामसे ज्ञान कमाया है तो कदाचित् उपद्रव आ जाय तो ज्ञान मिट जायगा ऐसा बताया गया है। इसलिए व्रत तप आदि किए जाते हैं। जिसके ज्ञान जग जाता है और अपने आत्माके ज्ञान रसका स्वाद आ जाता है उसे फिर संसारके भोगोंमें प्रीति नहीं रहती। और जब संसार के भोगोंमें प्रीति नहीं रहती है तब यह ज्ञानी उनमें रह भी नहीं सकता है इसलिए घर बार छोड़कर साधुदीक्षा लेनेकी उसके मनमें भावना बनती है। वह सोचरहा है कि मैं साधुदीक्षा लूंगा और अनेक प्रकारके तप करूंगा। तपोंका उद्देश्य यह है कि मन विकारकी ओर न रहे और विषयभोगोंकी भावनामें लिप्त न हो जावे। तो चित्तको रोकनेके लिए तपस्या एक मुख्य साधन है। तपसे विषयवासना भी मिट जाती है।

ज्ञानी संतका अनशननामक तपाचारके सम्बन्धमें संकल्प—उन तपोंमें प्रथम तप है अनशन। अनशनका अर्थ है उपवास। भोजनका त्याग करनेसे एक तो इन्द्रिय विकार न होगा यह लाभ है। दूसरे मन चंचल न रहेगा, यह लाभ है। तीसरा लाभ यह है कि जब मनकी चंचलता मिटी और विकार भावोंमें मेरा चित्त न रहा तो सहज ही मेरा उपयोग ज्ञानस्वरूपमें आयेगा।

अपने ज्ञानस्वरूपमें अपना उपयोग रहे तो इससे कर्मोंका क्षय होता है। अनशन आत्माका स्वभाव है। पर अनशनका संकल्प, विकल्प, धारणा, पारणा मेरा स्वभाव नहीं मेरा तो कार्य ज्ञानमात्र है पर कर्मोंका सम्बन्ध होने से आत्मा भी ऐसा मलिन हो गया है, गड़बड़ीमें आगया है कि जो बात आत्मामें न होनी चाहिए वह बात भी हो रही है।

आत्माका अनशन स्वभाव—आत्माका स्वरूप तो जानन है। चैतन्य प्रकाश है, मेरा काम खाना पीना नहीं है, पर फस गया है यह आत्मा कर्म के चक्करमें, सो इसकी नाना तरह की गति होरही है। मनुष्य बने, पशु बने, पक्षी हुए और कैसी कैसी इसकी दशाएं बनती हैं। यह सब उपाधिका प्रताप है। यदि उपाधि न होती तो इस जीवको कोई दुःख ही न था। उपाधिके ही सम्बन्धसे आत्मामें क्षुधा उत्पन्न होती है। पर क्षुधा आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव तो ज्ञाता द्दष्टा रहना है, अनशन स्वभाव है। अनशनस्वभावी आत्माकी भावना करनेवाले ज्ञानी संत पुरुषके अशन या अनशनका विकल्प नहीं होता। यदि असाताका तीव्र उदय होता है तो उस समय वासना उत्पन्न होती है कि भोजन करें। भोजन करनेमें कोई बड़प्पन नहीं है कि कोई अच्छी चीज भोजन करनेको मिलती है तो उसमें कोई बड़प्पन हो, ऐसा कुछ नहीं है। भोजन तो एक निम्न चीज है। आत्मा का काम तो ज्ञाता द्रष्टा रहना है।

अशन रोग व रोगकी क्षणिक दवा—ज्ञानियोंका ऐसा ध्यान है कि भोजन रोग है। और आत्माकी बर्बादीका कारण है। मैं अनशनस्वभावी हूं, ऐसा अनशनस्वभावी शुद्धात्माकी भावना रखते हुए भी कर्मोंकी उदीरणाके कारण जो कुछ भोजन करना पड़ता है। सो वह विधिपूर्वक करता है। और जितनेसे काम चलता है उतना भोजन करता है। बांकी अनशन व्रत रखता है। अनशन व्रत रखते हुए भी यह ज्ञानी पुरुष भावना करता है कि हे अनशनव्रतनामक तपाचार ! तुम्हारा वातावरण बड़ा पवित्र है फिर भी मैं यह जानता हूं कि अनशन व्रत करनेका मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है, भोजन करना भी मेरे आत्माका स्वभाव नहीं है। तीव्र कषायोंसे भोजन करना होता है और मंद कषायोंसे उपवास करना होता है। भोजन करना और उपवास करना शुभ अशुभ रागकी स्थितियां हैं। यह कोई मोक्षस्वरूप नहीं है। इसलिए हे अनशननामक चारित्राचार ! तुम मेरे कुछ नहीं लगते हो, फिर भी मैं तुमको ग्रहण करता हूं जब तक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको

प्राप्त न करलूं।

ज्ञानी संतका ऊनोदर तपके प्रति संकल्प—दूसरा तप है ऊनोदर। भूखसे कम खाना ऊनोदर तप है। कहो, अनसन तपसे भी अधिक कठिन ऊनोदर तप है। भोजन भी पूरा न हो और प्राप्त सर्व भोजनको छोड़ देना यह बड़ा कठिन है। दूसरे अनशन करनेसे तो शरीरके स्वास्थ्य पर इतना विरुद्ध प्रभाव नहीं पड़ता मगर आधा भोजन छोड़ देना आधा खाकर आ जाना तो उससे अग्निको धक्का लगता है, क्योंकि अग्नि तीव्र होरही थी। भोजन ज्यादा चाहता था मगर थोड़ा भोजन किया तो अधजला सा रह गया। तो उसका स्वास्थ्यपर प्रभाव पड़ता है। ऊनोदर तप अनशनसे भी कठिन चीज है। किन्तु, ऊनोदर तपमें आत्म सावधानी रहती है, निद्रा नहीं आती है, हाथ पैर अच्छे चलते है और भर पेट खानेमें आलस्य आता है, प्रमाद होता है। इसलिए ऊनोदर एक तप माना गया है फिर भी यह ज्ञानी पुरुष कह रहा है कि हे अनशन नामक तप! यद्यपि मैं जानता हूं कि हे तुम्हारा वातावरण शुद्ध है तुम्हारी कृतिमें मोक्षमार्गका साधन है; फिर भी आखिर मंद कषाय के ही तो तुम फल हो, सो हे अनशननामक तपाचार तुम यद्यपि पवित्र हो, यह मैं जानता हूं फिर भी तुम्हारे प्रसादसे जब तक मुक्ति न प्राप्त करलूं तब तक मैं तुम्हारा पालन करता हूं।

वृत्तिपरिसंख्यान तपाचारका संकल्प—तीसरी तपस्या है वृत्तिपरिसंख्यान। साधुजन आहारके लिए उठते हैं। सोच लेते हैं कि ऐसी बात देखनेको मिलेगी तो आहार करूंगा अथवा इस तरहसे घूमकर आहारके लिए जाऊँगा यदि मिल सकेगा तो करूंगा, नाना प्रकारकी प्रतिज्ञाएँ लेते है। यह सब इसलिए किया जाता है कि देखें अंतराय कर्म कितने हैं। दूसरी ऐसी बात रहती है कि जब भोजन करनेकी आवश्यकतामें संदेह रहता है कि भोजन करें या नहीं या कुछ भूख रहती है कुछ नहीं। तब ऐसी अटपटी प्रतिज्ञा ले ली जाती है यदि ऐसा होगा तो भोजन करेंगे नहीं तो नहीं। अपने कर्मोंकी परीक्षाके लिए और आहार करें या न करें इस प्रकारके विकल्पोंको मिटाने के लिए वृत्तिपरिसंख्यान तप किया जाता है। हे वृत्तिपरिसंख्यान तप! यद्यपि मैं जानता हूं कि तुम मेरे शुद्ध आत्माके कुछ नहीं लगते हो फिर भी तुम्हारे प्रसादसे जबतक शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं तबतक तुम्हें ग्रहण करता हूं। इस तपका प्रयोग समर्थ मुनि करते हैं।

ज्ञानी संतकी रसपरित्यागकी भावनाः—चौथा तप है रसपरित्याग।

भोजन करनेसे पहिले या भोजन करते समय रसोंका त्याग करलेना, मेरे अमुक रसका आज त्याग है। रस छः होते हैं। (१) नमक (२) घी (३) दूध (४) दही (५) तैल और (६) मीठा। छः रसोंमें से कुछका त्याग कर दिया या सवका त्याग कर दिया यह रसपरित्याग तप है। यह क्यों किया जाता है? इन्द्रियोंको काबूमें रखनेके लिए। मनमाने विचार न करने और इच्छाओंका दमन करनेके लिए रस परित्याग होता है। जो इच्छाएँ होती हैं उनको तो ले अब तेरा ही त्याग है इस प्रकारसे कुचल दिया जाता है गृहस्थ भी कोई कोई ऐसा करते हैं। यदि उनके मनमें भाव होता है कि आज तो खीर वनाना चाहिए तो उसका त्याग कर देते हैं क्योंकि क्यों ऐसी इच्छा हुई कि खीर बनाना चाहिए सो लो खीरका त्याग करदिया, मनमें जिस भोजनकी इच्छा हुई उसका ही त्याग कर दिया। यह एक बड़ा तप है। रसपरित्याग नामक तपसे सात्त्विक वृत्ति उत्पन्न होती है और विषय-कषायोंसे वहुतसा छुटकारा मिलता है, मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है। रसपरित्यागका वातावरण आत्महितके लिए बड़ा पवित्र है फिर भी ज्ञानी संत चिंतन करता है कि हे रसपरित्यागनामक तपाचार! तुम मेरी इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी जबतक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त न करलूं तबतक मैं तुम्हें ग्रहण करता हूं।

विविक्तशय्यासननामक तपाचारका संकल्पः—५वां तप है विविक्तिशय्यासन, अर्थात् एकान्त शून्य स्थानमें सोना और बैठना। यह एक बहुत वड़ा उत्कृष्ट तप है। विविक्तशय्यासनसे रागद्वेषके साधन नहीं रहते, रागद्वेष नहीं जगते हैं। इस तपस्वीका अंतरंग और बहिरंग एकान्तमें निवास रहता है उससे ज्ञानीकी पवित्रता बढ़ती है। आत्माके उपयोगसे ज्ञानको पवित्र करने वाला एक साधन यह विविक्तशय्यासन है। ज्ञानका उपयोग तो एक शुद्ध भाव हैं, आत्माका हितकारी है। शांतिका उत्पन्न करनेवाला है। रागद्वेष मोह-भाव विकारभाव है ये आत्माको बिगाड़ देते हैं। ये संसारमें भटकानेके कारण हैं। सो उन रागद्वेषोंसे दूर होनेके अर्थ यह भव्य आत्मा एकान्त स्थानमें रहता है, और अपने आपके शुद्ध ज्ञानस्वरूपमें उपयोग लगाये रहता है। इस विविक्तशय्यासन नामक तपका बहुत बड़ा महत्त्व है। पवित्र वातावरण है फिर भी ज्ञानी संत उस तपाचारके प्रति कह रहा है कि हे विविक्तशय्यासन नामक तपाचार! मैं जानता हूं कि तुम इस मुझ शुद्धआत्मा

के कुछ नहीं लगते हो। इस शुद्ध आत्माका काम केवल देखना जानना है। यहाँ बैठना यहाँ नहीं बैठना यह विकल्प, विज्ञान इस आत्माका काम नहीं है, फिर भी तुम्हारे प्रसादसे एक शुद्ध उपयोगका अवसर मिलता है इसलिए तुम्हारा पवित्र वातावरण है हे विविक्तशय्यासननामक तपाचार ! यद्यपि तुम इस शुद्ध आत्माके स्वरूप नहीं हो फिर भी मैं तुम्हारा पालन करता हूं जबतक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्मा को प्राप्त न करलूं।

कायक्लेश तपाचारका ज्ञानी संतके संकल्प—एक तप है कायक्लेश। गर्मी, सर्दी, वर्षात भिन्न भिन्न उपसर्गोंको सहते हुए, उपद्रवोंको सहते हुए अपने आत्माके उपयोगमें लगे रहना, सो कायक्लेश नामका तप है। कायसे साधु की निर्ममत्व वृत्ति है, गर्मीके दिन हैं, बड़ी तेज लपटें चलरही हैं, लोग घरसे बाहर नहीं निकलना चाहते किन्तु साधु पर्वतकी शिलाओंपर बैठाहुआ ग्रीष्म आतापनयोग कररहा है। वह अपने अन्तरमें अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूपको देखकर संतुष्ट है तृप्त है। उसके कुछ गर्मी सर्दी नहीं है। वह तो अपने सहज आनन्दमें मग्न है। जिसके प्रतापसे अनगिनते भवोंके बांधे हुए कर्म खिर जाते हैं। कायक्लेशके तपमें कई गुण हैं। कायक्लेश करनेसे विषय कषायोंकी वृत्ति नहीं रहती है। जो मनुष्य मौज ही पंसद करता है और मौजमें पड़े रहनेपर अपनेको महान् और सुखी अनुभवता है वह पुरुष मौजमें रहकर कषाय विकारका कूड़ा अपने आत्मामें जमा कर लेता है। किन्तु हे कायक्लेश नामक तपाचार ! तुम्हारी आत्मापर बड़ी कृपा रहती है। तुम्हारे प्रसादसे आत्मा मोक्षमार्गमें लगता है फिरभी मैं यह जान रहा हूं कि कायक्लेश नामक तपाचार शुद्ध आत्माका कुछ नहीं है। अच्छा काम करना और बुरा काम करना यह आत्माका स्वभाव नहीं है। आत्माका स्वभाव केवल ज्ञाता द्रष्टा रहना है। जान लिया बस, अच्छा करेगा तो रागसे ही करेगा और बुरा करेगा तो भी रागसे हीं करेगा। बुरा तीव्र करना रागसे होता है, तीव्र कषायसे होता है और अच्छा करना मंद कषायसे होता है। ज्ञान तो अपने आत्माको कषायरहित शुद्ध निर्विकारस्वरूप जानता है। मेरा तो मात्र ज्ञानदर्शनस्वरूप है। ज्ञानी पुरुष कायक्लेश नामके तपाचारमें लगता है फिर भी उसकी अन्तर्भावना है कि हे कायक्लेश नामक तपाचार ! तुम मेरे इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी तुमको ग्रहण करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं। यों ज्ञानी संत ६ प्रकार के बाह्य तपाचारों से अपने सम्बन्धकी चर्चा कर रहा है।

अन्तरङ्गतप व प्रायश्चित तपाचारके सम्बन्धमें संकल्प—ये ६ प्रकारके होते हैं अंतरंगतप जो अपने आत्माके भावोंके द्वारा भीतर ही भीतर किया जाता है। उन ६ अंतरंग तपोंमें से पहिला तप है प्रायश्चित्त। पापोंके परिणाम व कामपर पछतावा करना सो प्रायश्चित्त है। संसारमें जीव अनादिसे रागद्वेषमोहके काम करते चले आरहे हैं, पाप ही करते आये है। जब इनके ज्ञानका उदय होता है तब इनको बड़ा पछतावा होता है कि अहो इन पापोंकी प्रवृत्तिमें अबतक अनन्त काल व्यतीत कर डाला, यह सब प्रवर्तन मेरा स्वभाव न था। यह उपाधिके सम्बन्धसे अज्ञान अवस्थामें होगया था। मैं तो शुद्ध ज्ञायकस्वरूप हूं। मेरा कार्य तो मात्र जानना देखना हैं।

प्रायश्चित्त कहते हैं अपने मनको चित्तको शुद्ध कर लेना। सो प्रायश्चित्तका वातावरण बहुत पवित्र है इससे मोक्षमार्गमें बल प्रकट होता है। कोई कोई मुनि तो किसी प्रायश्चित्तका परिणाम करके इतनी निर्मलता प्राप्त कर चुके कि उन्होंने अन्तर्मुहूर्तमें ही मोक्षमार्ग प्राप्त कर लिया। प्रायश्चित गृहस्थको भी करना चाहिए। अपने दिनरातके किए हुए कर्मोका विचार करना चाहिए। मैंने कौनसा आज खोटा काम किया ? किसको मैंने सताया ? किससे मैंने झूठ बात कही ? किसकी मैंने कोई चीज उठायी अथवा किसी पुरुष अथवा स्त्रीके रूपको देखकर मैंने कितना अपना मन विचलित किया और धन वैभव परिग्रहका संचय करनेमें मैंने कितना अपना चित्त बिगाड़ा। अपने पापोंका लेखा करो और प्रायश्चित्त करो। इससे आत्मा की शुद्धि होती है। हे प्रायश्चित्त नामक तपाचार ! यद्यपि तुम मेरे मोक्षमार्गमें बड़े सहायक हो, तुम्हारे ही प्रतापसे हृदय शुद्ध होता है फिरभी यह प्रायश्चित्त करना आत्माका स्वभाव नहीं है। यदि प्रायश्चित्त करना आत्मा का स्वभाव होता तो भगवान भी प्रायश्चित्त क्यों न करते रहते। जो बात सिद्ध भगवान में नहीं है वह मेरी आत्माका स्वभाव नहीं है। सीधा यह समझलो। जो भगवान करता हो, यद्यपि मैं वह नहीं कर पाता हूं, किन्तु जो प्रभु करता है वह मेरा स्वभाव अवश्य है और उसे मैं भी कर सकता हूं। हे प्रायश्चित्त नामक तपाचार ! तुम इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं। फिर भी मैं तुमको ग्रहण करता हूं जबतक तुम्हारे प्रसादसे यह मैं आत्मा शुद्ध आत्माको प्राप्त न करलूं।

विनय तपाचारः—विनयनामक तप महत्वका परिणाम है। जो कोई विनय करेगा वह उसका उत्तम फल अवश्य पायगा। यह हो नहीं सकता कि

विनय तप व्यर्थ जाय। छोटा ह , बड़ा हो सबके साथ यदि विनय का व्यवहार है तो उसका फल उत्तम मिलता है। अभी यहीं पर बातचीतके प्रसंगमें विनयसे यदि किसीसे बोलदिया है तो उसके बदलेमें दूसरे लोग भी कितने सुन्दर वचन बोलते हैं। और किसीसे तुम अकड़कर बोलो चाहे वह गरीब हो, भीरु भी क्यों न हो, उस अकड़के बोलनेका परिणाम अवश्य बुरा मिलेगा। फिर मोक्षमार्गियोंको, साधुओंके समागममें विनय वृत्तिसे लाभ होता ही है। विनय बिना विद्या ग्रहणमें नहीं आसकती। किसी मास्टरसे कहो अजी तुमने हमें यह विषय नहीं पढ़ाया, तुम ठीक-ठीक नहीं पढ़ाते, तुम्हें यह पढ़ाना पड़ेगा आदि बातें बहुत अकड़कर कहो तो क्या मास्टरसे आप शिक्षा पालेंगे? खैर लौकिक विद्या जैसे गणित या अन्य कोई विज्ञानकी विद्या तो अकड़करके भी सीखी जासकती है मगर आत्माकी विद्या तो अकड़करके सीखी नहीं जासकती है। किसीसे कहो कि तुम बड़े निठल्ले बैठे हो, लाज नहीं आती, हमें आत्माका ज्ञान क्यों नहीं देते? ज्ञान देदो। तो क्या इस तरहसे ज्ञान सीख सकते हो, नहीं सीख सकते हो। अन्य-अन्य विषय तो जबर्दस्ती करके भी सीख लोगे मगर अध्यात्मकी विद्या बिना विनयके आ ही नहीं सकती।

विनय नामक तपाचारमें बहुत गुण हैं। गुणोंका विकाश होता है तो विनयके प्रसादसे होता है। यदि नम्रता नहीं है तो आत्मामें सम्यग्ज्ञान नहीं जग सकता है। विनय नहीं है तो इसके मायने है कि घमंड है। घमंड और मान करके कोई चाहे कि हम ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या सीख जायें तो यह कदापि नहीं हो सकता है। हे विनय नामक तपाचार! तुम बड़े पवित्र हो, तुम्हारा बड़ा शुद्ध वातावरण है फिर भी तुम मुझ शुद्ध आत्माके कुछ नहीं लगते हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिरभी मैं तुम्हें ग्रहण करता हूं, जबतक तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं।

विनयनामक तपमें अपने पूज्य पुरुषोंको देखकर उठ खड़े होना चाहिए और कुछ आगे चलकर उनकी अगवानी करना चाहिए। जब वे चलते हों तो उनके पीछे या साथ चलना हो तो बायें हाथकी तरफ चलना चाहिए। उनसे कुछ नीचे आसनपर बैठकर या खड़े होकर बात करना, नम्र शब्दोंमें कुशलता पूछना, कोई आज्ञाकारक वचन बोलने हो तो नम्रतापूर्वक स्वीकार करना यह सब भी विनय नामकतप है। विनयतप किए बिना अध्यात्म विद्या प्राप्त नहीं की जा सकती है क्योंकि आत्मा स्वयं

सरल स्वभावी है जबतक विनयरूप परिणाम नहीं होता तब तक सरल स्वभावी आत्मामें प्रवृत्ति नहीं होती।

यह विनयतप ४ तरह से होता है (१) ज्ञान विनय (२) दर्शन विनय (३) चारित्र विनय (४) उपचार विनय। ज्ञानी पुरुषका आदर करना, ज्ञानी पुरुषकी भक्ति करना सोई ज्ञान विनय है। सम्यग्दर्शन का आदर करना सम्यक्त्व परिणामका महत्वचिंतन करना और सम्यग्दृष्टि जीवकी भक्ति करना सोई दर्शनविनय है। चारित्रपरिणामका आदर करना और चारित्रधारी पुरुषकी उपासना भक्ति करना सो चरित्र विनय है और लोकमें अपने समान अपने महान् और अपने प्रसंगमें आये हुए सभी पुरुषोंसे विनम्र शब्दों में मन वचन कायको नम्र करके यथोचित व्यवहार करना सो उपचारविनय है। सो यह सब मोक्षमार्गमें चलने वाले पुरुषका हितकारी वातावरण है। विनय बिना अपनी धारणामें कोई सफल हो नहीं सकता, फिर भी यह ज्ञानी संत चिंतन कर रहा है कि हे विनय नामक तपाचार! तुम मेरे इस शुद्ध आत्मा के कुछ नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी मैं तुम्हारा आदर करता हूं, पालन करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं।

वैयावृत्य तप :—वैयावृत्य नामके तपका अर्थ है विरक्त संत पुरुषों की सेवा करना। वैयावृत्यका सीधा अर्थ है व्यावृत्त पुरुषका कार्य। इस कार्य में परसेवाकी मुख्यतासे यह भावार्थ हुआ कि विरक्त ज्ञानी संतोंकी सेवा करना वैयावृत्य है। वे थके हों तो पगचम्पी आदिसे उनकी थकावट दूर करना, उनकी कोई आवश्यकता हो तो आवश्यकता की पूर्ति करना और जिस प्रकार भी उनको आराम मिले और मोक्षमार्गमें वे प्रगति कर सकें उस तरहसे सेवा करना सो वैयावृत्य नामका तपाचार है। सो वैयावृत्य बहुत उन्नति करने वाला तप है। दूसरोंकी सेवा करोगे तो यह कभी नहीं हो सकता कि उस सेवाका फल न मिले। साधु, संतपुरुष साधुजनोंकी सेवा करते हैं। बड़े पुरुषोंकी सेवामें उनका कभी न कभी ज्ञान प्रकाश या सिद्धिलाभ अवश्य होगा, पर सेवा निष्कपट भावसे होनी चाहिए। उसके एवजमें कुछ चाह न करके, संतके गुणोंका अनुराग करके सेवा हो तो उसका बड़ा अच्छा फल प्राप्त होता है। सो वैयावृत्य नामक तपाचार एक त्यागमय बड़ा पवित्र व्यवहार है जिसके बिना आत्मामें तीव्र प्रगति नहीं हो सकती है फिर भी ज्ञानी संतपुरुष चिंतन करता है कि हे वैयावृत्यनामक तपाचार! मैं निश्चयसे जानता हूं कि तुम इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो फिर भी मैं तुम्हारा पालन करता हूं जबतक कि

तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं।

स्वाध्याय तपाचारके सम्बन्धमें संकल्प :—अब स्वाध्याय नामक तपके सम्बंधमें यह ज्ञानी पुरुष विचार करता है। जीवके उद्धारका कारण स्वाध्याय है। स्वका अध्ययन करके अपने आत्माका चिंतवन करना स्वाध्याय है। स्वाध्यायतप ५ प्रकारसे किया जाता है। एक तो ग्रंथको वांचना, पढ़ते जाना। कोई शंका चर्चायें हो तो उसको पूछना। पूछना हो तो अच्छे नम्र परिणामसे। मैं इनको नीचा दिखा दूं या मैं ऐसा प्रश्न करूं कि इनसे उत्तर न बन सके ऐसे भावोंसे यदि कोई पूछता है तो वह स्वाध्याय नहीं है, वह तो कषाय है। तीसरा प्रकार है अनुपेक्षाका। किसी पाठका बार बार विचार करना या किसी स्वरूपका बार बार विचार करना, भावना करना सो अनुप्रेक्षा नामक स्वाध्याय है। १२ भावनाएं या अन्य अन्य प्रकारकी भावनाएं और पाठ इनका जो बराबर मनन किया जाता है। वह सब अनुप्रेक्षानामक स्वाध्याय है। चौथा प्रकार है आम्नायका। जैसे कोई पाठ याद करे, घोके तो यह सब आम्नाय नामक स्वाध्याय है। और ५ वां स्वाध्याय है धर्मोपदेशका। पदार्थ विषयक यथार्थ उपदेश देना यह भी स्वाध्याय है क्योंकि उसमें आत्माका मनन है। यदि बहुत सद्बुद्धिसे, भावनाओंसे यदि कोई उपदेश दे तो पहिले अपने आपको विचारता है, अपने आपको कहता है तो यथार्थमें उससे उपदेश बनता है। ऐसा धर्मोपदेश भी एक स्वाध्याय है। स्वाध्याय प्रधानतया आत्माका हितकारी है फिर भी उसमें मन, वचन कायकी कोई न कोई प्रवृत्ति है। किसी प्रकार की प्रवृत्ति होना आत्माका स्वभाव नहीं है। इस कारण ज्ञानी पुरुष स्वाध्याय तपाचारसे कह रहा है कि हे स्वाध्याय नामक तपाचार! यद्यपि मैं जानता हूं कि तुम इस मुझ शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, फिर भी मैं तुमको ग्रहण करता हूं जब तक कि तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूं। शुद्धात्माकी प्राप्तिका उपाय स्वाध्याय है, क्योंकि कल्याण होता है शुद्ध ज्ञानसे और ज्ञानकी शुद्धता बनानेमें कारण है स्वाध्याय। जब हम अपने अनुभवी परमपूज्य संत ऋषिजनोंका अनुभव पढ़ते हैं, उनके दिए ज्ञानको देखते हैं तो उससे विषय कषायोंका परिणाम समाप्त हो जाता है। और विषय कषायोंका परिणाम समाप्त होनेसे ज्ञान प्रकाश बढ़ जाता है, इस कारण यह स्वाध्यायनामक तप बड़ा पवित्र तप है। इसमें तो मुमुक्षुजनोंका उद्यम आत्महितके लिये होता ही है।

ध्याननामक अन्तस्तपाचारके सम्बन्धमें ज्ञानी संतका संकल्प :—अब ध्यान नामक तपकी बात है। किसी शुद्ध विषयमे एकाग्र चित्त होजाना इसको ही ध्यानतप कहते है। जीवादिक ७ तत्त्वोंके सम्बन्धमें चिंतन करिये। मैं जीव क्या हूं ? जो एक चैतन्यशक्ति है, चित्प्रकाश है वह मैं जीव हूं। यह जीव सुरक्षित है, स्वयं सत् है। इसमें किसी प्रकारकी विपत्ति है ही नहीं। किसी भी सत्में अन्य सत् क्या प्रवेश करेगा ? सभी सत् सुरक्षित है मगर यह आत्मा स्वयं अपनेको तुच्छ मानकर अशरण मानकर, आनन्दहीन मानकर स्वयं तडफता है और परपदार्थोंमें लगा करता है, आकुलित होता है। जब यह उसे विदित होजाय कि यह मैं आत्मा स्वयं ज्ञान और आनन्दस्वरूप हूं। मेरे में अपूर्णता नही है, किसी अन्यसे मेरा कुछ सम्बन्ध नहीं है, यह मैं पूर्ण ज्ञानानन्दमय हूं ऐसी सजगता हो तो इसकी व्यग्रता समाप्त हो जाय।

अजीवादिक तत्त्वोके सम्वन्धमें ज्ञानी संतका ध्यान :—इसी तरह अजीव इत्यादिके सम्बन्धमें भी ध्यान करते हैं। जितने ये अजीव तत्त्वहै, ये सब मेरे से भिन्न हैं। ये सब अपने अपने स्वरूपको लिए हुए हैं, इनमें मेरा कुछ दखल नहीं है और इन पर पदार्थोका मुझमें कुछ दखल नही है। सबसे भिन्न ज्ञानानन्दमात्र मैं आत्मा हूं। आश्रवके सम्वन्धमें विचार होता है कि ये भाव कर्म जो आते है ये औपाधिक और वैभाविक है, द्रव्यकर्म भी वैभाविक उपाधि है। इनसे आत्माको शांति नहीं होती। जगतमें ये ही रुलानेके सब कारण है। आश्रव त्याज्य है वंध त्याज्य है, संवर निर्जरा उपादेय है, मोक्ष परमहित है, इत्यादिरूपसे जो पदार्थ जिसरूप है उस पदार्थको उसरूपसे चितन करना सो ध्यान नामका तप है। उस तपाचारसे कहा जारहा है कि हे ध्यान नामक तपाचार ! तुम बड़े विशिष्ट तप हो, एक शुद्ध मर्ममें, चैतन्य स्वरूपमें ले जानेवाले उपाय हो। इतना विशिष्ट उत्कृष्ट उपाय होकर भी आखिर मन की ही वृत्ति तो हो। मनका एक जगह रुक जाना सो ध्यान है। मनकी जो स्थिरवृत्ति है वही तो ध्यान है। सो यद्यपि तुम मेरे कुछ नहीं हो यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिर भी मैं तुमको तवतक पालता हूं, तब तक लग्न होता हूं जवतक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्मतत्त्वको न प्राप्त करलूं।

व्युत्सर्ग तपाचारकी उपासनाका संकल्प :—इसी प्रकार आगे व्युत्सर्ग नामक तपको कहते है। उपाधियोसे ममत्वका त्याग होना सो व्युत्सर्ग है। उपाधियां दो प्रकारकी होती है। (१) वाह्य उपाधि और (२) अंतरंग उपाधि। वाह्य उपाधि तो घर परिवार, कुटुम्ब, शरीर, कर्म हैं जो आत्मासे सदा भिन्न

हैं। आत्मासे जो भिन्न पदार्थ हैं उन सबको वाह्य उपाधि कहते हैं और अंतरंग उपाधि वह है जो अपने अस्तित्वमें तो है किन्तु स्वरसतः नहीं है। ऐसे राग द्वेष विकार अंतरंग उपाधि कहलाते हैं, तो दोनों प्रकारकी उपाधियोंका त्याग करना सो व्युत्सर्गनामक तप है। अंतरंग उपाधिका त्याग ज्ञानवलसे होता है। ये रागादिक विकार मेरे स्वरूप नहीं है। मैं इन रागादिकोंसे पृथक् मात्र चैतन्यस्वरूप हूं। इस प्रकार इन रागादिक विकारोंकी उपेक्षा करना और अनन्त ज्ञानस्वरूपमें प्रवेश करना सो अभ्यंतर व्युत्सर्ग है। शरीरकी उपेक्षा करना, घरवारकी उपेक्षा करना, धन वैभवकी उपेक्षा रखना ये सब वाह्य व्युत्सर्ग है। सो व्युत्सर्गके विना मुमुक्षु संत पुरुषोंका काम नहीं चलता। सो उसका आदर करना, आश्रय लेना युक्तिसंगत है फिर भी ज्ञानी संत इस तपके वारेमें भी चिंतन कररहा है कि हे व्युत्सर्ग नामक तपाचार ! तुम्हारे विना मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति नहीं हो सकती, शांतिका उपाय नहीं मिल सकता। इस कारण तुम्हारा आदर करता हूं। कव तक ? जवतक कि तुम्हारे प्रसादसे शुद्ध आत्मा को न प्राप्त करलूं।

व्युत्सर्गका विधान :—भैया, यह प्रकरण चलरहा है व्युत्सर्गनामक तपका। व्युत्सर्ग ममत्वके त्याग करनेको कहते हैं। अव ममत्वका त्याग किया जाता है दो प्रकारके भावोंसे। एक तो वाह्य पदार्थोंसे और एक अपने अंतरंगमें उठने वाले रागदिक भावोंसे। वाह्य पदार्थ तो वाह्य ही हैं। उनकी सत्ता न्यारी है। उनसे तो कुछ सम्वन्ध ही नहीं है। उनके वारेमें व्यर्थ मात्र विकल्प करते हो और दुःखी होते हो। सो वाह्य उपाधिसे अलग वने रहना तो प्रथम ही अत्यन्त आवश्यक है। तथा अंतरमें उठते हैं जो रागद्वेष आदि भाव, वे भाव भी मेरे स्वरूप नहीं हैं। वे तो मुझे वर्वाद कररहे हैं। इतना महान् केवल ज्ञान रुका हुआ है तो राग द्वेषोंके कारण ही रुका हुआ है। यदि रागद्वेष भाव न हों तो इसके अंतर्मुहूर्तमें केवलज्ञान प्रकट हो जायगा। इस आत्मदेवकी जो उत्कृष्ट वृत्ति है उसका वाधक रागद्वेष विकार है। सो रागद्वेष आदि विकारोंका भी त्याग होना आवश्यक है। तो इन दोनों प्रकारके अंतरंग और वहिरंग परिग्रहोंका त्याग केवल उपेक्षासे होता है। वाह्य पदार्थ तो अपनी सत्तासे हैं। उनकी सत्ताका तो हम नाश नहीं कर सकते। और भैया, नाश भी क्या करना, वे स्वयं दूसरे क्षण नहीं रहते, हां यह ऐव जरूर है कि और और विकार आते रहते हैं। कैसे त्याग करोगे ? उनकी उपेक्षा करदो, उनसे अपना उपयोग हटालो,

बस यही उनका त्याग हुआ। कर्मोंका ऐसा उदय आया और कुछ आत्म-भूमिमें रागादिक बिकार होगए, होना पड़ता है। अब क्या किया जाय ? होने दो, उनसे उपेक्षा करलो, बस यही रागादिक विकारका त्याग है। सो दोनों प्रकारके भावोंकी उपेक्षा करना उनसे ममताको हटाना, यही बड़ी साधना है। यह साधना भी आत्माका स्वभाव नहीं है। मगर इस साधनाके बिना आत्माका स्वभाव नहीं मिलता है। इसलिए हे व्युत्सर्गनामक तपाचार ! तुम मेरे शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं फिरभी मैं तुम्हारा पालन करता हूं, आदर करता हूं जबतक मैं शुद्ध आत्माको प्राप्त करलूँ। इस प्रकार तपाचारके सम्बन्धमें यह ज्ञानी संत चिंतन कररहा है।

वीर्याचारके प्रति ज्ञानीका संकल्प :—ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार इन चारों आचारोंका चिंतन करनेपर अब पंचम आचार बीर्याचार की चर्चा आती है। अब उसके सम्बन्धमें विचार किया जारहा है। बीर्याचार का अर्थ है कि धर्मके कामोंमें व्रत नियमसाधनके काममें ज्ञान दर्शन चारित्र गुणके साधनोंमें अपनी शक्तिको न छिपाना और उत्साहपूर्वक आचारोंको निभाना वीर्याचार है। इस वीर्याचारको यह ज्ञानी संत कहरहा है कि हे वीर्याचारनामक तपाचार ! धर्म आचारमें उत्साह करना यह उत्तम काम है फिरभी मैं निश्चयसे जानता हूं कि तुम मेरे इस शुद्ध आत्माके कुछ नहींहो फिरभी मैं तुम्हारा पालन करता हूं जबतक कि तुम्हारे प्रसादसे इस शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूँ।

वीर्याचारके चार आराध्य आचारोंकी पूरकता—इन ५ आचारोंमें आचरण किए जानेवाले आचार चार हैं। (१) ज्ञानका आचार (२) दर्शनका आचार (३) चारित्रका आचार और (४) तपका आचार। आराधना भी इन चार आचारोंकी है। ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार व तपाचार इनके अलावा और भी अनेक प्रकारके अन्य-अन्य आचार हैं। उन आचारों में प्रवर्तानि वाला वीर्याचार है। वीर्याचारका अर्थ है अपनी शक्ति न छुपा-करके उन आचारोंका पालना। लोग शक्तितः त्यागमें और शक्तितः तपमें ऐसा कह देते हैं कि शक्तिके अनुसार तप व त्याग करो शक्तिसे ज्यादा तप न करो, शक्तिसे ज्यादा त्याग न करो, पर उसका अर्थ यह नहीं है कि शक्तिसे ज्यादा त्याग या तप न करो, यह कोई उपदेश नहीं है, किन्तु अपनी शक्ति न छिपाकर त्याग करो, तपस्या करो। जितनी शक्ति है उस शक्तिको पूर्ण लगाकरके करो यह उसका मतलब है। शक्तितः का मतलब वीर्याचारसे है। अपनी शक्ति न

छिपाकर इन चार आचारोंमें प्रवृत्ति करो और इसके अतिरिक्त जैसे कि परिषहका विजय है और दसलक्षण धर्मका पालन है, छः आवश्यक कर्त्तव्योंका पालन है और भी जितने और आचरण हैं उन आचरणोंमें अपनी शक्तिके माफिक पूर्ण प्रवृत्ति करो। इस प्रकार यह वीर्याचार सब आचारोंमें लगाने वाला है!

वीर्यानारके फलके लिये वीर्याचारकी धारणा—यद्यपि यह वीर्याचार बड़ा पवित्र आचार है, इसके प्रतापसे मोक्षमार्गमें प्रवृत्ति होती है, फिर भी हे वीर्याचार! शुद्ध आत्माके तुम कुछ नहीं हो। शुद्ध आत्माका अर्थ है सब पर भावोंसे भिन्न होना और अपने भावोंकी स्वरूपसत्तामें रहना। सबसे न्यारे और अपने ज्ञायक स्वरूपमें रहनेवाले आत्माका काम ज्ञाता द्रष्टा रहना है। ये विकल्पतरंगे जो उठती हैं वे शुद्ध आत्माकी कुछ नहीं हैं। संसारमें लगानेवाली तरंगें उठें. चाहे मोक्षमार्गमें लगानेवाली तरंगें उटें, किसी भी प्रकारकी तरंगोंका होना शुद्ध आत्माकी वृत्ति नहीं है। इसलिए हे वीर्याचार! तुम इस शुद्ध आत्माके कुछ नहीं हो, यह मैं निश्चयसे जानता हूं। तो भी वीर्याचारके प्रसादसे चूंकि मोक्षमार्गमें सफलता मिलती है तो हे वीर्याचार! मैं तुमको ग्रहण करता हूं जबतक तुम्हारे प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको, ज्ञाता द्रष्टा रहनेके रूपको न प्राप्त करलूं। इस प्रकार घर परिवार बंधुवर्ग सबसे पूछकर, उनको छोड़कर किसी योग्य गुरु महाराजके पास दीक्षा लेनेके भावसे जाता हुआ यह ज्ञानी गृहस्थ संत ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपाचार और इन सब आचारोंमें लगानेवाला एक वीर्याचार इन ५ आचारोंको ग्रहण करनेका संकल्प करता है।

साधुका जितना भी प्रवृत्तिरूप धर्म है अथवा निवृत्तिरूप धर्म है वे सब धर्म इन ५ आचारोंमें गर्भित हो जाते हैं। इनमें भी ज्ञानाचार और दर्शनाचार तो आत्माके इन दो मुख्य गुणोंकी उपासना वाले हैं और ज्ञानाचार दर्शनाचारमें अभेद पूर्वक लगने की जो वृत्ति है उसका नाम है चारित्राचार। चारित्राचार ज्ञानाचार और दर्शनाचारके विकास करने के लिए जो तप किया जाता है उसका नाम है तपाचार और इन आचारोंके पालनमें शक्ति न छुपाना सो वीर्याचार है।

आचारोंका प्रयोजन ज्ञान दर्शनकी सिद्धि—इन ५ आचारोंमें से मुख्य बातें दो ही हैं (१) ज्ञानकी सिद्धि और (२) दर्शनकी सिद्धि। ज्ञान और दर्शन गुणों की सिद्धि के लिए ये सब आचार किये जाते हैं। ज्ञान और दर्शन की सिद्धिके लिये जो भी आचार है वह केवल सहायक है। जबतक ज्ञान

और दर्शनका शुद्ध विकाश नहीं होता है तबतक जिस प्रवृत्ति और निवृत्तिसे ज्ञानदर्शनके विकाशमें सहायता मिले और ज्ञानदर्शनके विकाशकी योग्यता बढ़े, उन-उन समस्त अन्य-अन्य आचारोंकी आवश्यकता है। मुख्यता तो ज्ञानाचार और दर्शनाचारकी है। यह जीव बाह्य पदार्थोंका मात्र जाननहार रहे और बाह्य पदार्थोंका जाननहार होने वाले इस आत्माको यह उपयोग ग्रहण करता रहे बस, ये दो काम ही इस आत्माके लिए आवश्यक हैं। और यही स्थिति जब शुद्ध बन जाती है, उसी को परमात्मा देव कहते हैं। भगवत्ता प्रकट होना इन ५ आचारोंका फल है। इस लिए मूलगुण परिषहविजय और नाना प्रकारके आचारोंका वर्णन न करके आचार्यदेवने सबसे पहिले सीधे इन ५ आचारोंका वर्णन कर दिया है, क्योंकि जितने भी आचार हैं उन सब आचारोंका उद्देश्य शुद्ध ज्ञान और दर्शनका विकास होना बताया है इस तरह यह ज्ञानी संत अन्य आचारोंकी चर्चा न करके प्रथम ही जो ज्ञान दर्शनाचारका तप है और इनकी स्थिरताके साधक तीन आचार हैं इन्हीं आचारोंके सम्बंधमें विचार करता है। इसके आगे यह कैसा और क्या क्या होता है इसका उपदेश दिया है।

सम्यग्ज्ञान का फल उपेक्षा :—एक गृहस्थ जिसने कि वस्तुके स्वरूपका ज्ञान किया है और सब पदार्थोंको स्वतंत्र अपने अपने स्वरूपमें जान लिया है, उसे वैराग्य हो जाता है। वह किसी परवस्तुमें रमनेका भाव नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि यह सर्व मेरा स्वरूप नहीं है और समस्त परवस्तुओंका स्वरूप मुझसे अत्यन्त भिन्न है। किसी भी पर पदार्थमें मेरा कोई दखल नहीं है। तब फिर मैं किसमें क्या करूँ? किसमें क्या भोगूं? ऐसा वस्तु स्वरूपका ज्ञान करनेसे उसे अब परमें रुचि नहीं रही और मात्र आत्महितकी रुचि रही तो आत्मसाधनाके लिए गुरुके पास जा रहा है कि कहीं कोई मुनिराज आचार्यदेव मिलें तो उनके सत्संगमें रहकर उनकी शिक्षा दीक्षामें रहकर अपना आत्मकल्याण करें। जब गृहस्थ अपना घरबार छोड़ कर सर्व प्रकारकी ममताको तजकर गुरुके पास जाता है तो वहां कैसा क्या बनता है इस बातका वर्णन इस गाथामें कररहे हैं :—

समणं गणिं कुलड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तंपि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

जो गृहस्थ समता परिणाम चाहता है वह किसी गुरुके पास जाकर विनम्रीभूत होता है और गुरुमहाराज उसे शिक्षा देकर अनुगृहीत करते हैं।

यह कदम तभी उठ सकता है जब कि यह अपनेको विदित होजाय कि मेरा आत्मा अकेला है, मेरा स्वरूप सबसे भिन्न है, सुख दुःख जन्म-मरण सर्व अवस्थाओंमें केवल अकेला रहता हूं, अकेला ही संसारमें घूमता हूं, अकेला ही मोक्षमार्गमें लगता हूं और मुक्त होकर अकेला ही अनन्त विकाश को भोगूंगा। जब यह विदित हो जाता है तब यह उत्सुकता होती है कि मैं अब किसमें लगूं ? किसको जानूं ? कहाँ रहूं तो मुझे शांति मिले ? अशान्तिका मूल ममता है। सो कैसी दृष्टि करूं जिससे पर पदार्थोंमें ममता परिणाम न रहे ? इसी सब हितकार्यके लिये अब वह आचार्य महाराजके पास जारहा है।

शरणयोग्य आचार्यकी विशेषता :—जिस आचार्यके पास जारहा है वह आचार्य कैसा होना चाहिए ? किससे हितकी आशा हो सकती है ? इसका वर्णन किया जारहा है। आचार्य महाराज समताके निधान होना चाहिए। अगर रागद्वेष उनमें लगा हैं सो वे स्वयं रागी द्वेषी हैं और रागद्वेष मोह मिटानेके लिए गुरु महाराजकी शरण पकड़ रहे हैं तो बताओ जो स्वयं रागी द्वेषी है उससे अपना कल्याण कैसे हो सकता है ? यदि गुरुदेव समताके निधान हों तो उनसे कल्याणकी आशा हो सकती है। समता कब हो ? जब प्रत्येक बातमें समान बुद्धि हो। दुश्मन हो, मित्र हो फिर भी उनके लिए समान हों। महल हो, मसान हो उनके लिए सब एक हो, कोई निन्दा करता हो, कोई बड़ाई करता हो तो दोनों ही उनके लिए समान हों। यदि ऐसी भावना नहीं है तो समताकी बुद्धि नहीं हो सकती है।

गृहस्थीके प्रसंगमें सम्हालकी विशेष आवश्यकता :—यह गृहस्थीका प्रसंग ही ऐसा है जिसमें आजीविका भी चाहिए, भोगसाधना भी चाहिए, अनेक चीजें आवश्यक हैं। तो यहाँ समता नहीं हो सकती है, रागद्वेष कुछ न कुछ हुआ ही करेंगे। गृहस्थीमें रहें और रागद्वेष न हो ऐसा नहीं हो सकता है, किसी न किसी प्रसंगसे रागी द्वेषी होना ही पड़ेगा। और जहाँ रागद्वेष हैं वहाँ आकुलताएं हैं, जहां आकुलताएं हैं वहां संसार है। इसी कारण गृहस्थीका वातावरण छोड़कर ही आत्मकल्याण किया जा सकता है। फिर भी जबतक गृहस्थावस्था है तबतक गृहस्थधर्मका योग्य पालन किया जाय। उसका भी धर्मविधान है जिसे गृहस्थधर्म कहते हैं। गृहस्थधर्ममें सबसे बड़ा काम यह है कि मनमें यह उत्सुकता होनी चाहिए कि कब इस गृह

जंजालको छोड़कर केवल आत्मसाधनामें लगूं। यदि यह भावना न रही तो गृहस्थधर्म भी नहीं निभाया जा सकता है।

आत्महितार्थीका गृहस्थीमें रुचिका अभाव—गृहस्थका नाम है 'उपासक' गृहस्थीमें भी रहता हुआ जो मुनिधर्मकी उपासना करे उसे कहते हैं उपासक अर्थात् उसे यह जाल माया दीखती है, वह गृहस्थीमें रमना नहीं चाहता है। गृहस्थीमें केवल रहरहा है। किन्तु चित्त है साधुधर्मकी उपासनामें। योग्यता बढ़ती है इसी कारण साधुधर्मकी उपासना करनेके बाद साधुव्रत अंगीकार करें और एक लगनसे धर्ममार्गमें लगें तो विधिवत् प्रगति होती है। यदि कोई गृहस्थ गृहस्थीके मायाजालमें है तो वह गृहस्थधर्म भी नहीं पाल सकता है। गृहस्थ धर्म भी तभी निभाया जा सकता है जब गृहस्थीमें रुचि न हो। इसलिए सबसे पहिले यह काम करना है कि गृहस्थीमें रुचि न रहे। यह बात तब बन सकती है जब ज्ञानका सम्बंध हो। ज्ञान विना तो मोह बढ़ेगा ही; और मोहमें कोई जीव आराम नहीं पा सकता है। सो मोहका त्याग करना बहुत आवश्यक बात है।

समताके निधान—यह विरक्त गृहस्थ नाना कल्याणकी आशाएं रखता हुआ गुरुके पास जारहा है। वह गुरुदेव कैसा है? श्रमण है अर्थात् समान बुद्धिवाला है; यहाँ तक समान बुद्धि है कि अनेक प्रकारके धर्माचारोंका आचरण भी किया और दूसरोंसे आचरण कराया जिसमें समस्तविरति और समिति प्रवृत्ति करणीय होती है फिर भी उपयोगमें उस कर्त्तव्यमें भी लगाव बुद्धि नहीं है। समान आत्म-स्वरूपकी निरन्तर प्रतीति रहती है।

विशिष्टगुणसम्पन्नता—इस प्रकार समताके आचरणकी आचरणता में ये प्रवीण हैं। जिनकी मुद्रा मूर्ति निरखकर दूसरे जीव समता पानेकी शिक्षा लेते हैं। अनेक प्रकारकी अवस्थाओंवाले जन मुनिराज होते हैं, अनेक पुरुष तो राजपाट छोड़कर श्रमण हुए हैं। उनकी मुद्रा और धैर्यको देखकर ऐसा चित्त चाहता है कि यह सब जगजाल केवल क्लेशही लगता है। तो यदि क्लेश छूट सकते हैं तो मोह परिणामसे हटकर ही छूट सकते हैं। अतः निर्मोह और शुद्धाचारी श्रमणका शरण ही लेता है वह। सो आचार्यके पास यह विरक्त गृहस्थ दीक्षार्थ पहुँचता है।

साधु बननेका पात्र गृहस्थ—भैया! साधु वही बन सकता है जिसने गृहस्थावस्थामें रहकर उपासकीयपद्धतिसे गृहस्थधर्मका पालन किया हो। गृहस्थके छः कर्त्तव्य हैं। (१) देवपूजा, (२) गुरूपास्ति (३) स्वाध्याय, (४) संयम, (५) तप

और (६) दान । पहिले देवपूजागें है भगवानकी भक्ति करना । भगवानका स्मरण करना । जो आत्मा रागद्वेषसे रहित है, सर्वज्ञ है सब प्रकारसे मुक्त है, वह भगवान है । भगवानके गुणोंका स्मरण करना गृहस्थका एक आवश्यक कर्त्तव्य है । दूसरा कर्त्तव्य है गुरूपास्ति । गुरुवोंकी उपासना करना, उनसे शिक्षा लेना, उनके साथ विनयका व्यवहार रखना । तीसरा काम है गृहस्थका स्वाध्याय करना । २४ घंटे अपने योंही अनेकों गृहस्थ भाई वर्वाद कर देते हैं । ठीक है, अपनी आजीविकामें लगते तो पांच सात घंटे आजीविकामें लग गये वाकी समय गप्पों कहानियोंमें ही तो लग जाता है । इस खाली समयको व्यर्थ न गंवाकर कुछ समय कोई सरल ग्रंथ लेकर उनका अध्ययन करना चाहिए, स्वाध्याय करना चाहिए । इस स्वाध्यायसे अपनी कुछ खवर रहती है कि हम कहां जारहे हैं, किस रास्ते पर चल रहे हैं, तो स्वाध्याय गृहस्थका तीसरा कर्त्तव्य है । गृहस्थका चौथा कर्तव्य है संयम । यद्यपि वैभव है, सर्व प्रकारके भोगसाधन हैं फिर भी उन साधनोंमें लिप्त न हो जाएँ, संयमसे रहें । भोजनका संयम रहे, वोलनेका संयम रहे । कमसे कम बोलना चाहिए, जैसा मन चाहे वैसी प्रवृत्ति न रखना चाहिए । अपना खुदका रहन सहन बड़ा सात्त्विक रखना चाहिए । अगर पैसा आपके पास है तो उसे दूसरोंके उपकारमें लगावो । दसलक्षणी पूजामें कहते हैं, ना कि खाया खोया वह गया । जो कुछ लगाया उपकारमें वह हाथ रह गया और जो अपनी इन्द्रियोंके भोगसाधनमें खर्च किया वह सव वह गया, कुछ भी हाथ नहीं रहा । सो गृहस्थको एक संयमवृत्तिसे रहना चाहिए । तप भी गृहस्थका कर्तव्य है । इच्छावोंका निरोध करना सो तप है । इच्छा हुई कि आज कोई चीज खाना है तो ऐसी भावना क्यों हुई है ? उस चीजका त्याग कर दो । जिस चीजकी इच्छा हुई उसका त्याग कर देना, अप्राप्त वैभवकी तृष्णा न करना, प्राप्त वैभवको अध्रुव मानना यही गृहस्थ का तप है । गृहस्थका छठवां कर्तव्य है दान । आजीविकामें जो पाप लगते हैं वे दानसे धुल जाते हैं । भैया, कोई न कोई कार्य किए विना धनकी कमाई नहीं होती है । प्रतिदिनका यह कर्त्तव्य है कि गृहस्थ कुछ न कुछ दान दिया करे । यों ६ प्रकारके कर्त्तव्य गृहस्थको करने हैं । उन दानोंमें मुख्य दान साधुवोंका अतिथिसंविभाग है, इसमें यह जाना जाता है कि साधुवोंको किस प्रकारसे आहार लेना चाहिए । अगर आहार देना नहीं सीखेंगे और भी गुरुकी उपासनामें न रहेंगे तो खुद साधु बनकर आहार

कैसे लेंगे, चारित्र कैसे पालेंगे। परमार्थसाधनामें मुख्य दान ज्ञानदान है।

दीक्षार्थीका गुणी गुरुके पास गमन :—ज्ञानभावना द्वारा विरक्त हुआ गृहस्थ साधुके पास जारहा है। कैसा है वह गुरु। वह गुरु अनेक गुणों करिके सहित है। जिसमें गुण नहीं है, जो रागद्वेषोंका पुतला है, कषायोंसे भरा हुआ है, तो क्या उससे कुछ लाभ मिलेगा ? कुछ भी लाभ न मिलेगा। जो साधु गुणी है, अपने दर्शनज्ञानसे परिणमा करता है, साधना करता है, तपस्या करता है ऐसे गुणी गुरूके पास वह विरक्त संत जारहा है।

दीक्षार्थीका उत्तमकुलवान गुरुके पास गमन :—यह ज्ञानी संत उत्तम कुल वाले गुरूके समीप जारहा है। छोटे कुलमें उत्पन्न होनेवाला साधु भी होजाय तो उस कुलकी कोई न कोई तुच्छताकी बात रह जाती है। और जो उत्तम कुलका हो तो उसमें मौलिक परम्पराके ही अनुसार उदारता बसा करती है इसलिए कुल उत्तम होना चाहिए क्योंकि उत्तम कुलमें परम्परासे कोई दोष नहीं रहता है। जिस कुलमें झूठ, चोरी, कुशील, अन्याय इत्यादिकी चेष्टाएँ नहीं होती हैं, जो पीढ़ी निर्दोषवृत्तिसे चली आयी है, उसे उत्तम कुल कहते हैं। ऐसा दोषरहित उत्तम कुल गुरुका होना चाहिए।

रूपविशिष्ट गुरुदेव :—वे गुरुदेव कैसे हों ? पहिली बात यह है कि गुणवान हों। दूसरी बात यह है कि उत्तम कुलका हो और तीसरी बात यह है कि उसमें रूपविशिष्टता हो अर्थात् जिस बाहरी रूपको देखकर, मुद्राको देखकर अनुमान हो जाय कि इसका अंतरंग भी बहुत पवित्र है। अंतरंगकी पवित्रताका अनुमान करानेवाला बहिरंग शुद्ध आत्मरूप हो। ऐसा रूप हो, भेषभूषा भी पवित्र हो, तथा संयम, भी अच्छा हो। जिसका चलनेका ढंग भी खोटा है, मुद्रा भी कषायभावको झलकानेवाली है ऐसे आचार्यका प्रभाव नहीं पड़ता। ऐसे रूपविशिष्ट आचार्यके पास वह पहुँचता है। यहां तीन बातें कही गयी हैं। जिस गुरुके पास वह जारहा है प्रथम तो वह गुणी होना चाहिए, दूसरे उत्तम कुलका होना चाहिए, तीसरे रूप बिशिष्ट होना चाहिए।

वयोविशिष्ट गुरुके पास दीक्षार्थीका गमन :—अब चौथी बात बताते हैं गुरुमें वयकी विशिष्टता होनी चाहिए। अर्थात् उनकी अवस्था सही हो, न तो अत्यन्त छोटी अवस्था हो और न अत्यन्त वृद्धावस्था हो, न जवान अवस्थाके विकारवाली हो। अगर वह आचार्य छोटी अवस्थाका होगा तो उसमें बचपन चलेगा। छोटी अवस्थावाला चाहे कितना ही गुणी होजाय पर उसके लड़क-

पन उमड़ सकता है और उस लड़कपनमें अनेक व्यवहारप्रवृत्तियां हो सकती हैं जिससे खुदकी हानि है और दूसरोंकी हानि है। ऐसा गुरुदेव जिसकी शरणमें वह जारहा है बाल्यावस्थावाला न हो। यद्यपि बाल्यावस्थामें भी मुनि अपना कल्याण कर सकता है मगर बाल्यावस्थामें मुनि दूसरोंका हित करनेमें प्रायः समर्थ नहीं है क्योंकि व्यवहारवृत्तिका अनुभव जैसे-जैसे जीवनमें अनेकों प्रसंग देखे जाते हैं, बढ़ता जाता है। इसलिए गुरुदेव छोटी अवस्थाका न हो। इसीप्रकार वृद्ध अवस्थाका भी न हो क्योंकि बूढ़ा हो जानेपर इन्द्रियाँ शिथिल होजाती हैं। लोकमें भी कहा करते है कि ६० वर्षके बादमें जब वृद्ध हो जाते हैं तो परहित करनेकी क्षमता नहीं होती तो वृद्धावस्थाका भी गुरु न होना चाहिए। गुरु बच्चा भी न हो, बूढ़ा भी न हो। अगर जवान भी हो तो ऐसा हो कि जिसके विकार न हो। अगर जवान भी हो और विषयकषायोंकी वासनाका विकार पड़ा हुआ है तो वह भी दूसरोंका हित करनेमें समर्थ नहीं है। वह तो खुदका भी हित नहीं कर सकता है। इसलिए जवानीका विकार न हो। यदि विकाररहित गुरु हो तो वह हम आपका शरण हो सकता है तो एक विशेष बात यह भी होनी चाहिए क्या ? कि वयोविशिष्टता।

इष्टतर गुरु :—गुरुमें अंतिम गुण यह होना चाहिए कि साधुओं द्वारा इष्टतर हो अर्थात् उसे सब साधु चाहें। आचार्य कैसा होना चाहिए इसका वर्णन चल रहा है कि गुणी हो, उत्तम कुलमें उत्पन्न हो, रूपविशिष्ट हो, उत्तम अवस्थाका हो और अंतिम बात कहते हैं कि सब साधु उसे चाहते हों, सब साधुवोंका अनुराग हो। ऐसा ही व्यक्ति आचार्य हो सकता है। और ऐसी ही जगह रहकर शिष्य अपना कल्याण कर सकते हैं। आचार्य वही हो सकता है जिसने सर्व प्रकारका अवगम किया हो। सर्व आचारका पालन किया हो और जिसके किसी प्रकारका दोष नहीं हो। जिसकी निर्दोष चर्या है, जो सबका हित चाहता है, वही सबका प्यारा हो सकता है। जिसके सदाचार हो, और दूसरोंके हितकी भावना हो वही इष्टतर हो सकता है। भैया, दो बातें होना चाहिए सबके प्यारे होनेके लिये, सदाचार रहे और दूसरोंके हितकी भावना रहे। ये दो बातें यदि होगईं तो सबके प्रिय हो सकते हैं। पड़ौसियोंके प्रिय होनेको भी ये दो बातें हों, एक तो सबका हित करना और दूसरे सदाचारसे रहना। यदि हम खुद ठीक आचरणसे न रहे, तो हम दूसरोंके प्यारे नहीं हो सकते हैं। क्योंकि अपना ही आचरण खोटा है तो दूसरोंका हमारी ओर आकर्षण नहीं हो सकता है। दूसरोंपर

हमारा दयाका वर्ताव न हो तो हम कैसे सबके प्रिय हो सकते हैं। तो जो सबके प्रिय आचार्य होते हैं उनमें यह प्रियता दो बातोंपर निर्भर है। सदाचारसे रहना और दूसरोंके हितकी भावना होना।

शिष्यका निवेदन व आचार्यका अनुग्रह—आचार्य देव ५ आचारोंका पालन करते हैं और दूसरे सब शिष्योंपर उनकी समान एवं हितकी बुद्धि है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक् चरित्रसे वृद्धिगत होकर ये भव्य संसारसे सदाके लिए पार हो जाएँ, सारे संकटोंसे छूट जाएँ ऐसी उनकी भावना रहती है और खुद सदाचारी हैं। ऐसे आचार्य सभी साधुके प्रिय होते हैं। और मुमुक्षु जन तो चाहते हैं कि ऐसे गुरुके पास रहें, शांति मिले, निराकुलता प्राप्त हो। ढूंढ़ते-ढूंढ़ते ऐसे साधु पुरुष मिल जायें तो दीक्षा ले लेते हैं। वह विरक्त संत घरबार छोड़कर साधुकी तलासमें चला। ऐसा गुरु मिले तो उस गुरुकी शरणमें अपना निवेदन करता है कि हे प्रभो! मुझे ऐसी शिक्षा दो, मुझपर ऐसी कृपा करो कि मैं शुद्ध आत्मतत्त्वकी प्राप्ति करलूँ और संसारके बंधनसे सदाके लिए मुक्त हो जाऊँ। इस तरहके अनुभवकी इच्छा गुरुराजसे की जारही है। प्रार्थना करता है कि हे प्रभो! मुझे संसारसे उबारो। इस प्रकार शिष्य प्रार्थना करता है और गुरुसे आग्रह करता है, और दीक्षा लेकर संयमका काम निभाता है। वह दीक्षार्थी कैसा होता है इसका उपदेश अब आचार्य महाराज करते हैं।

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो॥२०४॥

जिसने पदार्थोंका यथार्थ ज्ञान किया है, जो समस्त एकाकी स्वतंत्र बस्तुवोंकी अपनी-अपनी स्वरूपकी सीमाको देखता है वह क्या करता है इसका वर्णन इस गाथामें किया जारहा है। मैं दूसरोंका नहीं हूं। दूसरे मेरे नहीं हैं ऐसा निश्चय करते हुए वह जितेन्द्रिय यथाजात रूपको धारण करता है। वास्तविक वैराग्य ज्ञानमूलक ही होता है।

अमृत क्या है?—भैया! वह अमृत कहाँ है जिसके पानसे अमर हो जाते हैं। समताको अमृत कहते हैं। समता ज्ञानका परिपूर्ण परिणाम है जहाँ ज्ञान है वहाँ समता है। इस कारण समताको अमृत कहें या ज्ञानको अमृत कहें, एक ही भाव है। लोकमें ये जन अमृतकी बड़ी तलासी करते हैं, ऐसा कोई फल मिल जाय अमृतका जिसके खानेसे अमर हो जाँय ऐसा कोई रस मिल जाय अमृतका कि जिसके पीनेसे अमर हो जाँय।

क्या भौतिक पदार्थोंमें कोई ऐसी हितकारी चीज है, क्या वह आम या लड्डू जैसी कोई भौतिक चीज होगी। क्या वह पानी या शर्वत जैसा कोई पेय पदार्थ होगा जिसके पीनेसे यह आत्मा अमर हो जायगा। ऐसा अमृत जगतमें अन्यत्र कहीं नहीं है। पहिले अमृतका ही अर्थ समझो। अमृत अर्थात् जो न मरे, जो अमर है वह अमृत है जो नष्ट न हो उसे अमृत कहते हैं। कल्पना किया गया कोई फल या पेय पदार्थ जब मुखसे खाओगे या पियोगे तो पहिले तो वही चीज नष्ट हो गयी। जो चीज नष्ट हो गयी वह दूसरेको बचा सके ऐसा कैसे हो सकता है। अमृत केवल ज्ञानभाव का नाम है। यह ज्ञानभाव, यह ज्ञान स्वभाव अमर है, नष्ट नहीं होता है और साथ ही यह ज्ञान यदि शुद्ध ज्ञानरूपमें रहे तो इसके परिणाममें विलक्षण अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है। वह शुद्ध ज्ञान और आनन्द की भक्ति वाला आत्मा अमर है। आत्मा अमर है ही। आत्मा ही क्या जगतमें जितने भी पदार्थ हैं वे सब अमर हैं। कोई पदार्थ नष्ट नहीं होता है, पदार्थकी मात्र पर्यायें बदलती रहती हैं।

आनन्दस्वभावी आत्माके कल्पनाओंका संकट :—भैया, इस आत्माको कोई कष्ट नहीं है किन्तु इसने अपने स्वभावकी दृष्टिसे चिगकर वाह्य पदार्थोंमें दृष्टि लगाया है, ऊधम मचाया है इससे स्वयं दुःखी होरहा है। वस्तुतः आत्मामें क्लेश उत्पन्न हों ऐसा स्वभाव है ही नहीं। तव उस आनन्दको पाने के लिए हमें समताकी जरूरत है। हम विश्वासमें अपनेको प्रभुस्वरूपसे भी कम न समझें और अपनेको लोकके किसी भी जीवसे वड़ा न समझें। जितने जीव है उन सबका स्वरूप एक समान है। पुण्यका उदय पाकर और लोक प्रतिष्ठा पाकर या धन वैभव पाकर जो महान हैं, सम्भव है कि उनके अन्तरमें विकार परिणाम भी रहता हो जिसके फलमें वे जीव जो अपनेको दूसरोंसे अपने विश्वासमें महान् समझते हैं कहो वे सारे तुच्छ महान् होजावे और यह कल्पित महान् तुच्छ गतियोंको प्राप्त हो जावे और जो जिसे तुच्छ समझता है उस तुच्छ व्यक्तिके ही यदि भाव निर्मल हैं, तो वह निकट भविष्यमें उससे भी उच्च वन सकता है। ये तो संसारकी दशाएँ हैं। संसार की अवस्थासे कुछ अपने वड़प्पनका निर्णय न करो। यह सव नाटक है। किन्तु अपने आपमें बसे हुए ध्रुव त्रैकालिक ज्ञान स्वभावका आदर करके अपने आपको उत्कृष्ट विकाशमें ले जावो।

स्वयंकी उत्तम वृत्तिकी वास्तवमें शरणता :—भैया, इस लोकमें किसीका

भरोसा नही है कि कोई मुझे सुखी करेगा। सभी जीव अपने अपने विषय कषायोंके साथी हैं। दूसरोसे मुझे शरण मिल सके यह बात न होगी। जब तक मेरे निमित्तसे दूसरे जीवोंको विषय कषायोंकी या उनकी इच्छाकी पूर्तिमें सहायता मिलती है तब तक वे दूसरे मुझे चाहते हैं और जब मैं उनकी आशाके प्रतिकूल हो गया तो वे मुझे न चाहेंगे। कौन मेरा भला कर सकता है। इस लोकमें जो जीव कदाचित मेरी भलाईमें उपकारमें सेवा सुश्रूषा में पालन पोषणमें लगे है वे जब तक मेरा सदाचार है, सद् व्यवहार है तब तक साथी है ऐसा अपने मनमें निर्णय करो। स्वयं दुराचारी हों स्वयं मूढ़ हो और फिर दूसरे पूछ लेवें ऐसा नहीं होता। इस कारण जो दूसरे कर्म हम आपको शरण होते है वे हम और आपको देख करके शरण नहीं होते, किन्तु हमारे आपके सदाचारके कारण, ज्ञानके कारण वे शरण होते हैं। तो खुद का आचरण उत्तम हो, ज्ञान और श्रद्धान उत्तम हो तो इसके अनेकों जन शरण बन जायेंगे, मददगार बन जायेंगे। तो मूलमें अपने आपका श्रद्धान ज्ञान और आचरण ही शुद्ध शरण है।

अन्तर्वाह्य यथाजातरूपता :—जो समताके, ज्ञानवृत्तिके कारणभूत यथाजात रूपका धारी होता है वही साक्षात् श्रमण है। यथाजात रूपका अर्थ है बाह्यमें निर्दोष रूप और अंतरङ्गमें निर्दोष रूप वर्तना। बाह्यमें जैसे शरीरातिरिक्त कोई पर उपाधि नही है इसी प्रकार अपने अंतरंग आत्मामें भी रागद्वेषादिक कोई विकार नहीं, ऐसी अपनी अध्यात्मकी तैयारीको कहते हैं यथाजातरूप। मैं दूसरोंका कुछ भी नही हूं और दूसरे भी मेरे कुछ नहीं हैं, क्योकि समस्त द्रव्योंका पर पदार्थोंके साथ कोई सम्बन्ध नही है। सर्व अपनी-अपनी न्यारी-न्यारी सत्तामें रह रहे हैं। वस्तुवोंकी स्वतन्त्रताकी परख करनेके लिये भैया अब कुछ वस्तुके ६ साधारण गुणोंका अवगम कीजिये।

प्रथम तीन साधारण गुण :—भैया सब पदार्थ है, यदि है ही नहीं तो उनके सम्बंधमें फिर आगे विचार क्या करना। बस यही अस्तित्व गुण कहलाता है। प्रत्येक पदार्थोंमें अस्तित्व गुण है। सत्ता है तभी तो वे हैं। प्रत्येक पदार्थमें अणु, अणुमें सत्ता है। ये सर्व पदार्थ अस्तित्व गुण करके तन्मय हैं पर एक बात सोचो कि सभी पदार्थ यह करने लगे कि चूंकि हमें अस्तित्व गुणका अधिकार मिल गया है। मैं हूं ना, मैं हूं, चाहे जो कुछ मैं रहूं, चाहे मैं चौकी हो जाऊँ, चाहे जो हो जाऊँ। होनेका अधिकार यदि है तो मैं किसी रूप पसरू, यों यदि पदार्थ पसरने लगेगा तो किसी पदार्थमें अस्तित्व नहीं

रहेगा, वह पदार्थ मिट जायगा। यह आपत्ति वस्तुमें नहीं है इसका निर्देशक दूसरा गुण है, वस्तुत्व गुण। अर्थात् वे पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं परके स्वरूपसे नहीं हैं। इतनेपर भी पदार्थ तो हैं ही बने हैं अर्थात् वह रंच परिणमे नहीं तो भी पदार्थ रह नहीं सकता। जितने पदार्थ हैं उन सबमें यह स्वाभाविक गुण हैं कि वे निरन्तर परिणमते रहते हैं। पदार्थों का स्वरूप कहा जारहा है। इस स्वरूपावलोकनसे ही मोह कटता है मोह काटनेके लिए आप कितने ही उपाय कर डालें, मोह तब तक नहीं मिटेगा जब तक पदार्थोंके स्वरूपास्तित्व का भान नहीं होता है।

अपने भ्रममें भ्रमण :—यह जीव अनादिकालसे अपने स्वरूपको भुलाकर किन-किन गतियोंमें भटकता चला आया है। निगोद जीव रहा तब एक श्वासमें १८ बार जन्म मरण किया। अन्य स्थावर बना वहाँ भी लोगोंने इसे पकाया, कूटा, छेदा, सब प्रकारसे इसकी बर्बादी की। फिर दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय, असंज्ञी जीव हुआ तो कौन परवाह करता है कि देखकर चलें। कीड़ों मकोड़ोंको कितने ही लोग जानकर नालवाले जूतों से दबोचकर आनन्दका अनुभव लेना चाहते हैं। कितने ही लोग चूहों को पकड़कर उनकी कैसी कैसी हालत करते हैं। पूछमें रस्सी बाँध देते हैं फिर उसे आगके पास ले जाते हैं। जब वह विह्वल हो जाता है तो लोग मौज लेते हैं। दूसरे जीवोंको सताकर लोग मौज लेना चाहते हैं कितना कष्ट हैं इन पशुपक्षियोंको।

मुर्गी, बकरे मारनेवाले लोग ही मरकर ये सब बनते जाते हैं और जो बननेवाले हैं वे भी बनते जारहे हैं। इसी कारण उनकी संख्यामें कमी नहीं आती है। खैर प्रयोजन यह है कि यह संसार सब दुःखमय हैं।

मनुष्यभवकी भी दुःखमयता :—मनुष्य भी कितना दुःखी है। सो अपनी अपनी बात देखलो अपने आपको टटोलकर देखलो। धन वैभव मिलता है तो वहां भी शांति नहीं है, निर्धनता है तो वहां भी शांति नहीं है, पुत्र है तो वहां भी शांति नहीं है पुत्र नहीं है तो वहां भी शांति नहीं है, पुत्र कपूत है तो भी शांति नहीं है, पुत्र सपूत है तो भी शांति नहीं है। यदि पुत्र कुपूत है तो उसे दिलसे हटा दिया और लोगोंमें यह कह दिया कि यह मेरा पुत्र नहीं है। यदि इससे तुम लेन-देन करो तो तुम जानो। पर यदि पुत्र सपूत है, आज्ञाकारी है, अपने लिए भला है तो उससे मोह करके राग करके यही इच्छा होगी कि इसे हम सुखी रखें। इसको हम धनी बना जावें, इसकी पांच सात पीढ़ी तक को मजबूत कर जावें। तो वह धन वैभवके संचयमें ही लिप्त रहता है कठिन श्रम करता है। इस तरहसे उसे शांति नहीं मिलती है। परपदार्थों का समागम मिला वहां तो शांति है ही नहीं। यह ज्ञान जगे तो शान्ति होगी।

वस्तुका चतुर्थ साधारण गुणः—हां, तो साधारण गुणोंका वर्णन चल रहा था। परपदार्थ अपने आपकी परिणति से परिणमते रहते हैं। और यदि वे पदार्थ यों ऊधम मचाने लगे कि मुझे तो परिणमनेका अधिकार मिला है तो मैं किसी भी रूप परिणम जाऊं। मैं आपकी परिणतिसे परिणम जाऊं मैं अन्य पदार्थोंकी परिणतिसे परिणम जाऊं। परिणमनेका मेरा कार्य है। तो इससे विप्लव मच जायगा। इसके नियन्त्रणके लिये अब अगुरुलघुत्व गुण आता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु केवल अपने ही स्वरूपमें परिणमेगी। वह दूसरेसे मिलकर नहीं परिणमेगी। यह पदार्थोंका स्वरूप कहा जारहा है। जिसने यह निर्णय रखा है कि किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ नहीं लगता। जबतक यह बात समझमें न आयगी तबतक मौलिक वैराग्य नहीं हो सकता। तबतक मोक्षमार्ग नहीं प्राप्त हो सकता। धर्म और प्रभुताके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसा सर्व प्रकारका विचार करके वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करो। ज्ञान बिना मोक्ष मार्ग नहीं मिलेगा। अगुरुलघुत्व गुणके प्रसादसे हम यह निर्णय कर चुके कि प्रत्येक पदार्थ केवल अपनेमें ही परिणमते है। मैं अपनेमें ही अपना काम करता हूं।

रहेगा, वह पदार्थ मिट जायगा। यह आपत्ति वस्तुमें नहीं है इसका निर्देशक दूसरा गुण है, वस्तुत्व गुण। अर्थात् वे पदार्थ अपने स्वरूपसे हैं परके स्वरूपसे नहीं हैं। इतनेपर भी पदार्थ तो हैं ही बने हैं अर्थात् वह रंच परिणमे नहीं तो भी पदार्थ रह नहीं सकता। जितने पदार्थ है उन सबमें यह स्वाभाविक गुण हैं कि वे निरन्तर परिणमते रहते हैं। पदार्थों का स्वरूप कहा जारहा है। इस स्वरूपावलोकनसे ही मोह कटता है मोह काटनेके लिए आप कितने ही उपाय कर डालें, मोह तब तक नहीं मिटेगा जब तक पदार्थोंके स्वरूपास्तित्व का भान नहीं होता है।

अपने भ्रममें भ्रमण :—यह जीव अनादिकालसे अपने स्वरूपको भुलाकर किन-किन गतियोंमें भटकता चला आया है। निगोद जीव रहा तब एक श्वासमें १८ वार जन्म मरण किया। अन्य स्थावर बना वहाँ भी लोगोंने इसे पकाया, कूटा, छेदा, सब प्रकारसे इसकी बर्बादी की। फिर दोइन्द्रिय तीन इन्द्रिय चार इन्द्रिय, असंज्ञी जीव हुआ तो कौन परवाह करता है कि देखकर चलें। कीड़ों मकोड़ोंको कितने ही लोग जानकर नालवाले जूतों से दबोचकर आनन्दका अनुभव लेना चाहते हैं। कितने ही लोग चूहों को पकड़कर उनकी कैसी कैसी हालत करते हैं। पूछमें रस्सी बाँध देते हैं फिर उसे आगके पास ले जाते हैं। जब वह विह्वल हो जाता है तो लोग मौज लेते हैं। दूसरे जीवोंको सताकर लोग मौज लेना चाहते हैं कितना कष्ट हैं इन पशुपक्षियोंको।

संसारकी दुःखमयता :—आज देखा जाय मांस भक्षण करने वालोंकी संख्या व्यापक दृष्टिकी निगाहसे तो ९६-९७ प्रतिशत मनुष्य मांस भक्षण वाले मिलेंगे। यहां हम आप त्याग कर बैठे हैं। अथवा हम आपको इस देश में मांस भक्षणके त्यागियोंका समागम है इस कारण ऐसा लगता है कि मांसभक्षी लोग कम हैं पर और देशोंमें बिहार करके देख लो, घूम करके देख लो, कहीं कहीं तो प्रायः शत प्रतिशत मांसभक्षी मिलेंगे। मांस भक्षणसे जीवों पर क्या गुजर रहा है इसका ख्याल नहीं करते। अरे वे जीव हम आप ही तो हैं। दूसरे जीवोंको सताएं उसका अर्थ यह है कि हम अपने आपको सता रहे हैं। सतानेवाले लोग मरकर प्रायः वे ही पशु पक्षी होते है जिन्हें सताया गया है। एक बार किसीने पूछा कि बकरे, मुर्गियाँ कितनी ही तो मारी जाती हैं और फिर भी उनकी संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ती ही रहती है। यह क्या बात है ? तो उत्तर में यह बात आई कि सूकर, मुर्गा,

मुर्गी, बकरे मारनेवाले लोग ही मरकर ये सब बनते जाते हैं और जो बनने वाले हैं वे भी बनते जारहे हैं। इसी कारण उनकी संख्यामें कमी नहीं आती है। खैर प्रयोजन यह है कि यह संसार सब दुःखमय हैं।

मनुष्यभवकी भी दुःखमयता :—मनुष्य भी कितना दुःखी है। सो अपनी अपनी बात देखलो अपने आपको टटोलकर देखलो। धन वैभव मिलता है तो वहां भी शांति नहीं है, निर्धनता है तो वहां भी शांति नहीं है, पुत्र है तो वहां भी शांति नहीं है पुत्र नहीं है तो वहां भी शांति नहीं है, पुत्र कपूत है तो भी शांति नहीं है, पुत्र सपूत है तो भी शांति नहीं है। यदि पुत्र कुपूत है तो उसे दिलसे हटा दिया और लोगोंमें यह कह दिया कि यह मेरा पुत्र नहीं है। यदि इससे तुम लेन-देन करो तो तुम जानो। पर यदि पुत्र सपूत है, आज्ञाकारी है, अपने लिए भला है तो उससे मोह करके राग करके यही इच्छा होगी कि इसे हम सुखी रखें। इसको हम धनी बना जावें, इसकी पांच सात पीढ़ी तक को मजबूत कर जावें। तो वह धन वैभवके संचयमें ही लिप्त रहता है कठिन श्रम करता है। इस तरहसे उसे शांति नहीं मिलती है। परपदार्थों का समागम मिला वहां तो शांति है ही नहीं। यह ज्ञान जगे तो शान्ति होगी।

वस्तुका चतुर्थ साधारण गुणः—हां, तो साधारण गुणोंका वर्णन चल रहा था। परपदार्थ अपने आपकी परिणति से परिणमते रहते हैं। और यदि वे पदार्थ यों ऊधम मचाने लगे कि मुझे तो परिणमनेका अधिकार मिला है तो मैं किसी भी रूप परिणाम जाऊं। मैं आपकी परिणतिसे परिणाम जाऊं मैं अन्य पदार्थोंकी परिणतिसे परिणाम जाऊं। परिणमनेका मेरा कार्य है। तो इससे विप्लव मच जायगा। इसके नियन्त्रणके लिये अब अगुरुलघुत्व गुण आता है अर्थात् प्रत्येक वस्तु केवल अपने ही स्वरूपमें परिणमेगी। वह दूसरेसे मिलकर नहीं परिणमेगी। यह पदार्थोंका स्वरूप कहा जारहा है। जिसने यह निर्णय रखा है कि किसी पदार्थका कोई दूसरा पदार्थ कुछ नहीं लगता। जबतक यह बात समझमें न आयगी तबतक मौलिक वैराग्य नहीं हो सकता। तबतक मोक्षमार्ग नहीं प्राप्त हो सकता। धर्म और प्रभुताके दर्शन नहीं हो सकते। ऐसा सर्व प्रकारका विचार करके वस्तु स्वरूपका यथार्थ ज्ञान करो। ज्ञान विना मोक्ष मार्ग नहीं मिलेगा। अगुरु-लघुत्व गुणके प्रसादसे हम यह निर्णय कर चुके कि प्रत्येक पदार्थके वल अपनेमें ही परिणमते है। मैं अपनेमें ही अपना काम करता हूं।

मेरा भावात्मक कार्य:—मेरा स्वरूप अमूर्त है किसी पदार्थको छूने की भी ताकत नहीं है। मैं यह अमूर्त ज्ञान और आनन्द स्वरूप केवल ज्ञान और आनन्द का ही परिणमन करता हूं। इसके आगे लोकमें मेरा कोई कार्य नहीं है। जैसे संसार अवस्था में जब मोहके कारण उसका बिगाड़ ही था उस समय भी ज्ञान और आनन्दका भी विकृत कार्य करता था। वह किसी पदार्थ का कुछ भी बिगाड़ नहीं कर सका बल्कि अपना ही बिगाड़ किया। ऐसा निर्णय आये बिना मोह न छूटेगा।

मोह ही सर्व संकट:—अच्छा लो मोह खूब करलो पर मोह करके फल क्या पावोगे ? क्या कभी बूढ़े न होगे ? क्या कभी मृत्यु न आयेगी। मोह करके तो कर्म बंध ही किया। अगले भवके लिए बतलाओ क्या किया ? कुछ तो अपने आपपर दया करके अपनी व्यवस्था की ओर आवो और यह निर्णय करो कि मैं भी मोह करके क्या करूं। ज्ञान करके क्या करूं, किसीसे शत्रुता करके क्या मौज मानूं ये सब तो भयंकर परिणाम देने वाले हैं। मैं सर्व विकल्पोंको त्यागकर केवल ज्ञानस्वरूप ध्रौव्य निज आत्मामें उपयोग दूं और इस प्रभुताके दर्शन करूं तो सुखी हो सकता हूं। प्रभुता के दर्शनमें बाधा देने वाले हैं तो पर्यायोंका अहंकार है। जैसे दर्पणमें जो अपने मुख को देखता है तो वह बड़ा गौरव अनुभव करता है। मैं कुछ हूं। लेकिन ये पर्यायबुद्धियाँ जीवोंको रुलाने वाली हैं। प्रभुता के दर्शनमें बाधक यह पर्यायमें व्यामोह है।

अहंकार प्रभुदृष्टिका बाधक—एक कथानक है कि एक गाँवमें एक नकटा था। उसे लोग चिढ़ाये। वह बड़ा परेशान होगया। लोग उसे नकटा कहकर पुकारें। जब वह परेशान होगया तो सोचा कि मैं ऐसा क्यों न करूं कि ये सारे नकटे हो जायें जिससे कि मुझे चिढ़ाने वाला कोई न रहे। एक पुरुष ने कहा नकटे ! वह बोला अजी तुम अभी नकटे होनेका स्वाद नहीं जानते हो। इस नाकके ओटमें भगवान तिरोहित रहता है तो यदि यह नाक न हो तो भगवानके दर्शन हों। भगवान नाक की ओटमें छिपा हुआ है। जब तक नाक है तब तक तुम प्रभुके दर्शन नहीं कर सकते। वह बोला यह तो बड़ी अच्छी बात है। मेरी भी नाक काट दो जिससे कि भगवान मुझे भी दिख जाय। इससे बढ़कर और क्या बात है तो उसकी नाक काट दिया। उसने कहा कि भगवान तो मुझे नहीं दिखते। तब मूल नकटाने कहा तुम बेवकूफ बन रहे हो, अब तो नाक कट ही गई। अब तो

सबसे यह कहो कि साक्षात भगवान दिखते हैं। जिससे औरोंकी नाक कटे, और कोई नकटा न कह सके। इस तरहसे नकटे बढ़ने लगे। सब यही बात कहें कि मुझे भगवानके साक्षात दर्शन होते हैं। अबतो सारा गांव नकटा हो गया। अब मौलिक नकटेको चिढ़ाने वाला कोई न रहा। एक दिन सभा जुड़ी, उसमें गाँवपति बैठा था केवल उसकी नाक न कटी थी। उसने सबसे कहा तुम सब नाक न रहनेसे बड़े सुन्दर लग रहे हो मेरी तो यह चिपकी नाक है यह अच्छी नहीं लगती है। भैया! जब सब लोक एक समान होते हैं तो सभी सुन्दर लगते हैं। यदि इस मनुष्यके जन्मसे नाक न होती तो क्या सुन्दर न कहलाता? सुन्दर कहलाता। वह गांवपति सोचता है कि सभी लोग बड़े सुन्दर दीख रहे हैं। वह लोगोंसे कहता है भैया तुम सब बड़े सुन्दर लगते हो तब कुछ लोगोंने कहा कि मेरे भी नाककी नोक थी किन्तु जबसे कटा ली तबसे प्रभु दीखते हैं। तब गांवपतिने कहा कि भैया मेरी भी नाककी नोक काटदो जिसमें मुझे भी भगवानके दर्शन हो जाएँ, तब वह मौलिक नकटा व्यक्ति बोला—महाराज ५ मिनट मुझसे एकांतमें बात करलो। तब एकान्तमें उसने सारा किस्सा सुना दिया। उसने बताया नाक कटनेसे भगवान नहीं दीख पड़ते, लोग मुझे नकटा कहकर चिढ़ाते थे इसलिए मैंने सबको नकटा बना दिया। अब मुझे चिढ़ाने वाला कोई नहीं रहा। खैर यह तो कथानक है। यहां नाकके माने हैं अहंकार, घमंड। जब तक अहंकार रहता है तब तक प्रभूके दर्शन नहीं होते हैं। अहंकार मिट जायगा तो सच्चिदानन्दमय प्रभुके दर्शन अवश्य होंगे।

अहङ्कारका लक्षण पर्यायबुद्धि :—वह अहंकार क्या है? पर्यायमें स्वमान्यता अहंकार है। मेरी बात नहीं मानी गयी है, मेरा कुछ ध्यान नहीं रखा। अरे वह मैं कुछ नहीं हूं। यह शरीर है वह तो खाक हो जायगा, जल जायगा। यह शरीर मैं नहीं हूं। अरे यदि तुम्हें अपनी आन रखना है तो अपना जो शुद्ध ज्ञानस्वरूप है उस ज्ञानस्वरूपका आदर करो, उपासना करो कि मैं ज्ञानमात्र हूं। ज्ञानभाव छोड़कर मैं अन्य कुछ नहीं हूं। ऐसा ध्यान करो। और ऐसा एक व्यावहारिक रूप दो अर्थात् मानो। किसी भी चीजका विकल्प न वसे। मैं ज्ञानमात्र हूं, ज्ञान होता है इतना ही तो कर्तापन है। ज्ञान होता है, इतना ही तो मेरा भोक्तापन है। ज्ञान है, इतना ही मेरा स्वरूप है। इस ज्ञानभावसे आगे मेरा कुछ भी नहीं है और न मेरा किसीसे वास्ता है। जरा हिम्मत करके दृढ़ताके साथ अपने इस स्वरूपको निहारो तो, प्रभुके दर्शन होंगे और शुद्ध स्वाभाविक आनन्द प्रकट होगा। तब अपने आपके अनुभवसे

तो विजयी नहीं कहला सकता, तू शांतिके मार्गमें नहीं जा सकता। इसलिए सर्व ओरसे आँखें मीचकर अन्तरमें अन्तर्ज्ञानसे अन्तरको देखो। लोकमें वही महान है जिसने अपने आपको निरखा है। जिसने अपने आपको नहीं निरखा उसे शांति नहीं मिल सकेगी। इस प्रकार यह विरक्त ज्ञानी संत आत्मद्रव्यकी दृष्टि रखता हुआ अन्तरमें नग्न रहा करता है केवल अपने ही रूपकी दृष्टिके स्वादमें लीन रहा करता है। यही शांतिको प्राप्त करने का उपाय है। सो वह विरक्त गृहस्थ अपने स्वरूपको ही अपनाता है।

ज्ञानीके सर्वत्र चैतन्यचमत्कारका दर्शन :—ज्ञानी संत निरंतर शुद्ध आत्मस्वरूपके दर्शनमें रहा करता है और इसी कारण बीचमें जब कभी दूसरे जीवोंपर दृष्टि होती है तो वहाँ भी ऐसा ही चैतन्य चमत्कार निरखता है जैसा कि वह अपनेमें अनुभव कर चुका है। उसके लिए जगतके जीव ऐसे मालूम होते हैं कि ये जबरदस्ती अथवा कौतूहल वस नाटक सा कर रहे हैं। हैं तो ये सभी शुद्ध। ये लोग लगनसे अन्तरमें योंवृत्ति वनारहे हैं यहकुछ कम नजर आता है और सब जीवोंमें वही आत्मस्वरूप दृष्ट होता है। जैसे भक्तजनोंको प्रत्येक प्राणियोंमें राम प्रभु नज़र आता है इसी प्रकार इस अध्यात्मज्ञानीको सर्व जीवोंमें वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप नज़र आता है। कभी ये दृश्यमान जीवनिकाय कुछ कौतूहल करते हुए मालूम होते है तो कभी निश्चेष्ट पत्थर की भांति मालूम होते हैं। इसका कारण यह है कि जो जैसी दृष्टि रखता है उसको विश्वमें वैसा ही नज़र आता है जिसकी दृष्टि भ्रम रूप है, वाह्य पदार्थोमें रुचि स्वाद लेनेकी आदत है वह अन्य जीवोंको भी योंही देखा करता है। और जिसकी दृष्टि अपने आपके ज्ञानरसके स्वाद लेनेमें रहा करती है वह दूसरे जीवोंमें भी चाहे वह कैसा ही दिलका है किन्तु उन दशाओंको न देखकर अन्तरमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही देखा करते हैं।

वासनाके अनुसार वाह्यमें प्रतिभास :—यह बात तो वहुत प्रसिद्ध है और स्वयं परिचयमें आई हुई है कि जैसा मन हो वैसा बाहरमें नज़र आया करता है। आप जब सुख और आनन्दमें मग्न रहते हैं तो जब शहर में घूमते होंगे तो सभी लोग बाहरमें खुश दिखाई देते होंगे। लोग उछलते हुएसे दिखाई देते होंगे। और जब स्वयं दुखी हो तो शहरमें जावो तो सभी लोग दुःखी नजर आवेंगे। कभी प्रतिमा, मूर्ति आपको प्रसन्न दिखती है और कभी दुःखी उदास दिखा करती है। कभी कुछ और कभी कुछ ऐसी प्रतिमामें हेर फेरकी बात नहीं है। वह तो जैसी की तैसी ही है। जब आप प्रसन्न होकर प्रतिमाको निरखते हैं तो प्रतिमा भी प्रसन्न दिखाई देती है और जब उदास

सर्व मल आवेंगे । लोकमें किसी परपदार्थका विश्वास न रखो ।

मेरा निवास कहां :— हां तो भैया ! ६ गुणोंकी बात चलरही थी । अगुरुलघुत्व गुणके प्रसादसे हमें यह बोध हुआ कि मैं अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हूं । इससे मोह कटा, अब इसके आगेकी बात देखो । मैं रहता कहां हूं ? यह प्रदेशवत्त्व गुण बताता है । मैं अपने प्रदेशों में रहता हूं । अपने स्वरूप का अन्यत्र निवास नहीं है । प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें ही रहते हैं और अपने स्वरूपसे सत् हो कर भी ये सब पदार्थ यदि मेरे ज्ञानमें न आवें तो उनकी सत्ता क्या है, इसलिए सर्व प्रमेय हैं । प्रयोजन यह है कि सर्व पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र दिखते हैं । ये दृश्यमान पदार्थ कपड़ा, चटाई, दरी इत्यादि इन सबमें अपने अपने स्वरूपमें रहने वाले अनन्त परमाणु हैं । सब परमाणु स्वतंत्र स्वतंत्र हैं । इन पदार्थोंके स्नेहसे, लगावसे आत्माका कोई लाभ न होगा । इस लोकमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय करो और फिर इन्द्रिय और मनपर विजय प्राप्त करो ।

यथाजातरूपता:—भैया ! जो पर द्रव्योंमें लगाव है उसे जीतो, इन्द्रियों के जीतनेका उपाय यह है कि इन्द्रियोंसे भिन्न, शरीरसे भिन्न, मनसे भिन्न एक जो सहज स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि बनाओ । जितेन्द्रिय होकर जैसे यह आत्मद्रव्य शुद्ध एकाकी है, अकेला है, इसी प्रकारका बाह्य शुद्ध रूप धारण करें। जैसे कि यह शरीर पैदा होते ही सबसे निराला अपने आपके पिंडरूप है और ऐसा ही बन जाय अर्थात् सर्व परिग्रहोंको त्यागकर नग्नरूप बन जाय तो यह बहिरंग यथाजात रूप है । इसी प्रकार अंतरंग ऐसा रहे कि केवल ज्ञानस्वरूप हो, उसके किसी प्रकारका लगाव नहीं हो । स्वभावदृष्टि से स्वको निर्लेप ज्ञानमात्र निरखो यही इन्द्रियोंकी विजय है । यही मनकी विजय है और यही कर्मसेनापर विजयका उपाय है। दूसरे पदार्थोंमें दृष्टि देकर उनपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती है ।

मनके विजयसे सर्वजीतपना:—एक राजा था उसने सब राजा जीत लिये । तो वह अपनी मां से बोलता है कि मां, सभी लोग हमें सर्वजीत कहते हैं और तू मुझे वही नाम लेकर कहती है । तो मांने कहा कि बेटे ! तूने सब राजाओंको तो जीत लिया है पर अपने इस मनको नहीं जीता । अपने विषय कषायोंपर विजय नहीं प्राप्त की । तुमने अपने आत्माके आनन्दनिधान शुद्ध ज्ञानप्रकाशके दर्शन नहीं किए इसलिए तू सर्वजीत नहीं हुआ । बाहर में तूने कितना ही ऊधम मचा लिया, कितना ही सता लिया, कितना ही उद्यम कर लिया किन्तु जब तक तू अपने विषयकषायोंको नहीं जीत सकता,

तो विजयी नहीं कहला सकता, तू शांतिके मार्गमें नहीं जा सकता। इसलिए सर्व ओरसे आँखें मीचकर अन्तरमें अन्तर्ज्ञानसे अन्तरको देखो। लोकमें वही महान है जिसने अपने आपको निरखा है। जिसने अपने आपको नहीं निरखा उसे शांति नहीं मिल सकेगी। इस प्रकार यह विरक्त ज्ञानी संत आत्मद्रव्यकी दृष्टि रखता हुआ अन्तरमें नग्न रहा करता है केवल अपने ही रूपकी दृष्टिके स्वादमें लीन रहा करता है। यही शांतिको प्राप्त करने का उपाय है। सो वह विरक्त गृहस्थ अपने स्वरूपको ही अपनाता है।

ज्ञानीके सर्वत्र चैतन्यचमत्कारका दर्शन :—ज्ञानी संत निरंतर शुद्ध आत्म-स्वरूपके दर्शनमें रहा करता है और इसी कारण बीचमें जब कभी दूसरे जीवोंपर दृष्टि होती है तो वहाँ भी ऐसा ही चैतन्य चमत्कार निरखता है जैसा कि वह अपनेमें अनुभव कर चुका है। उसके लिए जगतके जीव ऐसे मालूम होते हैं कि ये जबरदस्ती अथवा कौतूहल वस नाटक सा कर रहे हैं। हैं तो ये सभी शुद्ध। ये लोग लगनसे अन्तरमें योंवृत्ति बनारहे हैं यहकुछ कम नजर आता है और सब जीवोंमें वही आत्मस्वरूप दृष्ट होता है। जैसे भक्त-जनोंको प्रत्येक प्राणियोंमें राम प्रभु नज़र आता है इसी प्रकार इस अध्यात्मज्ञानीको सर्व जीवोंमें वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप नज़र आता है। कभी ये दृश्यमान जीवनिकाय कुछ कौतूहल करते हुए मालूम होते है तो कभी निश्चेष्ट पत्थर की भांति मालूम होते हैं। इसका कारण यह है कि जो जैसी दृष्टि रखता है उसको विश्वमें वैसा ही नज़र आता है जिसकी दृष्टि भ्रम रूप है, बाह्य पदार्थोंमें रुचि स्वाद लेनेकी आदत है वह अन्य जीवोंको भी योंही देखा करता है। और जिसकी दृष्टि अपने आपके ज्ञानरसके स्वाद लेनेमें रहा करती है वह दूसरे जीवोंमें भी चाहे वह कैसा ही दिलका है किन्तु उन दशाओंको न देखकर अन्तरमें शुद्ध चैतन्यस्वरूप ही देखा करते हैं।

वासनाके अनुसार बाह्यमें प्रतिभास :—यह बात तो बहुत प्रसिद्ध है और स्वयं परिचयमें आई हुई है कि जैसा मन हो वैसा बाहरमें नज़र आया करता है। आप जब सुख और आनन्दमें मग्न रहते हैं तो जब शहर में घूमते होंगे तो सभी लोग बाहरमें खुश दिखाई देते होंगे। लोग उछलते हुएसे दिखाई देते होंगे। और जब स्वयं दुखी हो तो शहरमें जावो तो सभी लोग दुःखी नजर आवेंगे। कभी प्रतिमा, मूर्ति आपको प्रसन्न दिखती है और कभी दुःखी उदास दिखा करती है। कभी कुछ और कभी कुछ ऐसी प्रतिमामें हेर फेरकी बात नहीं है। वह तो जैसी की तैसी ही है। जब आप प्रसन्न होकर प्रतिमाको निरखते हैं तो प्रतिमा भी प्रसन्न दिखाई देती है और जब उदास

कर्म कट जायेंगे। लोकमें किसी परपदार्थका विश्वास न रखो।

मेरा निवास कहां :— हां तो भैया! ६ गुणोंकी वात चलरही थी। अगुरुलघुत्व गुणके प्रसादसे हमें यह वोध हुआ कि मैं अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हूं। इससे मोह कटा, अब इसके आगेकी वात देखो। मैं रहता कहां हूं ? यह प्रदेशवत्त्व गुण वताता है। मैं अपने प्रदेशों में रहता हूं। अपने स्वरूप का अन्यत्र निवास नहीं है। प्रत्येक पदार्थ अपने अपने स्वरूपमें ही रहते हैं और अपने स्वरूपसे सत् हो कर भी ये सब पदार्थ यदि मेरे ज्ञानमें न आयें तो उनकी सत्ता क्या है, इसलिए सर्व प्रमेय हैं। प्रयोजन यह है कि सर्व पदार्थ स्वतंत्र स्वतंत्र दिखते हैं। ये दृश्यमान पदार्थ कपड़ा, चटाई, दरी इत्यादि इन सबमें अपने अपने स्वरूपमें रहने वाले अनन्त परमाणु हैं। सब परमाणु स्वतंत्र स्वतंत्र हैं। इन पदार्थोंके स्नेहसे, लगावसे आत्माका कोई लाभ न होगा। इस लोकमें मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा निश्चय करो और फिर इन्द्रिय और मनपर विजय प्राप्त करो।

यथाजातरूपता:—भैया! जो पर द्रव्योंमें लगाव है उसे जीतो, इन्द्रियों के जीतनेका उपाय यह है कि इन्द्रियोंसे भिन्न, शरीरसे भिन्न, मनसे भिन्न एक जो सहज स्वयं ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि वनाओ। जितेन्द्रिय होकर जैसे यह आत्मद्रव्य शुद्ध एकाकी है, अकेला है, इसी प्रकारका वाह्य शुद्ध रूप धारण करें। जैसे कि यह शरीर पैदा होते ही सबसे निराला अपने आपके पिंडरूप है और ऐसा ही वन जाय अर्थात् सर्व परिग्रहोंको त्यागकर नग्नरूप वन जाय तो यह वहिरंग यथाजात रूप है। इसी प्रकार अंतरंग ऐसा रहे कि केवल ज्ञानस्वरूप हो, उसके किसी प्रकारका लगाव नहीं हो। स्वभावदृष्टि से स्वको निर्लेप ज्ञानमात्र निरखो यही इन्द्रियोंकी विजय है। यही मनकी विजय है और यही कर्मसेनापर विजयका उपाय है। दूसरे पदार्थोंमें दृष्टि देकर उनपर विजय नहीं प्राप्त की जा सकती है।

मनके विजयसे सर्वजीतपना:—एक राजा था उसने सब राजा जीत लिये। तो वह अपनी माँ से वोलता है कि माँ, सभी लोग हमें सर्वजीत कहते हैं और तू मुझे वही नाम लेकर कहती है। तो माँने कहा कि वेटे! तूने सब राजाओंको तो जीत लिया है पर अपने इस मनको नहीं जीता। अपने विषय कषायोंपर विजय नहीं प्राप्त की। तुमने अपने आत्माके आनन्दनिधान शुद्ध ज्ञानप्रकाशके दर्शन नहीं किए इसलिए तू सर्वजीत नहीं हुआ। वाहर में तूने कितना ही ऊधम मचा लिया, कितना ही सता लिया, कितना ही उद्यम कर लिया किन्तु जब तक तू अपने विषयकषायोंको नहीं जीत सकता,

दिन वादमें जव फिर नाई वादशाहकी हजामत वनाने आया तो नाईसे वादशाहने पूछा खवासजी, वतलाओ प्रजामें कैसा सुख दुःख है ? नाई वोला महाराज प्रजामें घोर संकट छाया है, दूध घीके तो किसीको दर्शन ही नहीं होते हैं। खैर, कहनेका प्रयोजन यह है कि जिसका जैसा परिणाम है उसे वैसा ही नजर आया करता है।

ज्ञानीके सर्वत्र ज्ञानमूर्तिका दर्शन :—यह ज्ञानी संत जिसको आत्महितकी वड़ी उत्सुकता रहती है जो जानता है यह कि इस नरजीवनमें आकर अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका रसपान नहीं किया तो कुछ नहीं किया, यह सारी जिन्दगी व्यर्थ रही; सो हितकी उत्सुकताके कारण इस ज्ञानस्वभावकी ओर ही दृष्टि बनाए रहता है। सो इतनी दृढ़ दृष्टि हो जाती है कि बाहरमें भी सव ज्ञानमूर्ति नजर आता है। पर जीवकी जव विपरीत चेष्टा होती है तव उसे वहां पागलपन या नाटक नजर आता है, अन्यथा यदि सही सही बैठा रहे बाह्यमें विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो उसे साक्षात् वह ज्ञानस्वरूप दृष्ट होता है। आप किन्हीं कषायोंमें नहीं लगरहे हैं किन्तु चुपचाप शांतिसे बैठे हैं तो वहाँ आपमें ज्ञानीको सुगमतया ज्ञानस्वरूप नजर आता है। मोह का भी कितना कठिन प्रताप है कि जैसा इसका अनन्त आनन्द स्वरूप है वैसे ही इस जीवने अनन्त क्लेशोंका परिणमन बना लिया। केवल एक दृष्टि का अन्तर है कि दृष्टिके प्रतापसे ही तो आपको आनन्दका घर मिल सकता है और क्लोशोंका घर मिल सकता है। केवल जरा दृष्टिका ही फेर है। उपयोग तो यह आपका आपके समीप है। इस उपयोगको जव बाहरकी ओर मुख करके देखते हैं तो क्लेश हाथ आते हैं। और इस उपयोगसे अन्तरकी ओर निरखते हैं जैसा कि यह एकाकी स्वरूप ज्ञानमय आनन्दरस पूर्ण स्वतः सिद्ध निज आत्मदेव है जव उसकी ओर दृष्टि करते हैं। तब आनन्द व आनन्दका मार्ग दृष्ट हो जाता है।

मोहसे हानि और अपना कर्तव्य:—भैया ! इस मोहसे किसने लाभ लिया हम आपकी ख्वाहिस तो धन वैभव की है कि लखपति हो जाएं, करोड़पति हो जाये किन्तु इससे शान्ति न मिलेगी। अव क्या करना है कि जिन जीवोंके पीछे वड़प्पन चाहते हैं, जिनके लिए धनकी कमाई कर रहे हैं, कष्ट उठारहे हैं वे सब मायामयी हैं, मलिन हैं, आपसे भी अधिक व्यग्र हैं, संसारके चक्रमें पड़े हुए हैं और नष्ट हो जानेवाले हैं। उनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है यह निर्णय करना है। जीवको अपने आपके वड़प्पन की चाह उत्पन्न होती है जिन जीवोंमें अपने वड़प्पनकी चाह उत्पन्न होती

होकर निरखते हो तो उदास दिखाई देती है। इसका भी मूल कारण यह है कि हम आप आत्मा किसी बाहरी पदार्थको निरख ही नहीं सकते है। यह भ्रम है कि मैं देखरहा हूं, मैं यह जानरहा हूं, लोगोंको समझरहा हूं, मैं तुम लोगोंको जानता हूं, भींटको जानता हूं। मैं तो सदा अपने आपकी ज्ञायकभूमिमें जो आकार बनता है, प्रतिबिम्ब होता है उस ज्ञेयाकारको जानता रहता हूं।

मेरा सर्व परमें अत्यन्ताभाव :—भैया, मैं सदा अपने आपको जानता हूं, फिर मैं, चूंकि मेरा परिणमन, जानना इस प्रकार होता है कि जैसे कि ये पदार्थ हैं अतः उनका वर्णन करने लगता हूं। जैसे दर्पणको सामने रखते हैं तो वहां हमें केवल दर्पणकी छाया दिखती है, दर्पणकी छायामें वह रूप है जैसे कि पीठपीछे खड़े हुए कोई चार बालक हों तो उनकी जैसी चेष्टा होती है। सो भैया, उसका वर्णन करते जाते हैं। वे जीभ मटकाते हैं, हाथ पैर चलाते हैं, जो कुछ भी करते हैं दर्पणमें छायामात्रको देखकर उसका वर्णन करते जाते हैं। दर्पणको देखकर यह बताते जाते हैं कि देखो इसने जीभ मटकाया, देखो इसने टांगे पसारा। मैं उन लड़कोंको नहीं देखरहा हूं पर दर्पणमें देखकर ही उनका वर्णन करता जाता हूं। इसी प्रकार दर्पणसे भी अत्यन्त स्वच्छ ज्ञानमात्र आत्मभूमिको ही मैं निरन्तर देखा करता हूं। जब मैं बाहरमें ही व्यासक्त होऊँ तो भी मैं बाहरमें नहीं जाता हूं, वहां भी मैं अन्तरमें अपने आपको देखता हूं। मुझमें शक्ति नहीं है कि किसी बाह्य पदार्थ को जानूं। किन्तु जानता हूं अपने आपको और उसमें झलक होती है इस विश्व की। सो इस झलक वाले अपने आपको मैं जानता हूं और मैं सबका बयान करता रहता हूं। इस ही कारण जैसा मेरा परिणाम होता है वैसा ही मुझे बाहरमें नजर आता है।

अपने विकल्पकी बाहरमें भी भासना :—कोई एक नाई था। बादशाहकी दाढ़ी बनारहा था। भैया नाई दाढ़ी बनाते हुए बड़ी. बातें करते हैं। वह बादशाहसे भी बातें करने लगा। बादशाह पूछता है कि यह तो बतलाओ कि प्रजाको सुख दुख कैसा है? तो वह बोला महाराज प्रजामें बड़ा सुख है। घी दूधकी तो नदियां बहती हैं। बादशाहने पूछा कि तुम्हारे कितनी गाय भैंसें हैं? तो नाई बोला बीस, पच्चीस। बादशाहने समझ लिया कि यह सुखी है इसलिए सबको सुखी समझता है। कुछ देर बाद अपने सिपाहियोंको बादशाहने बुलाकर कहा कि सिपाहियो जावो! इस नाईपर कोई आरोप लगाकर इसकी गाय भैंस बंद करलो। सिपाहियोंने ऐसा ही किया। कुछ

दिन वादमें जव फिर नाई वादशाहकी हजामत वनाने आया तो नाईसे वादशाहने पूछा खवासजी, वतलाओ प्रजामें कैसा सुख दुःख है ? नाई वोला महाराज प्रजामें घोर संकट छाया है, दूध घीके तो किसीको दर्शन ही नहीं होते हैं। खैर, कहनेका प्रयोजन यह है कि जिसका जैसा परिणाम है उसे वैसा ही नज़र आया करता है।

ज्ञानीके सर्वत्र ज्ञानमूर्तिका दर्शन :—यह ज्ञानी संत जिसको आत्महितकी वड़ी उत्सुकता रहती है जो जानता है यह कि इस नरजीवनमें आकर अपने ज्ञानानन्द स्वरूपका रसपान नहीं किया तो कुछ नहीं किया, यह सारी जिन्दगी व्यर्थ रही; सो हितकी उत्सुकताके कारण इस ज्ञानस्वभावकी ओर ही दृष्टि वनाए रहता है। सो इतनी दृढ़ दृष्टि हो जाती है कि वाहरमें भी सव ज्ञानमूर्ति नज़र आता है। पर जीवकी जव विपरीत चेष्टा होती है तव उसे वहां पागलपन या नाटक नज़र आता है, अन्यथा यदि सही सही बैठा रहे वाह्यमें विरुद्ध प्रवृत्ति न करे तो उसे साक्षात् वह ज्ञानस्वरूप दृष्ट होता है। आप किन्हीं कषायोंमें नहीं लगरहे हैं किन्तु चुपचाप शांतिसे वैठे है तो वहाँ आपमें ज्ञानीको सुगमतया ज्ञानस्वरूप नजर आता है। मोह का भी कितना कठिन प्रताप है कि जैसा इसका अनन्त आनन्द स्वरूप है वैसे ही इस जीवने अनन्त क्लेशोंका परिणमन वना लिया। केवल एक दृष्टि का अन्तर है कि दृष्टिके प्रतापसे ही तो आपको आनन्दका घर मिल सकता है और क्लेशोंका घर मिल सकता है। केवल जरा दृष्टिका ही फेर है। उपयोग तो यह आपका आपके समीप है। इस उपयोगको जव वाहरकी ओर मुख करके देखते हैं तो क्लेश हाथ आते हैं। और इस उपयोगसे अन्तरकी ओर निरखते हैं जैसा कि यह एकाकी स्वरूप ज्ञानमय आनन्दरस पूर्ण स्वतः सिद्ध निज आत्मदेव है जव उसकी ओर दृष्टि करते हैं। तव आनन्द व आनन्दका मार्ग दृष्ट हो जाता है।

मोहसे हानि और अपना कर्तव्यः—भैया ! इस मोहसे किसने लाभ लिया हम आपकी ख्वाहिस तो धन वैभव की है कि लखपति हो जाएं, करोड़पति हो जाये किन्तु इससे शान्ति न मिलेगी। अव क्या करना है कि जिन जीवोंके पीछे वड़प्पन चाहते हैं, जिनके लिए धनकी कमाई कर रहे हैं, कष्ट उठारहे हैं वे सव मायामयी हैं, मलिन हैं, आपसे भी अधिक व्यग्र हैं, संसारके चक्रमें पड़े हुए हैं और नष्ट हो जानेवाले हैं। उनसे मुझे कुछ लाभ नहीं है यह निर्णय करना है। जीवको अपने आपके वड़प्पन की चाह उत्पन्न होती है जिन जीवोंमें अपने वड़प्पनकी चाह उत्पन्न होती

है वे जीव खुद ही दुःखी और मलीन है। सो ठीक बात तो यह थी कि यह चाह न करनी थी किन्तु यह चाह इतने बड़े रूपमें बन गई कि फिर अनेक प्रयत्न करके भी दुःखोंसे छूटना कठिन हो गया। यह संसार वृक्ष इतना गहन है, बड़ा है कि ८४ लाख योनियोंमें भ्रमण, कितने ही कीड़े, मकोड़े, पशु पक्षी आदि गतियोंमें जन्मधारण आदि यहांके क्लेश हैं। भैया ! यह भी जाने दो, यहां का एक दिनका ही क्लेश देख लो, कितने प्रकारके क्लेश हैं। धैर्य नहीं बँधता, एकाग्रता नहीं बनती, अनेक भय सताते रहते हैं। फिर अन्तमें मरे और क्या बने यहाँ कुछ अपने हाथ की बात नहीं रहती है।

झगड़ा मचा मूल न कुछः—भैया संसारका विकट भयंकर उत्पात हम पर क्यों हो गया ? उसका कारण देखो तो "न कुछ" मिलता है अथवा केवल भ्रम मिलता है। इन सर्व उपद्रवोंकी जड़ कितनी है कि जो अपने त्रिकाल भी नहीं हो सकते उनमें यह ख्याल बना लिया कि ये मेरे हैं। इतना ख्याल बनाया कि उसके आधारपर इतना संसार विषवृक्ष खड़ा हो गया। जैसे लोग कहते हैं ना कि खोदा पहाड़ और निकला चूहा। पहाड़ तो इसलिए खोद रहे थे कि यहाँ धन वैभव मिलेगा; पर १०, २० वर्ष हजारों आदमियों ने पहाड़को खोदा और अंतमें एक चूहा मिला। इसी प्रकार यह इतना महान् उत्पात इस संसारमें हमपर छाया है, भूखसे परेशान हो गये, प्यास से परेशान हुए, अपने नामकी चाहमें रहकर जगह-जगह लोगोंसे विनय किया इस प्रकारसे अनेक कष्ट उठाये। जन्म मरणकी तो विचित्र ही कहानी है। इतना बड़ा उत्पात हम आपपर छाया है किन्तु इसकी जड़ इतनी है कि हमने, आपने परमें यह ख्याल बनाया कि यह मेरा है। गलती तो हमने मात्र भावात्मक की है किन्तु उसका इतना कठिन परिणमन बन गया है कि यदि चाहें कि भैया थोड़ी सी ही तो बात है न मानो किसी दूसरेको अपना, केवल भावोंकी ही तो बात है। पर, ऐसा करना कठिन हो गया है यह मन दौड़ कर असार वस्तुओंमें लग गया है ! जो हम आपपर सही विपदाएँ हैं उनकी तो परवाह नहीं करते और बाहरकी बातोंपर लड़ाई विवाद करते और बाहर ही बाहरमें अपना समय खो देते हैं। हमपर जो विपदा है उसका इतना ही कारण है।

प्रत्येक दुःखमें अपना अपराध—कोई जीव किसी दूसरेके अपराधसे दुखी नहीं होता है। यदि कोई दुःखी है तो वह अपने ही अपराधोंके कारण दुःखी है। ऐसा त्रिकाल भी नहीं हो सकता है कि किसी दूसरेके अपराध से कोई दुःखी हो जाय। भ्रम की बात दूसरी ही है। भ्रममें तो ऐसा ही

लगा रहता है कि देखो ये यदि यों नहीं बोलते तो हमको क्रोध नहीं आता। यदि यह हमारी बात नहीं टालता तो मुझे प्रसन्नता रहती क्या। दूसरोंके हुक्म माननेसे हमारेमें प्रसन्नता आती है। क्या दूसरोंके दुर्वचन बोलनेसे हमारेमें खेद आता है। हम तो अपनी कल्पनाएँ बनाकर खेद अपनेमें उत्पन्न करते हैं और हम ही अपनी कल्पनाएँ बनाकर मौज माना करते है सबसे बड़ा पाप है मिथ्यात्व व मोह। दूसरे जीवोंसे बड़प्पनकी चाह करना, दूसरोंसे अपने को बड़ा माननेका भाव रखना यही सबसे बड़ा भयंकर विष है।

खुदकी सम्हालः—जिनको सब जीवोंका अपने ही समान चैतन्य स्वरूप नजर नहीं हो सकता उनका क्या जीवन है। वे तो संसारमें रुलने वाले अब भी हैं। अपनी अपनी बात सोचिए, मैं दूसरोंका उद्धार कर दूँगा, धर्ममें दूसरे लग जाएँ ऐसा खेद न मचाइए। पहिले अपनी ही दृष्टि सम्हालिए। यदि खुद अपनेमें सम्हाल नहीं हो सकती तो दूसरोंकी सम्हाल कैसे की जा सकती है। दूसरों की सम्हाल हमारे करनेसे नहीं होती। मेरी गति परमें नहीं हो सकती यदि हम स्वयं शुद्ध हैं तो दूसरे हमारी मुद्रा और वाणीको देखकर सुनकर स्वयं सम्हल जाया करते हैं। यदि सभी भाई यह सोचे कि मैं कैसा ही होऊँ, ऐसे उपदेश दूँ, ऐसा लोगोंको जुटाऊँ कि सभी धर्ममें लगें, और धर्मकी प्रभावना हो। ऐसी ही बात यदि सोच लें तो बतलाओ किसी एकमें भी धर्मकी बात आई क्या? एक बार राजा ने मंत्रीसे कहा कि जरा हमें यह दृश्य तो दिखादो कि यह हमें समझमें आ जाय कि प्रजा हमारी बातोंको अन्दरसे चाहती है। मंत्रीने कहा महाराज! आपको एक भी नहीं चाहता है। अच्छा बतलावो तो सही मुझे। तब मंत्रीने घोषणा करा दी कि राजा को १०-१२ मन दूधकी जरूरत है तो रात्रिमें लगभग १२ बजे सब लोग अपने अपने घरसे एक-एक सेर दूध ले आवें और हौजमें डाल दें। महाराजको दूधकी बड़ी जरूरत है। लोगोंने सोचा कि सब लोग तो दूध लावेंगे ही, यदि मैं एक सेर पानी ले जाऊँ और हौजमें डालदूँ तो कोई हानि नहीं होगी। सभी ने ऐसा ही सोचा और अपने-अपने घरसे सेर-सेर पानी ले जाकर हौजमें डाल दिया। सुवह देखा और बताया महाराज सब लोग आपके लिए पानी लाये थे। इसी तरह यहाँ हम आप यह सोच लें कि हम बुरे हैं तो कुछ हर्ज नहीं पर ऐसा मंत्र बतायें, ऐसी प्रवृत्ति बतायें, ऐसा उपदेश दें कि सब लोग धर्ममें लग जाएँ, ऐसा ही सब सोच ले तो वचनोंके और कागजोंके घोड़े चाहे खूब दौड़ते रहें धर्म

की खोजके लिए, पर एक भी पुरुषमें धर्म नहीं आ सकता।

अपने भवितव्यकी अपनी वृत्तिपर निर्भरता:—अब इस विस्तारदृष्टि को छोड़कर अपने केन्द्रकी दृष्टि बनाओ और सोचो कि अहो! जगतमें कौन किसका क्या कर सकता है? अपने आपमें सदाचार रखा तो भावी जीवन ठीक चलेगा और दुराचारमय अपना जीवन बनाया तो भावी क्षण बुरा रहेगा। इसलिए अपने आपको सम्हालो। दर्शन, ज्ञान और चारित्र के लिए ऐसा ही सब लोग सोचें तो लो धर्म बन गया। धर्मके लिए कागजी घोड़े व वाचनिक घोड़े चाहे जितने दौड़ें, उससे शांति सुख और धर्म नहीं होता है। ऐसी दृष्टि बनाओ ऐसा ज्ञान जगावो कि सर्व जीवोंमें वह ज्ञान मात्र स्वरूप नजरमें आए। जैसे कोई हड्डीका फोटो लेने वाला एकसरा यंत्र होता है वह केवल हड्डीका फोटो लेता है और सब कुछ छोड़ देता है उसी प्रकार आप हम सब कुछ छोड़कर शरीरको छोड़कर, शरीरमें बसे हुए के राग द्वेषोंको छोड़कर अपने अन्दरमें ध्रुव त्रैकालिक जो ज्ञानस्वरूप बसा है वहाँ पहुँच लें, जंगलमें क्यों भटकें। ऐसी यह एक ज्ञानसाधनाकी तपस्या साधु भी कर सकता है और गृहस्थ भी योग्य कर सकता है।

समागममें भी सत्य चिन्तनका प्रताप :—गृहस्थोंको भी यथासंभव ज्ञान, तपस्या करनेके लिए मौके अधिक हैं। आपके घरमें जो बच्चा है उसे हाथमें लेकर गोदमें लेकर उससे बातें करनेमें लग जावो, तुम कहां से आये हो? तुमसे हमारी आत्माका क्या सम्बन्ध है? तुम्हारा अस्तित्व जुदा है। तुम मेरेसे अत्यन्त भिन्न हो, किन्तु तुम्हारे पुण्यका उदय है कि हमको तुम्हारा चाकर बनना पड़ रहा है। कौनसी कमी है कि कोई यह सोच बैठे कि गृहस्थ तो एक गृहस्थ ही है, वह धर्ममें कुछ नहीं बढ़ सकता।

झुकावकी कार्यकारिता :—कभी किसीसे कहो—भैया! रात्रिमें भोजन करना छोड़दो तो वह क्या उत्तर देता है कि रात्रिभोजन तो छोड़े हुए महीनों गुजर गये। यदि कहो कि अच्छा, नियम लेलें तो कहेंगे नियम नहीं लेंगे। नियम ले लिया तो फिर रातको खानेकी इच्छा हो जायगी। बच्चे लोग जो ऊधम करें उन्हें रोको तो वे ऊधम करेंगे और ऊधम करनेको कहो तो न करेंगे। क्या ऐसी ही प्रवृत्ति इन मार्गोंमें भी होती है। परिग्रहका, गृहस्थीका त्याग करके न रहो तो इसमें तो दुःख आया ही करते हैं। किन्तु कुछ ऐसी भी प्रकृति हुआ करती है कि जिस गृहस्थके पास सब कुछ है उनसे हटाव होनेकी लगन आती है। खैर, कैसी भी स्थिति में हो, ज्ञानीके उससे घबड़ाहट नहीं आती है कि हम कुछ नहीं कर सकते। यह तो ज्ञानबलका काम

है। उसको उपयोगमें अन्तर्मुख किया और अपने आपमें अपना सारा चमत्कार निरख लिया, फिर उसके लिए सर्व लौकिक वैभव न कुछ है।

वास्तविक गरीबी और अमीरी :—देखो गरीब और अमीर। अमीर तो भगवान है, वे जितने भी हैं सब एकसे अमीर हैं। और गरीव मिथ्यादृष्टि है। चाहे करोड़पती हो, महाराजा हो- भिखारी हो, जो भी मिथ्यादृष्टि है, जिसकी पर पदार्थोंमें हितकी बुद्धि है वे सब एकसे गरीव है, उनमें अन्तर नहीं किया जा सकता कि भाई ये करोड़पती हैं तो इनका कुछ लिहाज रखो। सव एकसे गरीव हैं क्योंकि अन्तरमें परके प्रति आशा करनेकी सबमें एकसी पद्धति है। अमीरीका तारतम्य वारहवें गुणस्थान तक है। कोई उससे ज्यादा अमीर है, और कोई उससे ज्यादा अमीरऔर वारहवें गुण स्थानमें सम्यग्दृष्टि जीव सर्वोत्कृष्ट अमीर है।

श्रमका विधिवत् प्रयोगः—सो भैया ! जवतक मोह है तबतक अपनेको मौजमें न समझो। इस मोहसे ही इस जीवपर विपदाएँ आती हैं। और कोई विपदाएँ इस जीवपर नहीं है, सो त्याग करिये जरा, काहे का ? मोह का। १२ महीनेमें कमसे कम एक महीनेके लिये तो कोई अच्छा सत्संग व ज्ञानार्जन करो। उस ज्ञानार्जनमें चाहे श्रम भी होता हो तो श्रम होने दो और यदि ज्ञानार्जनमें मरण भी होता है तो होने दो। वह बहुत उत्तम है। त्याग करिये कुछ अर्थात् ऐसा दृष्टि बनाओ कि मैं इतना श्रम करके धन कमाता हूं, मैं अपना सर्व समय मोहियोंमें ही लगाता हूं जिन घरके दो चार लोगों को मान रखा है कि मेरे हैं उनमें लगन बनाये रखनेसे वह समय व्यर्थ जाता है, मेरे हाथ कुछ नही आता है तो ऐसा भाव बनाओ कि कम से कम आधा धन, आधा श्रम धर्मके लिए लगे केवल मोही जनोंके लिए ही सारा समय लगाया तो वह समय व्यर्थ जायगा। पर धर्ममार्गमें धन, व समय लगानेसे बुद्धि बढ़ती है। गुणानुराग बढ़ता है उससे लाभ होता है। यदि गप्पोंमें समय लगता है तो उन गप्पोंको तिलाजंलि दे दो और अपने उपयोगको ज्ञानके अर्जनमें लगावो तो इससे ही अपना लाभ है।

वालकवत् निर्विकारता :—जव यह निर्णय हो चुका है कि इसषड्द्रव्यात्मक लोकमें मेरी आत्माका कुछ भी नहीं है तव परपदार्थोंके सम्बन्धमें स्वस्वामित्वके सम्बन्धकी जो बुद्धि थी उसपर विजय प्राप्त किया और इन्द्रिय व नोइन्द्रियपर विजय प्राप्त किया। सो भैया ! बन गये जितेन्द्रिय। जितेन्द्रिय होकर अब वह और आगे अपनी प्रगति करता है सो जैसा बालक पैदा होता है वही रूप मुनिका होता है। जैसे बालक निर्विकार होता है

ऐसा ही रूप मुनिका होता है, मुनिका स्वरूप निर्विकार होता है। तो जैसे उत्पन्न हुआ बालक चूंकि उसे कोई विकार नहीं है इसी कारण वह नग्न है। और जैसे वच्चेको नग्नतामें कोई संकोच नहीं, कोई विकार नहीं, कोई ख्याल नहीं, ऐसे ही निर्विकार भाव होते हैं तो वह साधु कहलाता है। सो जैसा उत्पन्न हुआ बालक सहज स्वरूपमें है ऐसी ही शुद्ध आत्मद्रव्यकी वृत्ति होनेसे वह यथाजातरूपधारी हो जाता है।

शुद्ध और शुद्धिके चिन्ह :—अब यह देखिये कि यथाजातरूपधरत्वके जताने वाले बाह्य चिन्ह क्या हैं और अंतरंग चिन्ह क्या हैं ? जो अंतरंग चिन्ह हैं और बहिरंग चिन्ह हैं वे इस आत्माकी शुद्धिके गमक हैं। शुद्धि क्या चीज है ? सिद्धि, शांति, आत्मलाभ, अपने आपके स्वरूपमें मग्न होना। तो यह सिद्धि इस जीवने आज तक न पाई और इस सिद्धिका इस जीवने अभ्यास भी नहीं किया। यह जीव मोहका तो अभ्यास कररहा है, रागद्वेष मोहका तो अभ्यास कररहा है कि यह मेरा है पर यह पता नहीं कि मृत्यु आयगी और यह सब छोड़कर चले जाना होगा। मृत्यु अचानक ही आयगी और अचानक कहीं छोड़कर जाना पड़ेगा मगर जिन्दावस्थामें उसने हृदयमें ही सबको बसा रखा कि यही मेरा सर्वस्व है। सो इस मोहका ही तो अभ्यास रहा, किन्तु आत्माका स्वरूप ज्ञानमात्र है ऐसा समझनेमें ही हित है।

अन्तर्बाह्य चिन्होंके विवरणकी उत्थानिका :—ज्ञानाश्रयणरूप जो परमार्थ साधुचिन्ह है उसका अभ्यास न रहा इस कारण थोड़े ज्ञान और वैराग्य के कारण जब यह साधुभेषमें आता है तो उसका नया-नया अभ्यास है। उस अभ्यासकी कुशलताको प्राप्त होनेवाले साधु, गुरु दोनों चिन्होंका उपदेश देते हैं। यहाँ यह बताया जारहा है कि साधुपद लिए बिना संसारके संकट नहीं टलते। गृहस्थावस्थामें तो शुरूसे अंत तक सारे संकट ही संकट है। साधु अवस्था ऐसी है कि इसमें संकट नहीं है और कोई साधु बनकर अपने परिणाम मलिन रखे और संकट बनाए रहे तो बनाए रहे, वह साधु नहीं है। जो सहज सुखके दर्शनसे सुखी है वहीसाधु है। और, जो दुःख मान रहा है वह साधु नहीं है। साधुके क्या-क्या चिन्ह हैं। उनको अब दो गाथाओंमें कहरहे हैं। यहाँ दो गाथाएं इकट्ठी कही जारही हैं :—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवजोगजोगसुद्धीहिं।

लिगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जोण्हं ॥२०६॥

साधुका बहिरंग चिन्ह क्या है और अंतरंग चिन्ह क्या है। बाह्य चिन्ह है पहिले तो नग्न स्वरूप और दूसरे बेष-भूषा, सर व दाढ़ीके बालों का उखाड़ना जिसे कहते हैं केशलोंच, देहका व बालोंका कुछ भी शृङ्गार न करना, ऐसे ही अन्य भी बाह्य चिन्ह है जैसे शरीरमें कोई शृंगार न हो, शरीरकी कोई शोभा न की जावे राख भस्म न लगी हो, न जटा रखाये हो, न कोई माला पहिने हो, न रस्सा पहिने हो, किसी प्रकारकी दूसरी चीजसे शरीर का सम्बंध न हो।

साधुके मुख्य दो बाह्य चिन्ह—भैया! साधुके मुख्य ये दो चिन्ह हैं। एक तो नग्न स्वरूप और दूसरे केशोंका लोच जो सदा दिखनेमें आ सकता है। ऐसे ये बाह्य चिन्ह है जिससे यह बात समझो कि कोई शृंगार नहीं रहता। तो आत्मा जब अपने आत्माके द्वारा भेदविज्ञान करके अपने स्वरूपमें पहुँचता है और बाहरमें नग्न स्वरूपको धारण करता है तो उससे क्या होता है कि मूर्छा और आरम्भ परिग्रह रखनेपर जो. कर्म बंध होता है वह कर्मबंध नहीं होगा। तो अयथाजातरूपके कारण याने विकृत रूपके कारण जो मोह रागद्वेष भाव हुआ था उनका अभाव हो जाता है। याने जो खोटे परिणाम चले थे उनका अभाव हो गया। स्त्री पुत्रोका संग था तब खोटा परिणाम होरहा था; मूर्छाका परिणाम, आसक्तिका परिणाम, अनुदारताका परिणाम होरहा था, बस यही मेरे सब कुछ हैं ऐसा आशय चलता था; अब जब सब परिग्रहोंका त्याग कर दिया, यथाजातरूप धारण कर लिया, बालकवत् निर्विकाररूप धारण कर लिया तो वहाँ कर्मोका बंध नहीं होता। उन विकारोंका अभाव होगया।

साधुके नग्नत्व होनेका कारण:-कोईप्रश्नकरेकिसाधुनग्न क्योंहोते?साधुनग्न नहीहोते हैं पर जब किसी प्रकारका राग द्वेष मोह नहीं रहा तोअबघरकौन सम्हाले, शृंगार कौन करे, अथवा केश दाढ़ी मूछ कौन रखाना चाहे, बाल कौन कटवाये, रागद्वेष मोह परिग्रह कौन रखे और कौन आरम्भका काम करे, कैसे शरीरका संस्कार बनाएं, शृंगार बनाए। ये सब बातें तो रागद्वेष मोहमें हुई थीं। अब रागद्वेष मोह रहा नहीं तो अपने आप नग्न स्वरूप हो गया। अब कौन चद्दरको सम्हाले। चद्दरको सम्हालनेमें भी रागद्वेष रहते हैं। लोकमें जो साधुपनेमें विडम्बना दिखती है वह तब दिखती है जब व्यवहारमें तोरहे, प्रबन्धमें रहे, ममता रहे और नग्न हों तो यहबेजोड़ हिसाब है। और यदि एकदम चुपचाप आत्मकल्याणमें ही मग्नता रहे, दूसरों

की रंच मूर्छा न हो, रंच भी आरम्भकी वात न हो ऐसी वृत्ति रहे तो नग्नता की शोभा वढ़ती है और लोग समझते हैं कि साधु स्वरूप यह है। तो वास्तव में मोह रागद्वेष नहीं रहना चाहिए तव जा करके साधु पद वनता है।

केशलुञ्चन आदि का कारण—भैया ! जव रागद्वेष मोह न रहे, बाहरी चीजोंके सम्हालकी प्रवृत्ति न रहे तो स्वयं ही अपने आप नग्नस्वरूप हो जाता है और शृङ्गार छूट जाता है और तव वालोंकी सम्हालके शृंगार के भाव नहीं रहते हैं। वालोंके वड़े हो जानेपर जूँ लीख आदि उत्पन्न हो जाते हैं। पानी डालनेंसे और भी जीव उत्पन्न हो सकते हैं तो वालों को तो सदाके लिए रखा सकते नहीं और वालोंका शृंगार भी नहीं कर सकते, कटवा भी नहीं सकते, तो यह वात अपने आप सिद्ध हो गयी कि जव तीन चार महीने हुए तो वालोंको अपने आप उखाड़ कर फेंक दिया जाय, क्योंकि उनके शरीरकी ममता नहीं रही। किसी प्रकारकी हिचक भी उनके नहीं रहती है। इसी प्रकार साधुके स्नान करनेका भी भाव नहीं रहता। स्नान करें तो उसमें किसी न किसी प्रकारकी हिंसा होगी। वह जल जहाँ जायगा वहाँ ही कुछ न कुछ हिंसा होगी। जव जल गरम होगा तो किसी न किसी जीवको पीड़ा पहुँचेगी। तो साधुके स्नानका भी त्याग हो जाता है। दाँतोंके मंजन करनेका त्याग हो जाता है। भैया, साधुका इतना विशुद्ध रूप है कि आत्महितके सिवाय और किसी प्रकारका प्रवर्तन नहीं रहा, शृंगार भी नहीं रहा, तो ऐसा शुद्ध निर्विकार नग्नस्वरूप यह साधुका वहिरंग चिन्ह है।

साधुका अन्तरङ्ग चिन्ह :—साधुका अंतरंग चिन्ह क्या है कि जिसमें साधुके देखनेसे यह पहिचान हो सके कि वास्तवमें यह साधु परमेष्ठी है। उसने निर्विकार यथाजातरूप धारण किया इस कारणसे परिग्रह रखनेके, वस्त्र इत्यादि धारण करनेके योग्य उसके रागद्वेष मोह नहीं रहा, उसके अव मोहादिक परिणामोंका अभाव हो गया, जव मोह राग आदिका अभाव हो गया तो अपने आप ममत्व परिणामका त्याग हो गया। और ममत्व परिणामके कारण जो वाहरमें क्रियाएं करता था, चेष्टाएं करता था उनका त्याग हो गया। अव आरम्भ परिग्रहका त्याग हो गया तो न शुभोपयोग रहा और न अशुभोपयोग रहा। उसमें जो अशुद्ध प्रवृत्ति होती थी वह अव नहीं रही। अव मन वचन कायके कार्य धर्मानुकूल होते हैं। किसीको सतानेके लिए शरीर नहीं चलता। किसीकी चीज चुरानेका परिणाम नहीं होता है। किसी स्त्रीपर विकारकी दृष्टि नहीं होती है और तिलमात्र भी कोई वस्तु

रखनेका भाव नहीं होता है, परद्रव्योंकी कोई चाह नहीं होती है, साधुता तो इसीको कहते हैं। किसी परद्रब्यकी चाहकी अपेक्षा कोई रखे तो वह गृहस्थ है। गृहस्थको जरूरत है सैकड़ों पदार्थोंकी, क्योंकि रसोई भी बनानी है, पैसा भी कमाना है, लोगोंके बीच भी रहना है, फिर साधुसंतोंकी सेवा भी करना है, उनको तो अनेक कार्य हैं। सो उनको तो परद्रव्योंकी आवश्यकता रहती है, पर जिनके परद्रव्योंसे उपेक्षा होगई उसे साधु कहते हैं। साधुके परद्रव्योंकी सापेक्षताका अभाव हो गया। क्यों हो गया? योंकि उसके मूर्छाका अभाव हो गया।

मूर्छा व आरम्भका विवरण :—मूर्छा कहते हैं ममता परिणामको। चित्तमें यह लगा हुआ है कि अमुक चीज मेरी है, अमुक पदार्थ मैं हूं उसको तो कहते हैं मूर्छा, और मूर्छाके कारण शरीरकी चेष्टा करें, शरीरको सम्हालें, खेती करें, बागवानी करें, इन सबको कहते है आरम्भ। साधुता तब निभती है जब इतना ऊंचा परिणाम व विश्वास हो जाता है कि भोजन भी न मिले तो भी इस आत्माकी हानि नहीं है।

साधुके ५ अन्तरङ्ग चिन्होंका विवरण :—मूर्छाका अभाव हो, आरम्भका अभाव हो और उपयोग शुद्ध हो, योग शुद्ध हो, परकी अपेक्षा न रहे, ये अंतरंग चिन्ह साधुके ५ हुए। पहिला चिन्ह है ममता न रहना। ममता नहीं रही यह बात ऊपरसे दिखती है नहीं। संगमें बसें और उनकी क्रियाओंको देखें तो उससे यह अनुमान होता है कि ममता है और जिसके ममता है उसको साधु नहीं कहते हैं। ऐसी ममताका अभाव होवे यही बड़ा अंतरंग चिन्ह है। दूसरा चिन्ह है कि किसी प्रकारका आरम्भ न करे, खेती न करे, व्यापार न करे, चाकरी न करे। यह दूसरा चिन्ह है साधुका आरम्भका अभाव। तीसरा चिन्ह है कि उपयोग निर्मल बना रहे। अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूपकी ओर उसका झुकाव बना रहे और उस निजी शुद्ध आत्माके झुकावसे ज्ञानवृत्ति बढ़ती रहे, यह है साधुका तृतीय अंतरंग चिन्ह। और जब उपयोग शुद्ध होगा तो योग भी शुद्ध होगा। योग माने है मन, वचन, कायकी क्रियायें, हलन चलन। अब मनसे यदि कुछ बिचारेगा तो भला ही बिचारेगा और बचनोंसे यदि कुछ बोलेगा तो भले ही वचन बोलेगा और शरीरसे यदि कोई चेष्टा करेगा तो भली ही चेष्टा करेगा। ऐसी मन, बचन, कायकी सिद्धि हो जाती है तो चौथा चिन्ह यह है। और ५वाँ चिन्ह यह है कि परकी अपेक्षा न रखना, परकी आशा न रखना। तो ये ५ साधुके अंतरंग चिन्ह हैं। सो प्रज्ञावृद्धिमें ये अपने आप हो ही जाते हैं।

सर्व उन्नतिकी नींव भेदविज्ञान :—सबसे पहली बात तो यह है कि साधुका भेदविज्ञान इतना ऊंचा है कि जिस भेदविज्ञानके प्रतापसे यह जीव अपना उपयोग निरंतर शुद्ध बनाए रहता है। किसी परकी कोई अपेक्षा नहीं रहती है। सो इस प्रकार सर्व परवस्तुओंसे निराला ज्ञानस्वभावमात्र अपने शुद्ध स्वरूपमें सुन्दर दृष्टि बनाकर अपने आपमें तृप्त बने रहना यह साधुका चिन्ह है। देखो भैया, गृहस्थ जन साधुवोंकी उपासना क्यों करते है कि गृहस्थको यह अनुभव है कि हम जिस पदमें हैं उसमें शांति नहीं है। और हमें चाहिए शांति, तो उस शांतिकी अभिलाषासे जो आपको साधना और शांतिका आधार मिला हो उसपर आपका वात्सल्य पहुँचेगा, सत्संगमें रहनेकी अभिलाषा जगेगी, क्योंकि उसमें शांति प्राप्त होती है। ये गृहस्थजन साधुवोंकी इस कारण उपासना करते हैं कि मोक्षका मार्ग है तो यही है। संसारके संकटोंसे छुटकारा प्राप्त करनेका उपाय ही तो यही है। गृहस्थीमें मुक्ति तो नहीं है पर गृहस्थ परम्परया उस मोक्षके मार्गमें है। वह साधु बन सकनेकी अपनी योग्यता बनाता है और फिर साधु हो करके मोक्षके मार्गमें प्रगतिसे लगता है। भैया ! गृहस्थके सम्यग्दर्शन होता है और उस सम्यग्दर्शनसे अपने आत्माके सहजस्वभावका अनुभव करता है तो सम्यग्दर्शन भी तो मोक्षका मार्ग है। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी एकतासे साक्षात् मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। तो इस प्रकार साधुके बहिरंग और अंतरंग चिन्ह बताए गए हैं।

घरका ही भगवान्—जो भी सिद्ध हुए हैं वे पहिले अरहंत तो थे ही। जो पहिले अरहंत हुए हैं, वे साधु थे ही और जो साधु हुए हैं वे पहिले घरमें रहते ही थे। तो घरमें ही रहनेवाले व्यक्ति जब ज्ञानस्वरूपकी आराधनाकी सफलतामें बाह्य पदार्थोंकी उपेक्षा करते हैं, संगकी, परिग्रहकी, गृहस्थीमें रहनेकी इच्छा नहीं रखते हैं और उनके जब आत्म-हितकी वाञ्छा प्रबल हो जाती है तो वे घर छोड़कर किसी वनवासी गुरुकी तलाशमें जाते हैं। घर को छोड़ते हुए वे घरवालोंसे कुछ बातें करके जाते हैं यद्यपि यह नियम नहीं है कि कोई वैराग्य धारण करे तो घरवालोंसे स्वीकृति ले ही ले।

विरक्त संतके परिवारसे पूछनेके दो कारण—भैया अन्दरसे घर छोड़नेपर घरवालोंसे पूछनेके दो ही कारण हो सकते हैं। एक तो यह कमजोरी कि जिसके बीच इतनी आयु व्यतीत की है, और इन्हें जिन्हें छोड़कर जारहा हूं कुछ हितवार्ता कहकर जाऊँ। दूसरी बात यह है कि उनपर दया की है कि इनको कहकर जाऊँ तो सम्भव है कि कुटुम्बके लोगोंको भी कुछ ज्ञान हो

जाय और उनको भी कल्याणकी रुचि होजाय। इन दो बातोंसे वह घर वालोंसे कुछ कहता है। और कहता भी इसी ढंगसे है कि जैसे कि अभी निकट पूर्वमें २०२ नं० की गाथामें आया कि हे इस मनुष्यके शरीरके उत्पन्न करने वालेकी आत्मा ! स्वयं तुम्हारे द्वारा यह आत्मा उत्पन्न नहीं होती है, तुम यह निश्चयसे जानो। अब मैं अपने ही आनन्दजनक पिता आत्मद्रव्य को प्राप्त होना चाहता हूं अब इसे छोड़ो। इसके छोड़नेका मतलब है ममता भावको छोड़ दो। अब मुझसे ममता मत रखो। ज्ञानी संतकी वाणी ही तो है ना, कि वाणीका प्रभाव यदि पूर्वके किसी गृहसदस्यमें आजाय, किसीका भला हो जाय तो अच्छा है।

मार्गमेंमें ज्ञानी संतका चिन्तन—यों ज्ञानी घरबारकी उपेक्षा कर गुरूकी तलासमें जाता है और रास्तेमें जाते-जाते विचार करता है, लो, घर तो छोड़ दिया, अब हमें क्या करना है। अब हम खूब अच्छी तरहसे अष्टांग विनय पूर्वक ज्ञानका अभ्यास करेंगे। अब मैं सम्यग्दर्शनके अष्टाङ्गोंको पालता हुआ सम्यग्दर्शनसे अपने आपको पवित्र करूंगा। मैं तेरह प्रकारके चारित्रों का पालन करता हुआ मोक्षमार्गमें प्रगति करूंगा। मैं नाना प्रकारके अंतरंग और बहिरंग तपोंको तपता हुआ विषय कषायोंके विकारको इन आचारोंसे नष्ट करूंगा। मैं कोई शक्ति नहीं छुपाऊँगा। यह लाखोंका वैभव त्याग कर जारहा हूं तो उस वैभवसे बढ़कर काम करना है। ऐसा सोचता हुआ जा रहा है और ज्ञानबल भी साथ है, ज्ञानस्वभावकी दृष्टि भी साथ लगी हुई है तो यह भी सोचा जारहा है कि इस प्रकार चलना, बैठना, समिति पालना, दया पालना और तपस्या करना ये सब प्रवृत्तियाँ हैं और निवृत्तिरूप भी एक यत्न है, किन्तु कोई यत्न मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव मेरी शुद्ध जानने देखनेकी वृत्ति है। सो यद्यपि मैं जानता हूं कि मेरा स्वभाव त्रैकालिक एक स्वरूप ज्ञानानन्दमय है फिर भी मैं इन आचारोंको ग्रहण करता हूं जब तक इन आचारोंके प्रसादसे मैं शुद्ध आत्माको न प्राप्त करलूं। अहो ! कैसा सत्य शुद्ध उद्देश्य है।

आचार्यदेवका अनुग्रह :—सोचता जारहा है यह विरक्त गृहस्थ संत कि कब गुरुदेव मिलें जो कि समताके पुञ्ज हों, अनेक गुणोंसे सम्पन्न हों, उत्तम कुलवाले हों, जिनकी अवस्था भी ठीक हों, न बालक हों न बूढ़े हों और न जवानीका दोष हो। ऐसे साधुके पास जाता है जिसमें किसी प्रकार का दोष नहीं है। ऐसे आचार्यको देखकर उनको नमस्कार करके, उनसे प्रार्थना करता है कि प्रभो ! मुझे धर्ममार्गमें लगाकर, दीक्षा देकर अनुगृहीत

कीजिये जिससे मुझे शुद्ध आत्मतत्त्वकी उपलब्धि हो, सिद्धि हो, शाश्वत शान्ति मार्गका दर्शन देकर प्रभो ! मुझे अनुगृहीत करो। इसके बाद आचार्यदेव उन्हें दीक्षा देकर अनुगृहीत करते हैं।

दीक्षासमयकी विशुद्धि :—जब वह दीक्षा लेनेको होता है तब उसके बड़ी उत्कृष्ट ज्ञानधारा चलती है और वह चलती है यह निर्णय करके कि मैं दूसरोंका कुछ नहीं हूं, दूसरे मेरे कुछ नहीं है, ये सब चेतन अचेतन परमाणु मात्र भी मेरे नहीं हैं। मेरा परद्रव्योंमें, परमाणुमात्रमें भी अत्यन्ताभाव है। परका सम्बंध हो, संयोग हो फिर भी मेरा परमें अत्यन्ताभाव है। तब मैं सबसे निराला हूं, स्वयं अपने स्वरूपमात्र हूं। किसी द्रव्यका किसी भी दूसरे द्रव्यमें रंच भी प्रवेश नहीं है इसलिए प्रत्येक पदार्थ नग्न है। सब पदार्थ अपना स्वरूप लिए हुए हैं। पदार्थ तो सब नंगे हैं अर्थात् सब अपने-अपने स्वरूप मात्र हैं तो यह मैं आत्मा भी चाहे विकृत भी हो लूँ फिर भी मैं अपने ही स्वरूप सत्से बाहर नहीं हूं। ऐसा मैं एकाकी आत्मतत्त्व हूं। मेरी सिद्धि करनेकी अभिलाषा है, फिर अन्य द्रव्योंकी अभिलाषा क्या ?

ज्ञानी संतका त्याग:—भैया ! यह संत घरबारको अब विनय पूर्वक, नियम पूर्वक त्यागता है, वस्त्रोंको त्यागता है। जिन-जिन चीजोंकी शुद्ध आत्माके साथ कुछ भी प्रयोजकता नहीं है उन सब पदार्थोंको त्यागता है ये सब क्या समाधिभाव उत्पन्न करनेमें सहायक हैं ? नहीं, सो त्याग दिया। ये कुटुम्बजन मित्रगण क्या मेरी समतामें सहायक हैं ? नहीं, सो त्याग दिया। क्या वस्त्र आदि मेरी समताके, ज्ञानके साधक हैं, नहीं, सो त्याग दिया। भोजन तो साधुजन इसलिए ग्रहण करते हैं कि यह विवेक मानो हाथ पकड़कर जबरदस्ती कररहा है कि तुम्हें भोजनके लिए उठना पड़ेगा। विवेक कहरहा है, नहीं तो साधुके चरित्रमें तो इतनी परम उपेक्षा स्वयं है कि भोजन भी न चाहिए। भोजन चाहेंगे तो विकल्प करना पड़ेगा। कोई सा भी विकल्प हो, विकल्प हमारे मोक्षमें बाधक हैं।

विकल्पसे हटाव :—कोई साधु पहिले बड़ा राजा था, बड़ा सुभट था, अब साधु होगया, ऐसी स्थितिमें यदि कोई छोटा सा जीव, कीड़ा भी काट लेता है अथवा कोई क्रुर पशु उसे तंग करता है खून चूसता है, तो क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह उस जीवको हटा दे। ऐसा साधु जो पहिले युद्ध में बड़े-बड़े वीरोंको अपनी ताकतसे पछाड़ता था, हराता था तो क्या उसमें इतनी शक्ति नहीं है कि वह पकड़ कर उसे हटा देता। उस साधुमें शक्ति है अवश्य उन पशुवोंको, उन कीड़ोंको हटानेकी और बड़े बलिष्ट पशुओं और

शत्रुवोंके हटानेकी। परन्तु साधुको विकल्पोंमें रुचि नहीं है, क्योंकि ज्ञानीका शुद्ध काम है जानन का। जानन रूप रहनेमें उन्हें जो आनन्द मिलता है उस आनन्दको छोड़नेकी उन्हें चाह नहीं होती है। वह जानता है कि किसी भी प्रकारका विकल्प हो तो वह बाधक है। कोई प्रश्न यह करे कि एक आध मिनटमें वे साधु उन उपसर्ग करनेवाले जीवोंको, पशुओंको पकड़कर अलग कर देवें फिर घंटों खूब ध्यान करें, फिर चाहे २४ घंटा ध्यान करें। तो भाई ऐसा जो विकल्प किया जारहा है उसके उत्तरमें यह कहा जारहा है कि वह साधु निर्विकल्प है, वह किसीको भी पकड़कर रोक देनेका विकार विचार नहीं लाता है। इन उपसर्ग करनेवाले जीवोंको पकड़कर बंद करके समताका ध्यान करलिया जाय ऐसा नहीं है। जब प्रथम ही विकल्पको नहीं रोक सकता तो आगे निर्विकल्पताकी क्या आशा। इस कारण वह रंचमात्र भी विकल्प नहीं चाहता है। केवल त्रैकालिक तत्त्वकी रुचि रखनेवाला यह भव्य आत्मा अन्तरङ्गमें भी यथाजातरूपका धारक हो जाता है।

साधुके मुख्य वाह्य चिह्न—किसी साधुको हम देखें और वाह्य चिह्नोंसे पहिचान जायें कि यह साधु है ऐसाउसका मुख्य चिह्न क्या है ? तो मुख्य चिह्न दो ही हैं जिनसे हम साधुको झट पहिचान जाते हैं कि यह साधु है। पहिला चिन्ह तो है नग्नस्वरूप और दूसरा चिह्न है शरीरकी सम्हाल न हो, शृङ्गार न हो। इसमें ये सब आगये कि बाल नहीं रखाते, अंग्रेजी बाल नहीं कटाते, केशलोच करते। शरीरपर कोई सुन्दर चीज नहीं लगाते, शरीरकी कोई शोभा नहीं बनाते, कोई माला वगैरह नहीं पहनते, कमरमें कमर डोरा भी नहीं बाँधते। तो किसी भी प्रकारका शृङ्गार शरीरमें न हो और शरीरका यथाजातरूप हो, ये चिन्ह हैं जिन्हें बाहरसे देख सकते हैं। मूल गुण तो २८ हैं पर सब दीख सकते हैं क्या ? ५ इन्द्रियोंको वशमें रखते हैं यह दीख पड़ता है क्या ? आप सहवासमें रहेंगे तो पहिचान जायेंगे। सीधे एकदम दिखनेवाले चिह्न ये नहीं हैं फिर भी बाहरमें ज्ञेय हैं तो उनमें कुछ कुछ माध्यम चिह्न हैं कुछ और वाह्य चिह्न हैं।

साधुके अन्तरङ्ग चिह्न—और साधुका अंतरंग चिह्न क्या है ? अंतरंग चिह्नोंकी पहिचान सत्संगमें रहकर सहवासमें रहकर हो सकती है। उनके मूर्छा नहीं होती मूर्छाका अर्थ है ममता परिणाम। ममता परिणाम होता है तो वह वाह्य पदार्थोंमें ही होता हैं स्व पदार्थमें मूर्छा क्या ? मैं ज्ञानमात्र हूं, इस प्रकारका अपने आपको निरखनेमें ममताका अवकाश कहां ?

ममताके विषय पर द्रव्य ही होते हैं। किसीसे कहा जाय कि तुम किसी पर द्रव्यका ध्यान मत करो ख्याल मत लावो और ममता बनाओ तो ममता नहीं बन सकती है। स्व आत्मामें भी यदि यह विचार है कि हमको इसे ठीक करना है तो वह भी परद्रव्य बन गया जब केवल ज्ञानमात्र अपनेमें स्व हो तब तो स्व द्रव्य है और यही स्व जब विकल्परूपमें निरखा जाय कि मुझे ऐसा काम करना है जिससे मैं स्वर्ग जाऊं, मोक्ष जाऊं, आदि तो इस प्रकारकी पद्धतिमें देखा गया जो निज आत्मा है वह भी पर है और इसी कारण अपने उस बनावटी कल्याणमें भी मूर्छा होजाती है। जब केवल ज्ञानमात्र ही ज्ञानमें अनुभव किया जारहा है और उस स्वरूपके अविनाशी शुद्ध सहज आनन्दका भाव होरहा हो ऐसी स्थितिमें ममताका कहीं अवकाश है क्या ? अरे कहां तो यह ममताका विकार और कहाँ यह मेरा सहज स्वभाव। इन दोनोंके अन्तरसे स्पष्ट परिचित वह संत विकल्प मात्रको भी अपने आपका स्वभाव नहीं समझता।

गृहस्थकी शोभा :—गृहस्थकी शोभा इसमें हैं कि वह गृहस्थोचित व्यवहार तो करता हो किन्तु अन्तरमें यह विश्वास बनाये रहे कि मेरा स्वभाव तो ज्ञान और दर्शन है। ज्ञान और दर्शनको न छोड़ते हुए अपने चरित्रकी कमजोरीमें चरित्रमोहके क्षयोपशमके अनुसार और उदयके अनुसार परिणतिमें लग रहे हैं फिर भी श्रद्धामें यह है कि ये सब परिणमन भी मेरे स्वभाव नहीं हैं यह मेरा परमात्मज्योतिर्मय स्वभाव स्वयं मोह रहित है अर्थात् मेरे स्वभावमें मोह नहीं है यदि मोह स्वभावमें हो तो मोह भी हेय नहीं हो सकता है। इस आत्मद्रव्य का कैसा निर्मल स्वभाव है कि मात्र ज्ञानप्रकाश ही जहाँ है, पर द्रव्योंकी जिसके आकांक्षा नहीं है। गृहस्थपदमें भी सर्वश्रेष्ट उत्कृष्ट ज्ञान चमत्कार, निर्मल ज्ञानवृत्तिका चमत्कार जब तक किसी भी क्षण व्यक्त नहीं हो पाता है तब तक अपने गृहस्थ धर्मकी वृत्तिको भी सम्वर और निर्जरा के कारण रूपसे बना सके इस पद्धतिको नहीं निभा सकता।

गृहस्थ व साधुकी समानता व असमानता :—गृहस्थ और साधु सबको एक प्रकारका श्रद्धान होता है, पर ज्ञानमें और चारित्रमें हानिवृद्धियां होती हैं, पूर्ण श्रुतज्ञान हुआ, उच्च अवधिज्ञान हुआ, मनःपर्ययज्ञान हुआ यह साधुकी विशेषता है और साधुके चरित्रका महान होना यह भी साधुकी विशेषता है। पर आत्मतत्त्व कैसा है इस विषयक श्रद्धान साधुका और गृहस्थका एक किस्मका है। और जब तक श्रद्धान सत्य नहीं होता, अपने

सहज स्वरूपका श्रद्धान नहीं होता तब तक किस आधारपर यह जीव सम्वर और निर्जरा करे ? तो ऐसी ही जिसकी दृष्टि होती है वह विरक्त गृहस्थ कभी उच्च वैराग्यमें साधुपदको अंगीकार कर लेता है। कोई साधुपद अंगीकार कर चल दे तो उसके बाह्य चिन्ह ये हैं जिनका वर्णन यहाँ किया गया है।

साधुके ५ अन्तरङ्ग लक्षण :—साधुके अन्तरङ्ग चिन्ह हैं—मूर्छासे रहित हो, आरम्भसे रहित हो, उपयोग शुद्ध हो. मन बचन कायके प्रवर्तनसे दुष्प्रवर्तनसे रहित हो, परापेक्षकताका अभाव हो। चैतन्य चमत्कारमात्र आत्माका स्वरूप है इस कारण मन, वचन, कायकी चेष्टाओंसे उसे कोई प्रयोजन नहीं है। ऐसा निर्णय करके इन व्यापारादि को भी दूर करता है। इस तरह मूर्छासे और आरम्भसे वह विमुक्त होता है, उसका उपयोग शुद्ध रहता है विषय कषायोंसे लगाव रखनेवालेका उपयोग शुद्ध नहीं होता है। साधुके कोई हठ नही होता है किसी बाहिरी बातोंमें। अपने अन्तरमें स्वभाव दृष्टिकी तो बड़ी हठ है, साधु बड़ा हठीला है मगर अपने स्वभाव दृष्टिमें हठीला है, बाहरी कामोंका उसे रंच हठ नहीं है।

आवश्यक उपकरणमें भी ममत्व व हठका अभाव :—किसी ग्रंथका स्वाध्याय साधु कररहा हो और कोई गृहस्थ या और कोई आकर कहे महाराज यह कौनसा ग्रंथ है। कहें कि भाई यह प्रवचनसार है। इसमें क्या वर्णन है। कुछ वर्णन सुनाया, उसे ऐसा सुहाया कि पढ़ना आवश्यक हो गया वह उस ग्रन्थको मागने लग गया तो इतनी मिर्ममता है साधुमें कि वह ग्रन्थको भी दूसरोंको दे देनेमें हिचक नहीं करता है। अजी मैं कैसे दे दूँ, यह मेरी पुस्तक है, इन बातोंको वह बीचमें नहीं लाता है आपके हितके लिए है, आप ले लीजिये।और, मानलो न देरहाहो वह औरकोई जबरदस्ती उठाकर लेजाय तो साधु क्या करेंगे ? उस साधुकी किसी भी पर द्रव्यमें हठ नहीं होती है मान लो पिछीको कोई उठा ले जाय तो ज्यादासे ज्यादा साधु क्या करेंगे ? नहीं गमन करेंगे पिछी कमण्डल रखा हुआ है और साधु ध्यानमें बैठे हों और कोई पीछी कमण्डल उठा ले जाय तो क्या उसकी साधुता मिट जायगी ? नहीं मिटेगी। हां वह व्यवहारमें न चलेगा। इतनी ही तो बात है।

साधुके वाह्यवृत्तिमें हठका अभाव :—किसी भी वाह्य वृत्तिमें साधुको हठ नहीं हैं। उस साधुका उपयोग शुद्ध है, निर्विकार है, स्वसम्वेद्य है, उसे किसी बातका हठ नहीं है, उसके यह हठ नहीं है कि आप लोग हमारी बात नहीं मानते हैं तो हम आहारको नहीं उठेंगे। किसी भी प्रकारका हठ इस

साधुके नहीं है। अपने आत्महितकी दृष्टिसे मैं आहारके लिए नहीं उठूंगा, नहीं जाऊँगा। यह तो आत्महितका भाव है। किन्तु तुमने नमस्कार नहीं किया, यहाँके श्रावक ठीक ढंगके नही है ठीक सत्कार नहीं किया इन्होंने, इस लिए आहार नहीं करूँगा ऐसा हठ साधुके नहीं होता। और भी धर्मचर्चाके प्रसंगमें भी कोई आगम की बात नहीं मानी तो हठ नही है। साधु अपने समता परिणामसे रहते हैं उनके तो ऐसी धर्मचर्चाका भी भाव नहीं होता है जिसके करनेसे राग द्वेष उठते हैं। वह रागद्वेषोंसे बचा हुआ रहता है। साधुके मनमें किसी प्रकारका अनर्थ नही लगा है, रागद्वेष भी नहीं है। उसका उपयोग शुद्ध होता है इसी कारण योग भी शुद्ध होता है जैसे कोई बड़ी आंतरिक तैयारी हो तो वह परकी क्या अपेक्षा करे। सो साधु परकी अपेक्षासे रहित है।

अनुभवका कारण :—यह समस्त अंतरंग लिंग अपुनर्भवका कारण है। अपुनर्भव कहते हैं पुनः भव न मिले, अर्थात् मोक्ष। मेरी वर्वादी करनेके लिए, अपुर्भव मिलता है जो शुद्ध आत्माका परिणाम है ऐसा जो मोक्ष तत्त्व है उसका कारण है यह अंतरंग लिङ्ग। अपनी शांतिके लिए बड़ा लोग यत्न करते हैं पर एक यत्न ऐसा करलो, ऐसा आग्रह करलो कि मुझे अणुमात्र भी फिर द्रव्योंमें ध्यान नही देना है। मैं तो बिल्कुल अकेला रहूंगा, उपयोग में भी अकेला ही रहूंगा, ऐसे अकेलेपनके रहनेकी एक हठ तो कर लो' किसी क्षण महान परमानन्दसे भरा हुआ परमात्मस्वरूप दिख गया तो सदाके लिए भला होगया। इसलिए महान यत्न करके भी आत्माके शुद्धस्वरूप के दर्शन करो। यह जिनेन्द्रभगवानके द्वारा कहा गया साधुका अंतरंग लिंग है।

जिस विरक्त गृहस्थने यथार्थ सब कुछ निर्णय करके घरसे निकल कर फिर पूछ विचार करके गुरुके समीप आकर शिक्षा ली, दीक्षा ली, वही पुरुष अब दोनों लिङ्गोंको ग्रहण करके यथार्थ श्रमण होता है। सो यह महापुरुष आत्महितके लिये अब क्या करता है इस बातका वर्णन इस अगली गाथामें किया जारहा है—

आदाय तंपि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता।
सोच्चा सवदं किरियं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥२०७॥

ज्ञानी जीव जिसने कि संसारको दु.खमय निर्णय किया है, मोह रागद्वेषोंको ही अपना दुश्मन समझ लिया है और अपने आपका परमशरण जो सहज चैतन्य स्वरूप है उसका जिसने दर्शन किया है ऐसा ज्ञानी पुरुष किसी भी विषयमें नहीं रमता है उसे इन्द्रियोंके विषय रम्य नहीं मालूम

होते है। उसके एक धुन रहती है। मैं कब अपने शुद्ध स्वभावरूप होऊँ, कब रागद्वेष मोहको हटाऊँ और समता परिणाममें रहने लगूँ।

सुख दुखका कारण :—सुख और दुःख के केवल दो ही निर्णय हैं। जहाँ रागद्वेष है वहाँ दुःख है और जहाँ समता है वहाँ सुख है। चाहे गृहस्थ हो चाहे मुनि हो दुःख सुखका ढंग एक ही होता है। अब रहा यह कि गृहस्थ गृहस्थीमें रहकर कितनी समता कर सकता है और साधु साधुपदमें रहकर कितनी समता कर सकता है? साधु पूर्णसमता कर सकता है। यह जरूर अंतरकी बात है, पर जिसने भी सुख पाया है समतासे ही सुख पाया है। जिसके रागद्वेष नहीं हैं ऐसा निर्णय करने वाला ज्ञानी संत गुरुकी खोजमें घरसे चलता है कि मुझे कोई ऐसा गुरु मिले कि जिसके सत्संगमें रहकर मैं समता परिणाम को करूँ, यों वह श्रमण होनेकी चाह करता है। श्रमणका अर्थ है जिसके रागद्वेष न हो, समता परिणाम हो। वह समझता है कि गृहस्थीका वातावरण ऐसा है कि यहाँ समता बन नहीं सकती।

धर्मका स्थान—समता परिणामके यत्न करनेका नाम धर्म है। धर्म और कोई चीज नहीं है रागद्वेष न हो, समता परिणाम हो उसीका नाम धर्म है। कोई पूजा विधान करता हो और रागद्वेष आदि बढ़ावे, क्रुद्ध होवे इसने यह नहीं किया, तुम यहां क्यों खड़े हो, कितने ही प्रकारकी नाराजगी लावे, अथवा कोई नहा करके आया और किसीने छू लिया तो नाराजगी आवे, क्रोध करे तो यह बतलाओ कि भैया, धर्म हुआ कि नहीं हुआ। रागद्वेष जहां हैं वहां धर्म होता ही नहीं है। अपना चित्त साधनेके लिए पूजा करो, विधान करो, शुद्धतासे रहो, अगर कदाचित् कोई प्रतिकूल काम करे अथवा छू ले तो इतनी हिम्मत रखो कि भीतर यह ज्ञान कर सकें कि मैं आत्मा एक चित्प्रकाशमय हूं। आत्मामें यदि कषाय आयगा तो इसमें अधर्म आ जायगा। मुझमें कषाय नहीं आना चाहिए। धर्मकी प्रत्येक बात तो कषाय न आनेके लिए की जाती है।

प्रभुभक्तिका सदुपयोग—भैया! हम प्रभुके स्वरूपको निरखकर अपने आपमें यह निश्चय करें कि हे नाथ! यह मार्ग उद्धारका है, कषायरहित रहकर जीव सुखी हो सकता है। भगवानकी ओर चित्त लगाओ और विषय कषायोंको छोड़ो, मोह रागद्वेषको छोड़ो। यही मार्ग हमें अपनाना है। सबसे बड़ी जिन्दगीमें समस्या है तो लोगोंमें एक धनी बननेकी समस्या है। इस समस्याकी उधेड़बुनमें प्रभुभक्ति कहांसे हो। हर एक कोई चाहता है कि मैं अधिकसे अधिक धनी बनूं पर धनी बनकर यदि कुछ विवेक होता है

तो यह सोचते है कि इससे अधिक सुख तो मुझे पहिले था जब निकट विशेष धन न था, सारी बातोंमें संतोष हो जाया करता था। पहिले सुख ज्यादा था। तो यह एक बड़ी विकट समस्या है कि मैं धनी हो जाऊं यह समस्या सुलझ सकती है ज्ञान अथवा धर्म और पुण्यपाप इन दो बातोंका स्वरूप समझनेसे। कोई कितना ही यत्न करले, और उपाय करले कम्पनी खोल ले, दूकान खोल ले, आय भी बढ़ने लगे, मगर धनी होनेकी इच्छासे होने वाले जो क्लेश हैं वे क्लेश तो मिट नहीं सकते। ये क्लेश मिटेंगे तो ज्ञान और पुण्य दोनोंके स्वरूप समझने पर।

ज्ञानका प्रकाश :—भैया ! ज्ञान तो वह कहलाता है जहाँ सर्व पदार्थोंके स्वरूपका यथार्थ निर्णय होजाता है। प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र हैं। मैं भी अपने स्वरूपमें हूं। समाजके बीच समाजके कुछ लोगोंके द्वारा अच्छा कह दिया जानेपर यह आत्मा अच्छा नहीं हो जाता। हमारा ही अगर श्रद्धान, ज्ञान, आचरण सही हो तो यह सही हो सकता है। तो लोग सब मिलकर भी चाहे कुछ कहें तो उससे पूरा न पड़ेगा। मेरा पूरा पड़ेगा सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्रकी साधनासे। और पुण्यकी बात यह सोचो कि जो कुछ यहाँ वैभव मिला है वह वर्तमानकी कलासे नहीं मिला है। मैं इतना पढ़ चुका हूं हममें इतनी कला है, इस कलाके बलसे मैं धन कमाता हूं, यह बात भ्रमकी है, वर्तमान कलाके कारण धन नहीं आया करता, किन्तु पूर्व समयमें जो पुण्य किया था उस पुण्यके फलमें धन प्राप्त हुआ है, जो अनायास ही अल्प उद्यमसे प्राप्त हो जाता है, तो धनकी प्राप्तिका मुख्य कारण पुण्य है। नहीं तो युक्तियोंसे देख लो। कितने ही लोग बड़ा परिश्रम करते हैं। घास खोदने वाले, लकड़ी बीनने वाले दिन भरमें ८ आने कमा पाते हैं और एक कोई यत्न भी नहीं करता उसकी सैकड़ों रुपया रोजकी कमाई है। यह फर्क कहांसे आया ? यह सब पूर्वकृत सुकृतका अर्थात् विशुद्ध परिणामका फल है।

बाह्यसंगसे हितका अभाव :—धनके चिन्तनसे विकल्पसे आत्माका पूरा नहीं पड़ता है। धनका संचय हो जानेसे आत्माका पूरा नहीं पड़ेगा। आखिर मर गए; मरना तो पड़ेगा ही फिर कहां जायेंगे ? एकेन्द्रिय हो गये तो अब कल्याणकी आशा कहां। सो यह सब धन भी मिले, परिवार भी योग्य मिले, मित्रजन भी रहें तो भी इन सबसे पूरा नहीं पड़ा करता है। इसलिए बाह्य वस्तुवोंकी मुझे आकांक्षा नहीं है। उदयके अनुकूल जितना जो कुछ प्राप्त होता है उस ही में विभाग करके अपना गुजारा करना है और धर्ममें

चित्त देना है, इतना निर्णय मनमें आये तो शांतिकी पात्रता हो सकती है। यदि इतना अपने मनमें न आया तो फिर सब जीवका ऊधम है।

विवेक रखनेकी प्रेरणा :—मुझे तो धनिक बनना है। अरे क्यों धनिक बनना है ? फायदा क्या पावोगे ? बड़े-बड़े चक्रवर्तियों ने तो अपना हित इस धनसे नहीं माना इसलिए समस्त धन वैभवको त्याग दिया और आत्म-साधनामें लग गए। इतनी हिम्मत हो और इतना निर्णय हो, सत्यका हट हो, आग्रह हो कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। उदयके अनुसार जो आता है वश उसमें ही हमारा गुजारा होगा। इतनी हिम्मत हो तो वह धर्म कर सकता है। यदि तृष्णायें ही रहीं तो फिर धर्म कहां रह गया ? धर्म वस्तुस्वरूपके चिन्तनका परिणाम है। भाई समता परिणामसे ही आनन्द है, ऐसा जान कर समता परिणामका उद्यम करो और समताके उद्यममें सबसे बड़ा उद्यम ज्ञाता द्रष्टा रहना है सो एतदर्थ यथार्थ ज्ञान प्राप्त करो।

यथार्थ जाननेमें कष्टकी समाप्तिः—भैया ! शरीर आपकी आत्मासे जुदा है अथवा नहीं ? जुदा नहीं है शरीर यह तो सत्य नहीं है। देखा तो करते हो कि आत्मा निकल जाता है तब शरीरको शीघ्र जला डालते हैं क्या इस शरीरपर कोई दया करता है कि इसे बचालो, इसे बहुत पाला-पोषा इसे अब न जलावो। कितने सालसे पाला पोषा, इसे अब न जलावो ऐसा कोई नहीं सोचता है। जैसे फूलकी सुगंध खतम होनेपर उससे कोई प्रेम नहीं करता इसी प्रकार जीवके निकल जानेपर इस शरीरसे कोई प्रेम नहीं करता, श्मशानमें ले जाकर योंही जला दिया जाता है। तो हम देखते हैं कि यह शरीर जुदा है और जीव जुदा है। इस बातका निर्णय कर लो. और अपने आपके बारेमें निर्णय करलो। मैं क्या यह शरीर ही हूं या शरीरसे न्यारा कोई आत्मा हूं। यदि इस शरीरको ही जीव मानते रहोगे तो यह जन्म मरण का चक्र चलता रहेगा। शरीर को माना कि मैं हूं फिर तोमरने के बाद मैं कुछ न रहा। यदि इस शरीरको मैं अपना समझूं तो इसका फल नियम से खराब होगा। यथार्थ जानो, शरीर मैं नहीं हूं फिर कुछ कष्ट नहीं।

धर्म पुरुषार्थ :—धर्मके लिए अपने आपमें ही बहुत सा काम करना है। कुछ बाहर नहीं करना है बाहरमें तो कुछ अवलम्बन है पर काम करनेको अन्तरमें है। पूजा है, सामायिक है, स्वाध्याय है, शुद्ध भोजन है ये सब योग्य हैं, करना चाहिए मगर यह ध्यान रखो कि धर्म समता परिणाममें है धर्म केवल ज्ञातादृष्टा रहनेमें है। श्रद्धान यह बने तो इन कामोंके करते हुए की स्थिति में भी प्रभुताके दर्शन करते रहोगे, और जिस क्षण रागद्वेषका विकल्प रंच

भी न रहेगा उस समय अपने आप हो चूंकि यह आत्मस्वरूप आनन्दका निधान है सो आत्मासे ही आनन्द एकदम झरेगा और उस आनन्दका अनुभव कर लेनेपर यह निर्णय होगा कि यही सम्यग्दर्शन है ऐसे आनन्दका अनुभव न करना, ऐसा ज्ञानमात्र रहना बस यही सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन आत्मस्वभावके अनुभवमें है।

आत्मस्वभाव :—वह आत्माका स्वभाव कैसा है। इसको समयसारमें पूज्यश्री अमृतचंद जी सूरिने एक कलशकाव्य कहा है :—

आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्तविमुक्तमेकं।
विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युदेति।

आत्माका स्वभाव समस्त परद्रव्योंसे जुदा है। मेरा आत्मा जो इस देह मन्दिरमें विराजमान है वह निज पर्याय गुणकर सहित है, रागद्वेष भी हो रहे हों पर इस समूचे आत्माके स्वभावको देखते हैं कि यह स्वभाव कैसा है? इसका वर्णन इस कलशमें किया गया है।

आत्माकी परद्रव्योंसे पृथकता :—यह मैं आत्मा सब परद्रव्योंसे न्यारा हूं। मैं चौकीरूप हूं क्या? मेरा स्वभाव चौकीरूप है क्या? अरे, यह तो प्रकट भिन्न है। मेरा स्वभाव घररूप है क्या? वह भी जुदा है क्या मेरा स्वभाव शरीर है? वह भी जुदा है। मेरा स्वभाव समस्त परद्रव्योंसे न्यारा है, परात्पर चिज्ज्योतिमात्र है।

आत्माकी परभावोंसे पृथकता :—ये रागद्वेष समस्त परद्रव्योंकी उपाधि के निमित्तसे होते हैं। मैं अनादि अनन्त अहेतुक अपने आप ही हूं मैं किसी परके कारण नहीं हूं। जो परकी वजहसे होते हैं ऐसे जो रागद्वेष विषय कषाय आदि हैं वे भी मैं नहीं हूं मैं उन पर भावोंसे जुदा हूं।

क्षायोपशमिक ज्ञानोंसे आत्माकी पृथक्ता :—अब और अन्तरमें चलकर अपने आत्माके भीतर मर्ममें देखो तो मैं अब तक तो पर द्रव्योंसे जुदा और परभावोंसे जुदा मालूम होगया हूं। पर मुझमें ही जो छोटे-छोटे ज्ञान उत्पन्न होते हैं अमुक पदार्थोंको जानलिया, अमुक तत्त्वोंको जानलिया, अमुक पदार्थोंकी चर्चा करली क्या ऐसा ज्ञान रूप हूं? क्या ऐसा ज्ञान मेरा स्वभाव है? मेरा स्वभाव तो परिपूर्ण ज्ञानका है। मेरा स्वभाव तो छुटपुट ज्ञानसे परे है, सर्व विश्वको जाननेका है। इसलिए यह जो क्षायोपशमिक ज्ञान है यह मेरा स्वभाव नहीं है।

विश्वज्ञतावृत्तिसे आत्माकी पृथक्ता :—तो क्या मेरा स्वभाव केवल ज्ञान है। ऐसा ज्ञान मेरा स्वभाव होता तो अनादिसे ही प्रकट होता। यद्यपि

केवल ज्ञान मेरे ज्ञानका पूरा विकाश है पर विकाश ही तो है। ज्ञानावरणके क्षयके निमित्तसे उत्पन्न होता है। वह आत्मामें अनादिसे नहीं है। वस्तुतः वह भी क्षणिक परिणमन है। वह केवलज्ञान भी मेरा स्वभाव नहीं है। मेरा स्वभाव तो केवलज्ञानशक्ति है जो अनादि कालसे अनन्त काल तक रहने वाली है। और फिर क्या? मैं यह एक ज्ञानशक्ति हूं।

आत्मस्वभावकी निर्विकल्पताः—भैया! ज्ञानशक्तिके बारेमें एकपनेका ध्यान करें, क्या यह ध्यान मेरा स्वभाव है? नहीं, यह मेरा स्वभाव नहीं है। उस ज्ञान शक्तिका अनुभवन तो है पर ज्ञानशक्तिका ख्याल न आये, विकल्प न हो, ऐसी स्थितिमें जो ज्ञानकी वर्तना है वह मेरा स्वभाव है, वह परिणमन नहीं है मेरा स्वभाव, किन्तु उस परिणमनका आधारभूत ज्ञान शक्ति मेरा स्वभाव है और जो मेरा स्वभाव है वह मैं हूं।

आत्मस्वभावके विवरणका उपसंहारः—अब देखिये मैं क्या हूं? तन धन आदिसे न्यारा हूं और अपने आपके जो रागद्वेष हैं उनतक से न्यारा हूं। अपने आपमें जो छोटामोटा ज्ञान हुआ करता है उससे भी न्यारा हूं। और अपने आपका जो पूर्ण विकाश है, केवल ज्ञान है, उससे भी न्यारा एक ज्ञान स्वभावमात्र हूं। मैं सर्व पर, परभाव व पर्यायोंसे न्यारा एक प्रभु हूं।

अनुरागका औचित्यः—मोही जीव जिन जिन पदार्थोंसे लगाव लगाये हुए हैं, रात दिन पर द्रव्योंकी धुनमें लगे हुए हैं, कि धन इकट्ठा होजाय, सो कोई लौकिक हितू इन्हें जितने धनकी चाह है उससे दूना भी धन दे दे तो भी शान्ति नहीं मिल सकती, सुख नहीं मिल सकता। लोगोंकी मुहब्बतके बजाय अपने प्रभुसे प्रेम बढ़ाओ। उन मोहियोंसे प्रेम बढ़ानेमें लाभ नहीं होगा, किन्तु निर्मोही पुरुषोंमें, और निर्मोह शुद्ध परमात्मदेवमें यदि अनुराग रखोगे तो इतना पुण्य बढ़ेगा कि यह सम्पदा अपने आप ही पुण्यके फलमें आगे आयगी। और यदि मोही जीवोंसे ही अनुराग बसाया तो उसका फल केवल क्लेश है। उससे शान्ति नहीं होसकती। स्त्री पुत्र, परिवारको अपना हितू समझ लेना उनसे ही अनुराग बढ़ाना उससे पूरा न पड़ेगा। इन समागमोंके होजानेसे आत्माका कोई हित नहीं होता है।

हितका हेतुः—मेरे हितका कारण तो आत्मस्वभावकी भक्ति है, परमात्मदेवकी भक्ति है। जिस भक्तिके कारण जिस उपासनाके प्रसादसे मुझे वीतरागता रुचजाय और ज्ञानचमत्कारका ही अनुराग रहे तो वह भक्ति मुझे लाभ देगी, पर मोही जीवोंकी भक्ति उनकी उपासना कुछ लाभ नहीं देगी उल्टा दुर्गतिका ही कारण होगी। किसपर विश्वास करते हो?

कौन जीव ऐसा है कि जो विश्वासके योग्य हो। किसी जीवसे आप सुख चाहें और उससे सुख मिलजाय ऐसा कोई जीव नहीं है। जिससे आपको बड़ा प्रेम है, क्या उसमें यह सामर्थ्य है कि वह आपको शांति दे दे ? वे शांति नहीं देंगे वल्कि उन मोह रागके परिणामोंमें राग होनेके कारण अशांति ही मिलेगी। रागादिकका राग ही अशान्तिका मूल है।

शान्तिका उपाय :—भैया, शांति मिला करती है तो पंचपरमेष्ठीकी भक्तिमें और आत्मदेवकी भक्तिमें ही मिला करती है इसके लिए वड़ा त्याग करना होगा, जिसे कहते हैं वलिदान। शान्तिके अर्थ पहिले वड़ा वलिदान देना होगा। क्योंकि इन सव जीवोंमें इज्जत न चाहना, इनसे अपनी पोजीशन वने ऐसी आशा न रखना यह वहुत वड़ा भारी त्याग है। इतना भावात्मक त्याग हुए विना समता परिणामके पात्र नहीं हो सकते। और एक वात है कि इज्जत चाहनेसे नहीं मिलती किन्तु नम्र होनेसे, लोगोंमें इज्जत का चलन करनेसे इज्जत वढ़ती है। यदि स्वयंमें समताका, दयाका, क्षमाका और आत्मध्यानका गुण है तो लोगोंमें स्वयं इज्जत वढ़ती है, भैया ! इज्जत जिसकी वढ़ती है वह इज्जतको चाहता नही और जिसकी इज्जत नहीं होती वह इज्जतको चाहता है।

कीर्तिके कुमारी रहनेका कारण :—एक कविने कहा है कि कीर्ति अव तक कुमारी है। कीर्ति माने यश। वह अवतक कुमारी ही फिररही है, दुनियामें भटकरही है अभीतक उसका विवाह नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ कीर्तिका विवाह ? यों कि कीर्तिको किसी जीवने व कीर्तिने किसी जीवको नहीं चुन पाया। यों नहीं चुन पाया कि कीर्ति जिस पुरुपको चाहती है वह कीर्तिको चाहता नहीं और जो कीर्तिको चाहता है कीर्ति उसको नहीं चाहती है। और, विवाह तो तव हो जव दोनोंका एकसा चित्त हो। जिसे कीर्ति चाहे वह कीर्तिको चाहे तो विवाह होजाय। पर ऐसा नहीं होपाता। अर्थात् कीर्ति किसीकी वनकर आजतक नहीं रही। भूत कालके २४ तीर्थंकरों का शायद ही किसीको नाम याद हो। वर्तमान कालके २४ तीर्थंकरोंका नाम भी थोड़े ही लोग जानते होंगे। ज्यादासे ज्यादा नेमिनाथ, ऋषभनाथ, आदिनाथ और महावीर इन्हींका नाम जानते होंगे। हां सामायिक, पूजा पाठ करते हुए में कदाचित् वोल देते हैं पर उन सवके प्रायः वहुत तो नाम नहीं जानते। और उन नाम जाननेवालोंकी संख्या लाखोंमें से एक ही वैठेगा। तो कीर्ति किसकी रही ? वतलाओ ?

सर्वप्रियताका अभाव :—महात्मा गांधीजीको वहुतसे लोग अच्छा कहते

हैं, मगर बहुतसे लोग बुरा कहनेवाले हैं। नेहरूको बहुतसे लोग अच्छा कहते हैं पर आज भी देख लो बहुतसे लोग बुरा भी कहते हैं। मान लो कि बहुतोंने अच्छा कह दिया तो किसने अच्छा कह दिया ? वे भगवान हैं क्या ? जो अच्छा कहरहे हैं ? नहीं। यदि भगवान हों तो संसारमें रुलने-वाले ही तो जीव हैं। उन्होंने अच्छा कहदिया तो क्या अच्छा हो गया ? तो भैया इतनी हिम्मत बनाओ कि मुझे लोग अच्छा कहें अथवा न कहें, पर मेरे आत्मामें मेरे सम्यग्ज्ञानका प्रकाश हो, जिससे मेरेमें समता रहे शांति रहे ऐसा अपना ज्ञान बनाओ तो शांतिका मार्ग है। सत्यताको प्रेक्टिकल कर लो तो ठीक है आत्मसत्यका शरण ही परमार्थशरण ।

यत्न और सिद्धि :—एक बाबू साहब कलकत्ता जारहे थे। तो पड़ोस की रईसोंकी बहुयें बोलीं कि बाबूजी हमारे मुन्नाको एक खेलनेका हवाई जहाज ला देना। दूसरी बोली हमारे मुन्नाको खेलनेकी मोटर ला देना। इसी तरहसे दसों बहुयें आयीं और चली गयीं। बादमें एक बुढ़िया आई दो पैसे लेकर और बोली बाबूजी ये मेरे २ पैसे लो मेरे मुन्नाको खेलनेका खिलौना ला देना। बाबूजी बोले—बूढ़ी मां ! तेरा मुन्ना ही खिलोंना खेलेगा और जो लखपतीके घरकी दसों बहुयें आयी वे बातें ही करके चली गयीं। दिया कुछ नहीं। तो जो अपना विचार ठीक बना लेगा, हिम्मत कर लेगा कि मुझे दुनियामें किसीसे कुछ नहीं चाहिए तो इस तरहसे स्वतन्त्र व निज-परिचित रहनेमें उसका अपना काम बनता है।

शान्तिकी बाधिका तृष्णा :—भैया ! समता परिणामका काम, शान्ति के अनुभवका काम, ज्ञाता द्रष्टा रहनेका काम, ये यदि बन जायें तो शांति प्राप्त हो सकती है। मगर यह तृष्णा बहुत बड़ा रोग है धनी होनेकी चाह, बड़ा होनेकी चाह, ये क्या विडम्बना हैं। इसकी पूर्ति कर लेनेसे शांति हो जायगी क्या ? शांति नहीं हो सकती। किसीने कोई बड़ा पद प्राप्त कर लिया, सबसे बड़ा होगया, मान लो कि मिनिष्टर हो गया, प्रधान हो गया क्या इसके आगे यह चाह न होगी कि मैं विश्वके राष्ट्रोंका प्रेसिडेन्ट बनूं ? कदाचित् बन भी जाय तो जब बात नहीं मानी जाती है तो कितना क्लेश होता है। अरे मैं इतना बड़ा हो गया, ये इतना भी नहीं कर सकते सो बड़ा तो भैया वास्तवमें वही परमपुरुष है जो शांति और संतोष प्राप्त कर सकता है, ऐसा ज्ञान जिसके है वह ही वास्तविक बड़ा है। और बाँकी जो अपनेको बड़ा समझते हैं उनका जीवन अशांतिमें पलता है।

शान्तिलाभका उपाय सम्यक् ज्ञान :—अशान्तिसे दूर होनेके अर्थ ज्ञाना-

र्जनका उपाय करो। अभी आप देख लो, जिसके ज्ञान सही है वह चाहे थोड़ा भी जानता हो वह शांति ले सकता है जिसके ज्ञान अधिक हो और वह उल्टा जानता हो तो वह अपनेमें शांत नहीं होता है। यह लौकिक ज्ञान वढ़ गया, एम० ए० होगये और कुछ हो गए तो इतनेमें शांति हो जानी चाहिए। मगर शांति वाला ज्ञान और होता है, लौकिक ज्ञान और होता है। शांति वाला ज्ञान तो वह है जिसके उपयोगमें एकत्व भावनाका स्वरूप आ जाता है। मैं अकेला ही हूं, अकेला ही जन्मा हूं और अकेला ही मरूंगा यदि ऐसा भाव वन जाता है तो उसे दुःख नहीं होता है। परसे मुझ आत्माका भैया, परमाणु मात्र भी तो कुछ सम्वन्ध नहीं है, मैं तो ज्ञायकमात्र हूं ऐसे स्वरूपका भान जिस बोधमें होता है उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान। और इससे विपरीत कितना ही लौकिक ज्ञान कर लो मगर वह सव अज्ञान है।

सम्यक् और असम्यक् ज्ञानकी दिशा :—एक बुढ़ियाके दो वच्चे थे उनमें एक तो बच्चा तेज देखता था मगर देखता था पीला और एक कम देखता था मगर देखता था सही। तो बुढ़िया दोनों वच्चोंको वैद्यके पास ले गई। वैद्यने दोनोंको एकसी सफेद मोतीभस्मकी दवा दी व कहा कि चाँदीके गिलास में, गैयाके दूधमें यह दवा पिला देना। जव उस तेज देखने वालेको पीला देखनेवालेको बुढ़िया दवा देने लगी तो वह बोला मां! क्या मैं ही तुम्हें दुश्मन मिला इस पीतलके गिलासमें, गैयाके मूत्रमें यह हरताल दवा मुझे पिला रही हो। उसने दवा नहीं पिया और कम देखनेवालेने, सही सही देखनेवालेने देखा कि चाँदीका ही तो गिलास है। गाय ही का तो दूध है, और वही तो दवा है। उसने दवा पी लिया और अच्छा होगया। तो हमें वड़े ज्ञानसे प्रयोजन नही है, हमें तो शुद्ध ज्ञानसे प्रयोजन है। शुद्ध ज्ञान किसको कहा है? जिससे हम अपने आत्माके नजदीक हों वही ज्ञान सही है।

समताका अभिलाषी :—यह प्रकरण यहां चल रहा है कि जो श्रमण होनेकी इच्छा करता है वह क्या क्या करता है। जो समता परिणामसे वना रहनेकी इच्छा करता है वह पहिले तो वहिरंग और अंतरंग लिंगोंको ग्रहण करता है अर्थात् वाहरमें नग्न दिगम्वर परिग्रहरहित, आरम्भरहित स्वरूपको ग्रहण करता है, क्योंकि जो समता परिणामको चाहता हो उसको यह आवश्यकता होती है कि समताके विरुद्ध हुए तामस याने राग द्वेषका साधक जो वातावरण है घरके समागम, आरम्भ परिग्रह आदि ये नहीं होना चाहिए। तो वहिरंग लिंग निष्परिग्रहता को धारण करता है, भैया, समताके पुजारीका अंतरंग लिङ्ग क्या है? मूर्छा न हो, आरम्भ परि-

ग्रह न हो, मन बचन, कायकी शुद्धि हो निर्मल परिणाम हो, तथा किसी वस्तुकी अपेक्षा न रखता हो ऐसा जिसके अंतरमें मन है सो अंतरंग लिङ्ग है। इन दोनों प्रकार के लिङ्गोंमें यह श्रमण श्रामण्य ग्रहण करता है।

साधुत्वका उपासक—यह प्रसंग गृहस्थजनोंके लायक यों है कि जिसको मुनि बननेकी इच्छा नहीं है उसे उपासक नहीं माना गया है, चाहे वह श्रावक अपने जीवन भर कभी साधु न हो सकता हो, किन्तु साधु व्रतको ग्रहण करूं ऐसी रुचि गृहस्थके होनी चाहिए। और साधुधर्मकी रुचि तब होगी जब साधुधर्मका विवरण मालूम हो। सो यही गृहस्थ जब श्रमण होना चाहता है, साधु होना चाहता है, समता पूर्ण जीवन व्यतीत करना चाहता है तो वह दोनों प्रकारके चिन्होंको ग्रहण करता है। गुरुको नमस्कार करता, व्रत क्रियाओंको सुनता है, और व्रत क्रियाओंके ग्रहणमें प्रयत्नशील होता है और अधिकाधिक समताकी सामग्री करके युक्त होता है।

नग्नत्व महातप—भैया! वहिरंग चिह्न देहकी नग्नता है और अन्तरङ्ग चिह्न आत्माकी नग्नता है अर्थात् केवल स्वस्वरूपदृष्टि है। जो पुरुष नग्न और शांत मुद्रासे विवेकपूर्ण चेष्टासे रहा करता है उसका प्रायः सब प्रजा लोगोंपर यह विश्वास होजाता है कि यह निर्विकार महापुरुष है। नग्न पुरुष है, नग्नता बड़ी ऊंची तपस्या है। लौकिकजन तो प्रायः मखौल उड़ा देते हैं, पर नग्न हो सके और कोई प्रकारका विकार न उठे ऐसी स्थिति बनना बहुत ऊंचे वैराग्यका फल है। यह बहिरंग लिङ्ग यथाजात रूपसे गमन है। जैसा शरीर उत्पन्न हुआ वैसे ही शरीरका रूपक होना और जैसा सहजस्वरूप है वैसा आत्मरूप बनना यह यथाजातरूप कहलाता है। सो दोनों प्रकारका यह लिङ्ग गुरुके द्वारा मूलमें तो अरहंत याने आप्त सर्वज्ञ आत्माके द्वारा दिया गया है। कैसे दिया गया है वह कि जिनकी परम्परामें चलकर, जिनके बताये हुए मार्गपर चलकर आचार्य होते हैं, जिनसे दीक्षा ली जा रही है। आचार्य अरहंतभाषित मार्गको ही बताते हैं। सो मूलमें तो अरहंत देवका दिया हुआ व्रत है और वर्तमानमें साक्षात् जो आचार्य हैं उनके द्वारा दिया हुआ व्रत है।

व्यवहार और निश्चय दीक्षा—यह दीयमान व्रत व्यवहारसे दिया हुआ कहलाता है, क्योंकि आत्मोद्धारकी बातको ग्रहण करनेका विधान बतलाने वाले आचार्यदेव हैं, इसलिए इस परके प्रसंगमें से वह दीक्षा दीयमान कहलाती है। उस दीक्षामें जो आधार बनता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, तपाचार, चारित्राचार, और वीर्याचार, इन आचारोंको ग्रहण करनेका जो ज्ञान हुआ

है, आचारोंका ग्रहण करनेका संकल्प हुआ है और उन आचारोंके स्वरूपमें ज्ञानकी तन्मयता हुई है ऐसी तन्मयताका होना सो निश्चयसे दीक्षाका लेना कहलाता है। गुरुके द्वारा दीक्षा ली यह तो व्यवहार कथन है पर दीक्षामें जो पालन किया जायगा तथा जो आचारके संकल्पमें और धारणाकी ज्ञानवृत्तिमें तन्मयता है और रत्नत्रयके साथ साथ लौकिक आनन्दका अनुभव है ऐसी जो पवित्र दशा है उसे कहते हैं कि दीक्षाको निश्चयसे ग्रहण किया। अपने स्वरूपमें उच्च निर्मल परिणामोंके ग्रहण करनेका नाम निश्चयसे दीक्षाका ग्रहण कहलाता है और किसी क्षेत्रमें वैठकर किसी योग्य सम्बंधमें रहकर. किसी योग्य आचार्यसे किसी योग्य द्रव्यको ग्रहण करना यानेपिछी है, कमंडल है, पुस्तक है अथवा दीक्षा विधिमें कोई अन्य उपयोगी चीज है उसे ग्रहण करना, व्यवहारसे दीक्षाका ग्रहण कहलाता है।

दीक्षाका भावात्मक विधान-भैया दीक्षा ग्रहणमें जो इतनी वातें की जाती हैं चौक पूरना, कलश रखना, वहुतसे पुष्प आदि सिर रखना या और और वातें करना ये दीक्षाके लिए आवश्यक नहीं हैं। यदि ये आवश्यक हों तो किसीको वैराग्य हुआ, जंगलमें पहुँचा, साधुसे प्रार्थना की तो साधु किस प्रकार दीक्षा देते थे। दीक्षाकी विधि भावात्मक होती है। इतने पदार्थोंको इकट्ठा किया जावे और कोई सौभाग्यवाली स्त्री कलश लावे, हाथमें पुष्प लेकर भी चले। खैर इतना तो हमें पता नहीं किन्तु इतने परद्रव्योंकी अपेक्षा करते हुए दीक्षा देना यह साधु आम्नायकी वात तो नहीं जचती, क्योंकि यह तो भावात्मक सम्वन्ध है। गद्‌गद् वाणीसे आत्महितकी भिक्षासी मांगते हुए वह श्रावक निवेदन करता और उस श्रावकके दिलकी उदारताको त्यागभावनाको समझकर प्रसन्नचित्त होकर गद्‌गद् वाणीसे आचार्य स्वयं स्वीकार करता है यह दीक्षा का वास्तविक ढंग है।

ज्ञान और वैराग्यका समारोहसे असम्वन्ध--भैया ! महीनों पहिलेसे तै करली जाय कि फलां दिन दीक्षा दी जायगी, आमंत्रणपत्र छपा लिए और निश्चित कर लिया कि फलां दिन फलां टाइम पर दीक्षा दी जायगी, यह तो दीक्षा देनेका ढंग नहीं है। क्योंकि पता नहीं है कि उतने दिनोंके वादमें उस टाइम पर अप्रमत्त गुणस्थान होजाय। दीक्षा तो एक आकस्मिक चीज है। जिस समय विरक्त चित्त होगया और आचार्य साधु पुरुष मिल गया उसी समय निवेदन गद्‌गद् वाणीसे हुआ और उसी समय स्वीकार कर लिया। यह तो सच्ची वात है और वाँकी उत्सव वने, समारोह बने, यह लौकिक काम है।

ज्ञान और वैराग्यका वहाँ सम्वंध नहीं है निश्चयसे दीक्षाका ग्रहण क्या कहलाता है कि भावात्मक निवेदन और आचार्यकी भावात्मक स्वीकृति उस प्रसंगमें आचार्यका और शिष्यका एक लक्ष्य हो और एक लक्ष्य होनेके कारण दोनोंमें प्रसन्नता बढ़े यह निश्चयसे दीक्षाका ग्रहण है। दीक्षा आचार्यसे लेनी है या हजारों पुरुषोंसे लेनी है। दीक्षा तो एक से लेनी है। रही प्रभावना बार्ता तो ठोक पीटकर जैसे वैद्यराज बननेकी बात है उसी प्रकारसे यह प्रभावनाकी बात हुई।

ज्ञान व वैराग्यका अनियत समय :—नियत समयमें जो साधु दीक्षा लेरहा है। उस पुरुषमें ही ज्ञान और वैराग्य न जगे तो फिर दूसरेकी प्रभावना क्या होगी? वैराग्य होनेका समय नियत नहीं किया जाता, प्रथम बात तो यह है, क्या ऐसा निर्णय दे सकते हो कि हम फलाँनी तारीखको १ बजे विरक्त होंगे उस समय उत्सव मनाना। जहाँ तक दीक्षा ग्रहणका सम्बन्ध है उसका नियत काल नहीं होता। प्रभावनाके लिए बीसों वर्ष पड़े हैं। बादमें उत्सव मनावे। पर समाजके बन्धु नियत कर दें कि फलाँ दिन ये ७ वें गुणस्थानमें आयेंगे तो क्या उस दिन यह हो ही जायगा? ऐसा तो नहीं हो सकता है। यह तो दीक्षाके लिए पूरा नाटक सा होजायगा। यों तो प्रभावनाके लिए और कोई नाटक रचा जाय तो इससे अच्छा हो। दीक्षा दी जाने वालेके चित्तमें यदि वैसा परिणाम नहीं है तो वह नाटकका ही रूप है। और जैसे नाटकमें नाटककी पार्ट खेलने वाले दुःखी नहीं होते, कोई दुःखका पार्ट खेल रहा हो तो देखने वाले तो दुःखी होजाते हैं पर उस नाटक खेलने वालेकी बुद्धिमें दुःखका नाम नहीं है। इसी प्रकार जिसके केश उखाड़े जा रहे हैं उसके प्रभावना नहीं होती है पर देखने वाले लोगोंके प्रभावना होजाती है। पर वास्तवमें जिसे दीक्षा दी जा रही है जिसके केश लोंच किये जा रहे हैं उसके उपयोगमें तो प्रभावना होनी ही चाहिए।

अचानक दीक्षा समारोह भक्तोंकी एक विशेषता :—भैया, यह चल रहा है दीक्षाका प्रकरण। कुन्द-कुन्दाचार्यके बचनोंमें और अमृतचन्द्रसूरिके बचनों में कहीं उत्सव मनानेको नहीं लिखा। जो २४ तीर्थंकर हुए हैं उनकी दीक्षामें उत्सव मनानेकी बात हुई सो अचानक ही दीक्षाके मालूम होनेपर महापुरुषोंने समारोहका प्रबन्ध कर लिया, कहीं पर भी उत्सव मनानेके लिए कुन्द-कुन्दाचार्यने लिखा हो तो बतलावो। नृत्य गान होता रहा, लोग बैठे रहे और ऋषभदेवके अचानक वैराग्य हुआ वहाँ जुड़े हुए लोगोंको किसीको भी पता न था कि हमें दीक्षा महोत्सव मनाना है। वे विरक्त हो गए, लो उत्सवका

रूप वन गया पर किसी तीर्थंकर या अन्य महापुरुषके सम्वंधमें यह कहीं नहीं आया कि उनके दीक्षा लेनेको पहिलेसे दिन नियत किया हो और आमन्त्रण पत्र भेजे हों या दीक्षास्थान सजाया हो ?

दीक्षाकी नैसर्गिकता :—भैया, आज कलकी प्रथामें वैराग्यकी वात सुन रहे होंगे इसलिए थोड़ी शंका होती होगी, पर विवेक वैराग्य और ज्ञानका सम्वंध उत्सवसे नहीं होता। और कुछ दिन पहिलेसे नियत कर देनेसे कुछ नहीं होता। किसीको पता नहीं होता है। अचानक ज्ञान और वैराग्य उठा हुआ हो तो वह साधुकी दीक्षा ले सकता है। दीक्षा लेनेवाला तीर्थंकर महा पुरुष नगरीमें हैं और जंगलमें उसे जाना है तीन चार मील दूर तो हाथीकी पालकीकी कई प्रकारकी सवारियोंका प्रवन्ध भक्तजनोंने किया। वह तो ठीक है, जांता है जंगलमें; परन्तु दिन नियत करके और उस दिन हाथीका या और कोई प्रवंध करके यहींसे हाथीका वाहन शुरू किया व गाँवमें घुमाकर उसी स्थानपर लाकर दीक्षा दी जायगी। तो ऐसी वनावट वनानेसे कहीं यथार्थ वात हितकी नहीं होजाती।

दीक्षार्थीकी रुचि :—दीक्षा लेने वाला पुरुष जिसके वैराग्य होगया है क्या वह वनावट, सजावट, दिखावटमें रुचि करेगा ? दीक्षा लेने वाले पुरुष की ईमानदारी व सच्चाईके अतिरिक्त कुछ भी रुचि नहीं होती है। किसी मायाजालमें रुचि नहीं होती है। वह अपने हितकारी दीक्षा गुरुके प्रति वड़ा नम्र हो प्रगतिका कदम वढ़ाता है। जैसे कोई किसीसे उपकृत होनेके वाद उसके प्रति कृतज्ञताकी भावनासे भर जाता है इसी प्रकार दीक्षा लेनेके वाद वह गुरुके उपकारके प्रति प्रसन्नतापूर्वक कृतज्ञताके भावोंमें भर जाता है। मन, वचन, कायकी प्रवृत्तिसे नमस्कार करता है। दुनिया तो यह देखती है कि ये नमस्कार कररहे हैं, ये नमस्कार किए जा रहे हैं। किन्तु यहाँ अन्तरमें कुछ विलक्षण ही कार्य हो रहा है। ये मुमुक्षु गुरुदेवके प्रति अनुग्रह के भावोंसे भरे जा रहे हैं। यह धर्मानुरागका परिणाम जिससे शिष्य और गुरु एक होजायें अद्‌भुत है।

अभिन्नभावी भावोंके कुछ दृष्टान्त :—जैसे जो ज्यादा मित्र होता है उससे यह नहीं कहते हैं कि चलो भैया या आप चलिए। यह कहा जाता है—चलो अपन चलें। आप चलें इसकी अपेक्षा इसमें प्रेम झलक आता है, अपन चलें। आप चलें इसमें तो उसने भेद रखा कि यह मैं हूं, यह आप हैं। मैं चलता हूं आप चलिए। इसमें गहरी मित्रता नहीं झलकती, एक रसका व्यवहार नहीं है। अपन चलें, इस अपन शब्दमें ही एक दूसरे से घुलमिल गए हैं। इस ही

प्रकार नमस्कारके प्रसंगमें भी यह शिष्य गुरुमें घुल-मिल गया है। गुणोंका स्मरण करके मेरे हितके आवेदनको इन्होंने स्वीकार किया है, इस कृतज्ञता से भर जानेके कारण स्व- पर विभाग जिसका नष्ट होगया ऐसा यह शिष्य एक रसमें भीतरी नम्रताके परिणामसे भावस्तवनमय बन जाता है। जैसे किसी अभिन्नभावी आज्ञाकारी दासको देखा होगा कि जब उसको हुक्म दिया जाता है या कोई चीज सौंपी जाती है तो चीज लेकर किस प्रकार से झुक-कर स्वीकारताकी बात झलका कर उस हुक्मको मानता है। यह शिष्य भी इस प्रकारसे दीक्षाको स्वीकार करके गुरुके प्रति भावस्तवन और भाववंदना मय बन जाता है।

परम हितका आरम्भः—भैया परम हित है सर्वमाया जालोंसे छूट जाना। यह प्राणी विकल्प जालोंमें फंसकर जो इसका नहीं है, पर चीज है उसे अपना मान रहा था और व्यर्थ भटक रहा था। लौकिक सभ्यतासे तो यह बात लोग मानते हैं कि अपनेको अपना समझकर उसको बड़ी अच्छी व्यवस्थासे रखना। खूब पढ़ाना लिखाना, प्रीति बढ़ाना इससे क्या होगा। क्या कोई दूसरेका वास्तवमें कार्य करता है? परमार्थसे निजको निजपरको पर जान, अन्तरमें परके प्रति रुचि न रखो तो आत्म सभ्यता है, आत्मदया है ऐसे दया से भरे हुए श्रावक जब दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं तो गुरुका इतना आभार मानते हैं कि जिस आभारकी दुनियामें कोई हद नहीं क्योंकि वे समझते हैं कि मेरे परम हितका मार्ग इसके द्वारा मिला है।

संकटमुक्तिके समयकी सराहनीयता :—जैसे भंवरमें नैया फंसी है, घूमरही है, गोते खा रही है, कोई अवसर ऐसा मिल जाय कि भंवरके बीच ही कोई मुंह ऐसा भँवरका बन जाय कि नाव निकल जाय उस रास्तेको कितना सरा हता है, वह नावपर बैठा हुआ त्रस्त पुरुष। धन्य है वह क्षण जिसमें संकटों से हट गये अथवा किसी किसी पुरुषके द्वारा मार्ग मिल गया, धन्य है वह पुरुष। इसने मेरा जीवन बना दिया, बचा दिया। तो जो संसारके सर्व संकटों से सदाके लिए बचा दे ऐसे मार्गमें लगायें उसके प्रति कितना आभार माना जाना चाहिये। जैसे साधुके लिए अपना आचार्य पिता है, प्रभु है, हितंकर है, सर्वस्व है इसी प्रकार गृहस्थोंमें भी जो अपने हितका साधक हैं ऐसे विद्व-ज्जन साधुजन अथवा गोष्ठीके श्रावक जन उनके लिए सर्वस्व हैं।

धर्मरुचिकी महिमा :—भैया अपना सर्वस्व धन वैभव कुटुम्ब परिवार इनको न समझो। अपने कल्पित परिवारमें जितना श्रम और व्यय करो। उससे कुछ अंश अधिक श्रम व व्यय धर्म और धर्मात्माओंके प्रति होना चाहिए।

आधा नहीं, आधे से अधिक झुकाव धर्मके प्रति होना चाहिए। अन्यथा जिसकी रुचि अधिक होगी उसकी विजय होगी। और जिसकी रुचि अधिक न होगी अर्थात् कम होगी तो उसमें विजय न होगी।

परमशरण समताका ग्रहण :—यह श्रावक भाव स्तवन और भाव वंदन का पवित्र परिणाम बनता है तदनन्तर समता परिणामका अधिरोहण करता है। समता आसनपर चढ़ता है समता वाहनपर सवार होता है, अर्थात् समता के परिणाममें अपनी वर्तना करता है। सब जीवोंको समता ही शरण है। कभी पुण्यके उदयमें कुछ शक्ति मिली और उस शक्तिके प्रयोगसे शक्तिहीनोंपर अपना बल रुतबा कुछ छा देवे तो यह हठ और ऐसा लौकिक आग्रह इन जीवोंको शरण नहीं होगा, किन्तु पुण्यका विनाश करनेके कारण होगा। बड़े होकर क्षमा कर रहनेकी वृत्ति यदि बनाओ तो पुण्यमें वृद्धि होती है बड़े होकर बल पाकर यह पुण्यकी सीमामें सब कुछ कर सकता है। मैं यों कर दूंगा आदि लौकिक आग्रहोंसे परिणाम जाय तो उन परिणामों के कारण गाँठमें रहता हुआ पुण्य भी कम होजाता है।

बलका श्रृङ्गार क्षमा :—भैया शक्तिकी महिमा क्षमाके साथ है। पुराने इतिहासोंमें दिगविजयोंमें उन महाराजाओंकी प्रशंसा गाई जाती है जो शक्ति शाली होकर भी छोटे राजाओं को क्षमा करते हुए उनको अपनी बराबरीके साथ मिला हुआ प्रमाणित कर देता है। हम अपने घरमें समाजमें अपने मित्र जनोंमें जिनका सम्पर्क है उनको क्षमा करनेकी प्रकृति बनायें इससे खुदको भी शांति होगी और दूसरोंको भी शांति होगी। ये मुनिराज जिन्दगी भर क्या करेंगे ? घर छोड़कर दीक्षा लेकर यथाजात रूप रखकर क्या करेंगे ? जीवन भर समता परिणामसे रहेंगे। यह उनका प्रोग्राम है। और समता परिणाममें रह सकें ऐसा होनेमें जो कुछ करना होगा वह अवश्य करेंगे। और उन्हीं आवश्यकों का नाम है मूलगुण, उत्तम गुण, मूल गुण साधुका एक है क्या ? समता। अनेक नहीं है। पर उस समताके साधनेके लिए नाना जो बातें पाली जाती हैं साधुके उन व्रतोंको भीमूल गुण कहते हैं। यह श्रमण समता परिणामोंमें रहता है।

समताकी उपासनासे अभ्युदय :—समता वालों की उपासना रखने से गृहस्थके भी समताका यथा सम्भव अभ्युदय होता है। इसलिए मुनिधर्म का वर्णन ग्रन्थोंमें सबसे पहिले किया जाता है। यह वर्णन साधुके लिएभी उपयोगी है। और गृहस्थ के लिए भी उपयोगी है। जिस गृहस्थको साधु धर्म की चाह नहीं है उसे उपासक नहीं माना गया है। गृहस्थीका विकल्प छूटे

और आत्म उपाधिमें रहे यह भावना गृहस्थमें हो चाहे जीवनभर न हो सके। किन्तु भावना तो होती ही है उच्चपरिणामोंकी धारणा रखते हुए उचित परिणामों पर ठहर सकते हैं। कोई कहे कि गृहस्थको जितनी वृत्ति करनी होती है। उतनींही वृत्तिके परिणाम रखने चाहिये। सो भैया छोटे परिणाममें वे इतनी वृत्ति भी नहीं पाल सकते। ऊंची भावना हो तो मध्यम वृत्तिको पाल सकते हैं। उसकारण इतनी रुचि हम आप सबमें होनी चाहिए कि वह मेरा समय आये कि जबमैं समस्त पर द्रव्यों के विकल्पों को तोड़कर केवल ज्ञानानन्दस्वरूप अपने आत्मा के ज्ञानरस का अनुभव करूं, ऐसी भावना के साथ ग्रहस्थधर्म पाले तो वह ग्रहस्थ श्रावक है।

सकल सन्यास—तन, मन, धन, बचन सब कुछ समर्पण करके केवल आत्म शान्ति के यत्नमें रहने वाला ज्ञानी गृहस्थ सन्त सर्वका परित्याग करके एक महाव्रत को ग्रहण करता है। महाव्रत केवल एक है। वह है सर्व प्रकारके सावद्ययोगोंका त्याग करना। सो ऐसे सर्व निवृत्ति रूप एक महाव्रतके स्वरूपके श्रवणसे श्रुत ज्ञानके द्वारा अपने आपके आत्मामें होने वाले आत्माको जानता हुआ यह समता परिणामको धारण करता है। सर्व का परित्याग किए बिना शांति हो नहीं सकती। सर्व का परित्याग होता है ज्ञान से। जिसक्षण गृहस्थभी देश व्रत ग्रहण करके यदा कदा सर्व परिग्रहों के विकल्पों को भूल जाताहैं उतने काल ग्रहस्थ की आत्मा को भी शांति प्राप्त होती है।

पर्यायबुद्धि ही महाविष :—मैं मनुष्य हूं, मैं खंडेलवाल हूं, मैं अग्रवाल हूं, मैं अमुक पोजीसन वाला हूं, मैं इतने धन वाला हूं, इन बातों का जो संस्कार हैं वह एक विष है। जिस संस्कार के कारण हम समता के प्रभुता के दर्शन नहीं कर सकते हैं। उसका कारण अपनेको भिन्न-भिन्न मानना ही है। कही यह नहीं है कि यह सब कुछ हो ही न। मनुष्यपना भी है, गतिभी है, धन भी है, पर अपने आपको रात दिनके २४ घंटों में से कुछ समय तो केवल आत्मा का नाता देखकर हितमें लगाना। प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है। अन्यथा इसी-इसी सम्हाल में, विकल्पों में रहकर मरण निकट आगया तो विकल्पों में मरण करनेका फल अन्य-अन्य शरीरों में जन्म लेना रहता है सो वही होगा। इस जीवने नर जीवन प्राप्त करके क्या नफा पाया? सो जितना समय जितना श्रम आजीविका में लगाते हो करीब-करीब उतना ही समय या उससे आधा समय आत्म ज्ञानमें लगाना चाहिए। शरीर से वैभव से, परिवार से क्या नाता लगाना, ये सब तो बिनाशीक हैं। इनसे नाता

लगानेसे आत्मा का कोई लाभ नहीं है।

जीव का सर्वत्र एकाकित्व :—"भैया, आप सर्वत्र एकाकी है। आपके दुःखों को कोई बांट नहीं लेता। आपके सिरमें दर्द हो गया तो उसका दुःख आप अकेलेही भोगेंगे। घरके लोग कुछ दवाका इन्तजाम कर देंगे, आपके सिरको गोद में रखकर प्रेमके वचन बोल देंगे, हाय बड़ा दर्द है, यह कैसे मिटेगा ? पर दर्द को बांट न सकेंगे। वह अपने उदय की चीज है। घरमें रहते हैं कभी कोई अपने कषायों के अनुकूल बात न हो तो उससे चित्तमें शल्य बना ली जाती है। वह प्राणी सुख दुःख सब अकेले ही भोगता है। अज्ञानी सोचता है कि हम बाल बच्चोंकी सेवा करते हैं, पालते है, पोषते है पर उन बाल बच्चों के अधिक पुण्य का उदय है। जब उनके ज्यादा पुण्य का उदय है तभी तो आप उनकी सेवा करने वाले बने हैं। तो इसमें बतलावो कि आपका पुण्य बड़ा है कि उन बच्चों का पुण्य बड़ा है जिनकी सेवा करते हो, जब आप संसार में हैं तब भी अकेले ही अपने को करते भोगते हो। जब मोक्षमार्ग में है तब भी अकेले ही अपने को करते-भोगते हो। जब मोक्षमें होओगे तब भी अकेले ही अपने को करोगे भोगोगे। जिनकी आप चिन्ता करते हो ? यह तो सब लौकिक व्यवस्था है। दुर्व्यसनोंसे बचनेके लिये गृहस्थ धर्म है, मोह करने के लिये नहीं। मोह रूप अपने अन्तरङ्गमें संस्कार नहीं बनाना चाहिए. इसीका ही नाम सम्यग्दर्शन है।

दीक्षाका शुभ प्रसंग :—घर में रहते हुए क्या आप अलिप्त रहेंगे ? यदि अलिप्त रह सकते हो तो आपके सम्यक्त्व है। ऐसे ही विरक्त संत गृहस्थोंमें से जिनके वैराग्य वृद्धिगत होता है वह विरक्त गृहस्थ सन्त गुरुराजसे एक महाव्रत समताको धारण करता है और इसके पश्चात् समस्त पाप कर्मों का आयतन साधनभूत जो यह काय है, शरीर है उसकी ममता का त्याग करके यथाजात रूप अपने स्वरूपमें एकाग्रता का आलम्बन करके जैसा निश्चय एक ज्ञान मात्र आत्माका स्वरूप है ऐसे स्वरूप का आलम्बन करके ठहरा हुआ यह वर्तता है। यह है दीक्षाका शुभ प्रसंग। जहां कहने सुनने की कोई बात नहीं है, तिथि के निर्णयकी कोई बात नहीं है। किसी को पता नहीं वह अकेला ही अपनी धुनमें फिरता हुआ गुरु को ढूंढ़ लेता है। गुरुदेव जब अपने को उचित जंच गए तब उनसे निवेदन करता है, दीक्षा ले रहा है उस प्रसंग में परिणाम समताका आरहा है। जैसा आत्माका स्वरूप है तिस प्रकार का उपयोग बना रहता है। ऐसे यथाजात अंतः स्वरूप का उपयोग सर्व पदार्थोंमें समान दृष्टि वाला हो जाता है।

दृष्टिका प्रताप :—"भैया इस मुमुक्षु संतने दृष्टि ही तो खोली और हुआ क्या ? यह काय भी मैं नहीं हूं। यह मैं शरीरसे भी न्यारा एक चेतन-स्वरूप हूं। ऐसी दृष्टिही तो वन गई। अब इस दृष्टि के प्रसादसे उसे सर्व पदार्थ भिन्न और एक-एक नजर आने लगे। किससे राग करें ? किससे द्वेष करें ? ये सर्व भिन्न हैं। हमारे कषाय के अनुकूल कोई नजर नहीं आता तो हम उससे अप्रेम करने लगते हैं पर दूसरों की ओरसे कोई गलती हम आपमें नहीं होती। हम आपमें गलती हम आपकीही हुआ करती है। किसी दूसरे पुरुष की गल्ती से कोई दूसरा पुरुष दुःखी नहीं हुआ करता है। सर्वत्र समान दृष्टि है इस साधु संत की। श्रमण समता का पुंज होता है।

समताका एक उदाहरण :—श्रेणिक महाराज और रानी चेलनामें मत भेद होगया धर्मकी चर्चाके प्रसंगमें। श्रेणिक बौद्ध धर्मकी ओर झुका था। और चेलना जैन धर्मकी ओर झुकी थी। एक बार श्रेणिक घूमने जाते हुए जंगलमें एक साधुको देखकर उनके ऊपर मरा सांप डाल देता है। वह साधु एक पद्म आसन से ध्यान कर रहा था। श्रेणिकने महलमें आकर तीन दिन तक कुछन कहा, बादमें चर्चामें कहदिया कि हमने तुम्हारे साधूपर मरा सांप डाल दिया। चेलना कहती है कि तुमने ठीक नहीं किया। और ठीक क्या नहीं किया ? आज तीन दिन हो गये वह तो उस साँपको निकाल कर कभी का वहाँसे चल दिया होगा, चिंता क्या करती हो। रानी कहती है नहीं नहीं यदि वे आत्म हितैषी सच्चे साधु हैं तो उन्होंने उस सांपको न उठाया होगा। तो बोले अच्छा चलें उनके उपसर्ग को दूर करें। दोनों गए, जंगलमें देखा कि उसी जगहपर उसी पद्म आसनसे वह साधु वैठा हुआ है। देखकर राजा श्रेणिक आश्चर्यमें आ गए सोचा कि आत्महित की धुनिमें उन्हें अन्य प्रकार के विकल्प करना सुहाता ही नहीं है। सम्यक्त्वकी दृष्टि अब आने लगी। कुछ मनमें पछतावा होने लगा कि अरे मैंने इतने ज्ञानी योगीको सताया। सांपको श्रेणिक उठाने लगा। चेलनाने कहा अरे इस तरह से न उठाओ, सांप सड़ गया है, उसमें चींटियाँ आगई हैं, ऐसे उठाने से चीटियां मर जायेगीं। नीचे चेलना शकर डाल देती है, सारी चींटियाँ नीचे उतर आतीं हैं फिर सर्पको निकाल कर अलगकर दिया जाता है। उपसर्ग दूर हुआ और कुछ देर बाद साधुकी आंखें खुली। दोनों को साधुने देखा। साधु कहता है उनसे उभयोधर्मरिस्तु। तुम दोनों को धर्मबुद्धि हो। अब तो श्रेणिक का पछतावा और बढ़गया। सोचा मैं उपसर्ग करने वाला दुष्ट पापी हूं। मैंने एक संत पुरुषको कष्ट पहुँचाया है। चेलनाने उनके उपसर्गको दूर किया

है। साधु महाराजकी दोनों परसमताकी दृष्टि है, उनको जरा भी क्रोध न आया मुझपर और न चेलनापर स्नेह आया।

समताका प्रभाव व श्रेणिकका श्रद्धान—श्रेणिक महाराज सोचते हैं अरे मैं कितना पापी हूं मुझे तो तलवार से अपना गला काटदेना चाहिए। मेरा जीना वेकार है। इतने विचारते हुए में ही श्रेणिकसे साधु कहता है कि ऐ श्रेणिक तुम व्यर्थमें आत्महत्याकी क्यों सोच रहे हो? यह नर भव बड़ा कठिन है, चेतकर धर्ममें लगजाओ। इतनी वात सुनकर अब श्रेणिकका धर्मध्यान और भी दृढ होगया। ये प्रभु मनकी भी वात जानलेते हैं, इतना निर्मलज्ञान है। उस समय गुरुभक्तिके फलसे श्रेणिककी नर्कआयुकी स्थिति वहुत कम होगई। उपसर्ग करने के पापसे ३३ सागरकी आयु वाँधली थी। अब केवल ८४ हजार वर्षकी स्थिति होगयी। एक सागरमें अनगिनती वर्ष हुआ करते हैं। श्रमण गुरुजनोंकी भक्तिका महात्म्य भी अद्भुत है। इतनी समताके पुन्ज साधुजन हुआ करते हैं। जिनकी सौम्यमुद्राको निरखकर भक्तोंका उद्धार होता है। उन्हें शारीरिक दुःखोंकी तो खवर ही नहीं है। वे अपने आत्महितके उद्यमी होते हैं। गृहस्थ ऐसे आत्महितैषी साधु संतके प्रति इतना भक्त होता है कि सव कुछ त्याग करना पड़े तो भी उसको इतना साहस है कि वह सर्वस्व त्याग सकता है। सब दृष्टिका ही तो फेर है। दृष्टि निर्मल हो कि अपना सब काम वनगया।

भैया, समता तो सवमें होनी चाहिए। गृहस्थीमें रहकर भी वह गृहस्थ महान् माना जाता है जो सव पर यथासंभव समता दृष्टि रखता है। अरे अपना बच्चा हो तो क्या, छोटे भैयाका बच्चा हो तो क्या, सव धर्मके रंगमें रंगे हुए हैं। सभी मुझसे भिन्न हैं। सभीका एकसा स्वरूप है। उच्च गृहस्थ उदार गृहस्थकी सवमें समताकी बुद्धि होती है। और पहिले समयमें तो, वहुत नहीं तो, लगभग ५० वर्ष ही पहिले कोई अपने लड़के को खिलाता न था। अपने भाईके लड़के को गोदमें लेकर खिलाते थे, अपने लड़के को नहीं खिलाते थे। घरमें वड़ोंके सामने अपनी स्त्रीसे वात भी न करते थे। इतना लिहाज था और वह लिहाज क्या है? वह लिहाज है धर्मकी प्रीतिका रूप। धर्म है निर्मोहताका नाम। अंतरंगमें चाहे निर्मोहता न हो फिर भी वाहरसे तो निर्मोहता दीख पड़े। यदि अंतरंगमें तेज मोह है तव तो शादी होते ही वड़ी सड़कों पर वाम्वे जैसी सड़कों पर एकसाथ निकल जाते हैं। संकोच भी नहीं होता है तो वह क्या है? वह मोहका अधिक होना है। अव पहिले जैसी उदारता निर्मोहता नहीं रहगई है।

कुलदेवता—यह संत सर्वत्र समान दृष्टिवाला होगया। यही साक्षात श्रामण्य है। एक राज घराना बड़ा निर्मोह था। घरमें यदि बड़ा योग्य होता है तो घरके छोटे भी सब योग्य होते हैं। यह प्रायः होता है। इसीलिए घरका बड़ा कुलदेवता की तरह पूज्य होता है। क्योंकि सबका ढाचा, सबका भाग्य, सबकी निर्मलता बड़ेके आधार पर निर्भर रहती है। राजा निर्मोह था बड़ा प्रसिद्ध था। लोकमें यह बड़ी प्रसिद्धि थी कि राजा बड़ा निर्मोह है। एकवार राजपुत्र वनमें गया। साधुके आश्रममें पहुँचा। साधुने कहा बेटा तुम्हें यहां चार पहर बैठना होगा। कहा हाँ बैठेंगे। चार पहरको कुटीमें बैठाल दिया। अब साधु राजघरानेमें पहुँचता है तो सबसे पहिले रानीकी दासी मिली। उससे साधु कहता है कि तेरे मालिकके पुत्रको सिंहने डस लिया है। वह दासी कहती है कि यह तो जगतकी रीति है, जो जन्मता है सो मरता है तुम अपना तप छोड़कर यह समय बर्वाद करने क्यों आये ? सोचता है कि राजघराने की दासी, उसका भी इतना परिणाम खैर यह नौकरानी है इसके मोह न होगा। अब साधु उसकी मां के पास पहुँचता है। मातासे जब कहा तो उसने भी वही जवाब दिया। उसकी स्त्रीके पास पहुँचता है, स्त्रीने भी वही जवाब दिया। राजाके पास पहुँचता हैं राजा अपना सिर ठोंकता है। साधुने समझा कि राजाको मोह आगया। साधुने कहा राजन् दुःखी क्यों होते हो ? राजा कहता हैं मुझे पुत्रके गुजर जानेका दुःख नहीं है। हमें दुःख तुम्हारी मूढ़ता पर है। अरे तुम साधु संत थे। तुम्हें इससे क्या प्रयोजन था। राजाने कहा कि यह तो संसारकी रीति है, तुमने क्यों समय बर्वाद किया, अपने धर्मसाधनामें कमी की ? वह साधु प्रसन्न होता है। कहता हैं कि वास्तविक निर्मोहता यह है।

ज्ञानी गृहस्थकी उदारता :—अब भी ऐसे गृहस्थ ज्ञानी होते हैं कि उनके कोई इकलौता ही बेटा हो और जवानीमें ही गुजर जाय तो वह ज्ञानी गृहस्थ यथार्थता समझकर कि वह मुझसे भिन्न था। वह मेरा कुछ नहीं था। गया तो गया और वह तो नहीं गया। वह तो अमर है। जीवतो अमर है। शोक करने से क्या लाभ है। कोई कुछ दे देगा क्या ? वह ज्ञानी गृहस्थ धर्म रखता है कोई शोक नहीं करता है। शोक करनेसे फायदा नहीं है। किसी भी समय शोक चिंता से लाभ नहीं मिलता। दुःख करनेसे असाता कर्मों का आश्रव होता है। शोक करनेसे रोनेसे, रुलानेसे असाता वेदनीय कर्मका बंध होता है। लाभ नहीं मिलता है नुकशान नहीं होता है। भैया, कुछ दिन पहिले ऐसा था कि कोई घरमें गुजर जाय तो स्त्री ६ महीने तक धर से बाहर न

निकलती थी और मंदिर तक न जाती थी। इससे पाप कर्मोंका बंध होता है।

ज्ञानबल विपदामें शरण :—विपदामें ज्ञान बलका उपयोग करना उचित है। आखिर, यह हिम्मत करे कि ये सब भिन्न हैं, पर हैं, इनसे मेरा हित न होगा। मैं आत्मास्वयं ज्ञानानन्दका निधन हूं। मेरा ज्ञान मेरेसे ही प्रकट होता है। मेरा आनन्द मेरेसे ही प्रकट होता है। मुझे आनन्द कोई दूसरा नहीं देता है। यदि मेरेमें विकल्प न उत्पन्न हों तो आनन्द अलौकिक अभी यहीं उत्पन्न हो जाय। आनन्द कहीं बाहर ढूंढना नहीं है। समताका व्यवहार करो। जो भोगोपभोग मिल गया, ठीक है, काफी है, जो मिल गया वैभव उदयके अनुकूल ठीक है, काफी है। उदयसे अधिक लाभ जीव को नहीं हुआ करता है। यदि उदय नहीं है तो कहो जो धन है उसे भी डाकू लूट ले जायें, नष्ट हो जाय कितने ही प्रकार से धन नष्ट जाता है।

विवेक गृहस्थकी एक घटना :—एक बार दिल्लीमें जब १८५७ का गदर हुआ था, लूटमार मच गया। लोग घरोंमें घुस घुसकर धन लूटने लगे। एक जैन था उसने सोचा कि लूटने वाले आयेंगे। उन्हें भी श्रम करना होगा, उन्हें भी क्लेश होगा, उन्हें वहां सब ताले तोड़ना पड़ेगा। हमें भी विकल्प करना होगा इसलिए सब तिजोरियोंसे धन निकाल कर आंगनमें रख दिया। सोचा कि लूटने वाले आयेंगे तो आसानी से ले जायेंगे। उसने आंगनमें रख दिया। अब लुटेरे भीतर घुसकर देखते हैं कि ओह इतना धन, सब इकट्ठा पड़ा हुआ है। घरका मालिक पासमें ही खड़ा था। उसने कहा भाई मैंने सोचा था कि आप लोगोंको धन ढूंढनेमें कष्ट होगा इसलिए मैंने दो दिनमें निकाल कर सब रख दिया है। आपको कोई कष्ट न उठाना पड़े। आसानी से धन ले जा सकों इसलिए सब इकट्ठा करके रख दिया है। यह बात सुनकर उन डाकुओंका चित्त तुरंत बदल गया और चार पहरेदार पहरा देनेके लिए छोड़ दिये। सरदारने कह दिया कि फलानेका हुकुम है कि इस घरमें कोई धन लूटने न जाय।

सो भैया जितना जिसके उदय में है। उतना कोई नहीं हड़प सकता और जो उदयमें नहीं है। उसकी आशा करते-करते जीवन बिता दें पर मिल कुछ नहीं सकता। अरे धन मिले अथवा न मिले इन विषयों में तो आप ऐसा साहसी बनें कि धन मिल गया तो उससे क्या लाभ, न मिला तो उससे क्या हानि, गुजारा तो सब तरह से चलता है। यह नर-जीवन वैभव संचय के लिए नहीं मिला, यह जीवन धर्मधारण के लिए मिला है। इतनी हिम्मत जिस गृहस्थी में होती हैं उस गृहस्थको लक्ष्मी अटूट आया करती

है। जैसे छाया को पकड़ो तो वह दूर भागती है और न पकड़ो, मुख मोड़ कर चलो तो वह पीछे-पीछे भागती है। इसी तरह यह धन वैभव है। जो इसकी आशा रखेगा उसके पास न आयगा और जो इसको आशा न रखे चित्त को स्वतन्त्र निश्चिन्त बनालें तो देखो फिर यथानुकूल लक्ष्मी पीछे चलती है।

लक्ष्मी कितनी ही आवो उस पर द्रव्योंसे आत्माका लाभ कुछ नहीं है। यह वैभव तो इस जीवन के गुजारे के लिए है। इस लोक में किसी न किसी को बड़ा कह दिया तो उससे पूरा न पड़ेगा। यदि हम अपने श्रद्धान ज्ञान आचरण से अपने आपको महान बना पते हैं। तो उससे अपना पूरा पड़ेगा। कहने वाले लोग भी दुनिया में न रहेंगे और यह चाहन वाले व्यक्ति भी इस दुनियामें न रहेंगे। क्यों किसी चीज की चाह इस दुनिया में की जाय ? क्यों पापिष्ट बनकर कुयोनियो में भ्रमण किया जाय।

सात्विकता :—भैयाइस समय इतनी बात तो मन में रखलो कि जो कुछ मिला है वह हमारी जरूरतसे अधिक हैं। यह बात बार-बार यों कह रहा हूं कि ऐसा करने से मिलेगा तो कुछ नहीं और यह सोचने से कि जो मिला है वह जरूरत से ज्यादा मिला है। इससे शांति का मार्ग ज्ञानका मार्ग और पुण्य वृद्धि का मार्ग स्पष्ट रहेगा। कुछ लोग यह कहेंगे कि ये पहले तो धनी थे अब हीन हो गये। तो ऐसा कहने वालों को कहने दो। देख लो केवल अपने को ग्रहणकर, 'अपने स्वरूप को चित्त में ले जावो।

निजस्वरूपमात्र आत्माराम की भक्ति का प्रसाद :—यह आत्माराम अपने स्वरूप में अपना एकत्व लिए हुए ध्रुव विराजमान है। यही मेरा परमपिता हैं, परमात्मा है, रक्षक हैं, मित्र है, गुरु हैं, इस अपने आपमें प्रभूके स्वरूपका स्पर्श करोगे तो आपका जीवन सफल है। और-और बातों से तो लाभ कुछ न मिलेगा। अपने आपमें विराजमान अपने आतमत्तत्व के दर्शन होंगे तो मोक्ष का मार्ग प्राप्त होगा। महापुरुप प्रभू रामचन्द्रजी, ऋषभदेवजी, अन्य-अन्य चक्रवर्ती, 'इन्द्रदेव, राजा महाराजा क्यों इस ब्रह्म प्रभू के पीछे लगे फिरते हैं ? इससे उनकी विशुद्धि बढ़ती है। उनकी भक्ति बढ़ती है। ये सब वीतराग प्रभू के चरणों में नत मस्तक हुआ करते हैं जैसे-जैसे आत्मा एकाकी होता जाता है वैसे-वैसे आत्मा का महत्त्व बढ़ता जाता है। वीतराग से महान् कोई नहीं है। वीतराग की भक्तिसे तो लक्ष्मी आयेगी, रागी जीवोंकी सेवा मे लक्ष्मी न आयेगी।

आकिञ्चन्य भाव की महिमा :—भैया जो अकिंचन है, जिसके पास कुछ

नहीं है ऐसे वीतराग सर्वज्ञ देव की उपासना से लक्ष्मी बढ़ती है। किन्तु जिसके पास सब कुछ है, स्त्री है, पुत्र है उसकी तथा स्त्री पुत्रादि होते हुए भी जो अपने को भगवान कहते हैं उनकी उपासनासे पुण्य बन्ध नहीं होता है। देखा होगा पहाड़ जिस पर एक बूंद नजर नहीं आती है वहां से बड़ी बड़ी नदियाँ निकलती हैं पर समुद्र जहां पर लबालब पानी भरा है वहां से कोई नदी नहीं निकलती। इस अकिंचन वीतराग एकाकी केवल अपने ज्ञान रूप मात्र प्रभू की उपासना से धर्म और पुण्य दोनों की वृद्धि है क्योंकि वहां हमारे समता जगती है, ज्ञान जगता है। समता ही लोक में सर्वोत्कृष्ट वैभव है। इसलिए सर्व प्रकार का यत्न करके ऐसा ज्ञान उत्पन्न करो, ऐसे वस्तु स्वतंत्र्य का मान करो कि जिससे समता परिणाम जगे। समता जगने को साक्षात श्रामण्य कहते हैं। अब यह श्रामण्य जिसने परिपूर्ण सामायिक समता परिणाम का अपने में निवास किया हैं। ऐसा साधू कब तक ऐसी समता में रह पाये कभी यदि व्यवहार में आगया तो फिर क्या-क्या करता है इस बात का उपदेश अब करते हैं।

वद समिदिंदियरोधो लोचावस्सकमचेलमण्हाणं।
खिदिसयण मदंतयणं ठिदिभोयणमेयभन्त्तं च॥
एद खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिंपण्णत्ता।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि॥

साधू पुरुष के लिए व्रत केवल एक ही है समता। रागद्वेष दूर करके ज्ञान मात्र स्थिति में होना यही एक साधु का व्रत है। किन्तु इस एक समता परिणाम में यदि अन्तर्मुहूर्त को भी एकाग्र हो जाय तो परमात्मा बन जाय इतनी योग्यता जब नहीं है, कभी-कभी समता आती है तो जब समता परिणाम न रहे उस समय साधू जन क्या-क्या किया करते हैं। उनको ही कहा गया है। २८ मूल गुण। उन २८ मूल गुणों का इन दो गाथाओं में वर्णन है।

सामाजिक और छेदोपस्थापना :—साधुओं का मूल तो एक ही गुण है। वह है समस्त सावद्य योगों का त्यागरूप महाव्रत। इस एक मूल गुण के संस्कार व सम्बन्ध को रखते हुए जो व्यवहारिक व्यक्तियाँ है वे भी मूल गुण कहलाती हैं। साधू के मूल गुण कितने हैं? निश्चय से एक। वह क्या? समता परिणाम अथवा सामायिक चरित्र। पर उस समता परिणाम में जो बाधक न हो; किन्तु समता परिणाम के पात्र बनाए रखें ऐसे जितने व्यवहार हैं वे भी मूल गुण कहलाते हैं। ।२८। पांच तो महाव्रत अहिंसा

महाव्रत, सत्य महाव्रत, अचौर्य महाव्रत, ब्रह्मचर्य महाव्रत और परिग्रह त्याग महाव्रत ५ समिति, ५ इन्द्रियानीरोध, ६ आवश्यक व ७ शेष गुण। इन सबका पालन छेदोस्थापना चरित्र कहलाता है ।

अहिंसा महाव्रत :—साधू जन ६ प्रकार के कार्यो की हिंसा का मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से त्याग रखते हैं । ६ काय हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु व वनस्पति ये ५ काय एकेन्द्रिय के और एक त्रस-कामका। दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पांच इन्द्रिय, ये चार प्रकार के जीव त्रस कहलाते हैं। इस प्रकार ६ कार्यों की हिंसाका सर्व प्रकार से त्यागी साधू पुरुष होता है। गृहस्थ कितनी हिंसाओं का त्यागी होता है। इन ६ कायों में से त्रस कार्यों की हिंसा का त्यागी ग्रहस्थ होता है। गृहस्थ के स्थावर काय की हिंसा का त्याग नहीं हो सकता है। क्योंकि आवश्यकतानुसार मिट्टी खोदकर लायेगा, जल का उपयोग करेगा, आग जलायेगा, हवा करेगा, साग भाजी वनस्पति उन्हें भी लायेगा, वनायगा पर बिना प्रयोजन स्थावर की हिंसा न करेगा । जैसे रास्ते में चले जा रहे हैं पास में पलास के पेड़ हैं और भीं छोटे-छोटे पेड़ खड़े है। तो किसी पेड़ का पत्ता तोड़ लिया, किसी पेड़ की टहनी तोड़ ली ऐसा कुछ न करेगा गृहस्थ श्रावक किन्तु साधु सर्वाकयों की सर्वथा हिंसाका त्यागी होता है।

हिंसा के अन्य प्रकार :—दूसरे प्रकार से विचारिये गृहस्थ किन-किन प्रकार की हिंसाओं का त्यागी होता है। तो हिंसायें चार प्रकार की कही गई हैं। संकाल्पीं हिंसा, उद्यमी हिंसा, आरम्भी हिंसा और विरोधी हिंसा।

संकल्पी हिंसा :—उनमें से संकल्पी हिंसा का त्यागी गृहस्थ हो पाता है। इरादा करके जीव को मारना ये सब संकल्पीं हिंसायें हैं। जीवका वध संकल्पी हिंसा देवी देवताओं का बलि चढ़ाया संकल्पी हिंसा है । चले जा रहे हैं जीव बचाने का ख्याल न रखते प्रमाद करना वह सब संकल्पी हिंसा है। संकल्पीं हिंसा का ग्रहस्त पूर्ण त्यागी होता है। वह कभी भी देवताओं का बलि न करेगा । किसी नारियल में भी, किसी आटे के आकार में भी जीव की कल्पना करके देवताओ को बलि नहीं करता। और न किसी प्रकार जीवका वध करेगा। जीव का वध करनेमें सहायता पहुँचे ऐसा लेन देन नहीं करेगा जो हिंसा करके बनाई गई ऐसी चमड़े की चीजों को उपयोग में न लेगा। जैसे चमड़े के जूते-चमड़े के वाक्स, चमड़े के वेल्ट आदि का प्रयोग न करेगा। बिना देखे भाले सिर उठाये न चलेगा। अगर इसके विपरीत चलता है तो वह भी संकल्पी हिंसा है। ग्रहस्थ संकल्पी हिंसा का त्यागी

होता है।

आरम्भी हिंसा :—दूसरी हिंसा है आरम्भी। रसोई बनाने में, पानी भरनेमें, ऊखरीमें धान कूटनेमें, चक्की चलानेमें, बुहारी देनेमें बड़ी सावधानी रखना चाहिए देख भाल कर काम करना चाहिए फिर भी यदि कोई हिंसा होजाती है तो वह आरम्भी हिंसा हैं। आरम्भी हिंसा का त्यागी गृहस्थ नहीं होपाता। रसोई बनाना ही पड़ेगा, और और भी आरम्भके काम करने ही पड़ते हैं। यही तो आरम्भी हिंसा है। इसका त्याग नहीं होपाता।

उद्यमी हिंसा :—उद्यमी हिंसा सावधानी सहित गृहस्थ उद्यम करता रहे और फिर उसमें चीजें धरने उठाने आदिमें हिंसा होजाय तो वह उद्यमी हिंसा है। उद्यमी हिंसाका गृहस्थ त्याग नहीं कर पाता। गृहस्थका जीवन उद्यम किये बिना चल नहीं सकता अतः उद्यम करना ही पड़ता है। इस उद्यमको अर्थपुरुषार्थ कहते हैं।

विरोधी हिंसा :—चौथी हिंसा है विरोधी हिंसा कोई सिंहसर्प आदि या दुश्मन मनुष्य अपना जान लेनेको उतारू हो, खड़ा हो, जान ले रहा हो उस समय अपने प्राणोंकी रक्षाके लिए जो उससे मुकावला किया जाता है तो मुकावला तो डटकर किया जायगा ना,- उसमें दूसरों का प्राण यदि चला जाय तो वह विरोधी हिंसा है। इस विरोधी हिंसाका भी गृहस्थ त्यागी नहीं हो पाता है। साधु जन तो इन चारों प्रकारकी हिंसाओंके त्यागी होते हैं। गृहस्थ इन चार प्रकारकी हिंसाओंमें से केवल संकल्पी हिंसाका पूर्ण त्यागी होता है।

संकल्पी हिंसाके त्यागका एक उदाहरण :—एक टीकमगढ़ की कथा है। राजासे एकने कह दिया कि ये जैनी लोग किसी जीवकी हत्या नहीं करते। चाहे कितना ही लोभ दिया जाय। या कितना ही भय दिया जाय मगर ये जीवका वध नही किया करते। एक दिन राजा बग्घीमें जा रहा था सामनेसे एक जैन आ रहा था जिसका नाम भी प्रसिद्ध था। पासमें कुछ बकरियां जा रहीं थीं। तो राजाने उससे कहा कि इन बकरियोंमें से एक बकरी पकड़ लाओं। वह ले आया। कहा यह तलवार है इससे इस बकरीकी गर्दन उतार दो। कहा महाराज यह नहीं हो सकता है। कहा उतार दो तुमको हजार रुपया इनाम देंगे। उसने कहा कि चाहे इनाम दो, चाहे भय दिखाओ पर यह नहीं हो सकता है। पहिले जमानें के राजाओंका मुकावला करना बड़ा मुश्किल होता था। आज कल तो बड़ी सहूलियत है। पहिले तो राजाके सिपाही तक से बात करना मुश्किल था। लेकिन राजाने जीव वध करानेका

प्रसंग किया वहाँ भी उसने भय नहीं किया।

अहिंसा महाव्रत :—ये साधु महाराज मन वचन कायसे कृत कारित अनुमोदना से जीव वधके त्यागी होते हैं। यह है उनका अहिंसा महाव्रत। अहिंसा महाव्रत पालते हुए साधुके समता की योग्यता रहती है। क्या हिंसा के कामके करते हुए में समताकी योग्यता रहती है। नहीं। अहिंसा ही सर्व जीवोंका परम कल्याण है अहिंसा भाव परम व्रत स्वरूप है। मंद कषायों की प्रवृत्तिमें यह अवसर है कि इस मंद कषायके व्यवहार को भी छोड़कर अपनी शुद्ध समाधिमें आ सकते हैं।

सत्य महाव्रत :—दूसरा महाव्रत है सत्य महाव्रत। सत्य वोलना। सत्य वचनोंकी मुख्य व्याख्या है कि जिसमें किसी जीवका अहित न हो, हित हो ऐसे वचनोंको सत्य वचन कहते हैं। जैसा है तैसा कहना इस प्रकारके वर्णन की सत्य बचनमें मुख्यता नहीं है। किन्तु जिन वचनोंसे, दूसरोंका हित हो ऐसे वचन बोलना सो सत्य वचन है। जैसा मान लो कहीं गाय बेतहासा भागी जा रही है किसी कसाईके हाथसे छूटकर। कसाई पीछे पीछे दौड़ रहा था। कुछ देर दौड़ा फिर थक गया। आप जान गये कि गाय कसाईके चंगुल से छूटकर अपने बचनेके लिए भाग रही है। और कसाई पूछे कि गाय किस ओर गयी है, जैसे जिस ओर गई है वैसी वात आप कह दें तो यह वात असत्यमें सामिल हैं, सत्यमें सामिल नहीं है यद्यपि हितकारी बात ऐसी ही हुआ करती है जैसी है तैसी बोलना मगर कोई १ प्रतिशत वात ऐसी भी हो जाती है कि जैसा है तैसा ही बोलने से अहित होजाता है तो वह असत्य कहलाता है। साधु महाराज असत्य वचनोंका सर्वथा त्याग करते हैं।

सत्यके चार स्थान :—यह सत्य चार जगह आया है। सत्य धर्म, वचन गुप्ति, सत्यमहाव्रत और भाषा समिति। उन चारोंमें सत्य वचनों का सम्वंध है। पर इन सवके अन्दर क्या है। तो सबसे ऊंची चीज है वचन गुप्ति। वचन वोलना ही मत। न बोले सर्व झंझट मिट गए। वचन गुप्तिमें यदि न रहा जाय तो भाषा समितिमें आओ। हित मित प्रिय बचन वोलना, समितिमें थोड़े बचन वोलनेका विधान है और भाषा समिति से वह आगे बढ़े, कुछ और प्रसारमें आना चाहे तो सत्य धर्ममें आवे। आत्माके हितमें प्रयोजन भूत बचनोंका वोलना सत्य धर्म है। उसमें परिमित वचनोंका सवाल नहीं हैं और इससे भी अधिक प्रसारमें आना चाहे तो साधु महाव्रतमें आजावे। यह आत्माकी भी बोले, अनात्माकी भी बोले, दुनिया भरकी बोले मगर सत्य बोले। इस प्रकार दूसरा महाव्रत है साधुका सत्य महाव्रत। ये साधुके मूल

गुण चल रहे है।

अचौर्य महाव्रत —तीसरा महाव्रत है अचौर्य महाव्रत। किसी भी प्रकारकी चोरी न करना सो अचौर्य महाव्रत है। किसीकी चीज उठाली, रख ली उसका तो गृहस्थ भी त्यागी है। मुनि तो चोरीका सर्वप्रकारसे त्यागी होता है। साधारण बातोंकी भी चोरी न करना। यहाँ तककि श्रावक के घर विधि पूर्वक शुद्ध निर्दोष आहार लगता है उसका यह प्रयोजन है कि अचौर्य महाव्रत भी निर्दोष पले क्योंकि श्रावकोंके घर से चार पाँच जगह भोजन मांगकर लावे और अपने स्थान पर खावे तो कितने ही चोरीके दोष आ सकते हैं। यद्यपि लोगोंसे ही मांगकर लाया, चोरी करके नहीं लाया किन्तु कभी उस भोजनमें बाल निकल आया, जीव निकल आया तो उसको अलग करके खा सकता है और श्रावकके घर जीव निकल आया तो देखने वाले दातार तो हैं। वह छिपा नहीं सकता। इसी प्रकार और और भी दोष हो सकते हैं। चौर्य पापके सूक्ष्म रूपसे भी मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से त्यागी साधु पुरुष होते हैं।

ब्रह्मचर्य महाव्रत:—चौथा महाव्रत है ब्रह्मचर्य महाव्रत। सर्व प्रकार की स्त्री का सर्व प्रकार से त्याग हो सो ब्रह्मचर्य महाव्रत है। चाहे मनुष्य की स्त्री हो, चाहे देव की स्त्री हो, चाहे तिर्यंच की स्त्री हो, उनको देखकर विकार न लावे, चाहे चित्र में बनी हुई स्त्री का फोटो हो, चाहे पाषाण में खुदा हुआ स्त्री का फोटो हो उसको भी देखकर विकार न लावो, मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना से सर्व प्रकार के विकारों का त्याग हो तो ब्रह्मचर्य महाव्रत है। जैसे स्त्री के चित्र और फोटो के निमित्त से भी ब्रह्मचर्य महाव्रत में दोष लगता है इसी प्रकार जिन बैठने वाली चटाइयों पर हाथी के फोटो या और-और फोटो बनाए जाते हैं ऐसे फोटो पर बैठना अथवा कागज में बनी हुई फोटो को हाथ से फाड़ना यह सब अहिंसा महाव्रत में भंग पैदा करता है। अहिंसा महाव्रत में कागज में बनी हुई फोटो को न फाड़ना चाहिए। चटाई कपड़ों पर कोई जीवका चित्र बना हो तो उस पर न बैठना चाहिए। कई सूक्ष्मताओं से वह साधू पुरुष सावद्य का त्यागी होता है। आप कहेंगे क्या वे यह नहीं जानते हैं कि यह मात्र चित्र है, उसके अन्दर जीव नहीं है। क्यों नहीं बैठते ? जानते हैं वे मगर थोड़े संकल्प हैं ना लगे हुए कि यह हाथी है। उतना संकल्प होने से उसके प्रसंग होने पर कोई प्रकार का दोष आ जाता है। ब्रह्मचर्य महाव्रत में सर्व प्रकार के विकार भावोंका त्याग होता है।

अपरिग्रह महाव्रत :—पंचम महाव्रत है अपरिग्रह महाव्रत। परिग्रह का त्याग सर्व प्रकार के परिग्रहों का त्याग होना सो परिग्रह त्याग है साधू इतना विरक्त होता है कि उसका वस चले तो इस शरीर का भी त्याग कर दे। शरीर बाहरी चीज नहीं है। उसका त्याग नहीं किया जा सकता शरीर लिपटा है पर शरीर के अतिरिक्त बाह्य भीतर में जो भी पदार्थ हैं सबका त्याग किया जा सकता है। सबका त्याग कर देने के कारण नग्न भेष बनता हैं। नग्न बनने से साधू नहीं कहलाता है किन्तु परिग्रहों से विरक्त होने से शुद्धता का आशय आने पर सर्व बाह्य पदार्थों का त्याग हो जाता है। नग्न भेष इसलिए बनाना पड़ता है कि कपड़े रखने से राग द्वेषों का प्रसंग आता है। कपड़े कहां धरें, उठायें, चिन्ता किया, कपड़ों को धोया, धोने में हिंसा आ हीं जाती है। कपड़ा कट गया, फिर नया होना चाहिए कितनी तरह के विकार आते हैं, रंचभी विकार साधू को स्वीकार नही है। इसलिए साधु के सर्व परिग्रहों का त्याग होता है वह एक डोरा तक भी नहीं लगाता है।

नग्नत्वका महत्त्व :—यों ही जीव जो स्वयं विकार पसन्दी है वे नग्न स्वरूप को देखकर संकोच करते, ग्लानि करते हैं बुरा मानते हैं पर नग्नत्व के अन्तरंग गुणों को ब्रह्मज्ञ पुरुष ही जानते हैं कि जो निर्विकार हो गये हैं वे बालकवत् निर्भय नग्न स्वरूप रख सकते हैं। कैसा अंतरंग निर्विकार है। यह पहिचान जिसके होती है वह तन मन धन वचन सर्वस्व उनके चरणों में न्योछावर कर सकता है।

परिग्रह की उपेक्षा :—अपरिग्रह महाव्रत का वर्णन चल रहा है। सर्व परिग्रह का त्यागी हो गया तो सर्वथा त्यागी बनकर चलना ही पड़ेगा, कुछ और मन में विकल्प न बनें, खाना न पड़े तो पिछी कमण्डल की भी साधु को कोई जरूरत नहीं है। बाहुबलि स्वामी ने दीक्षा ली तबसे वे एक जगह ही खड़े रहे। और वहीं मुक्त हो गये। चाहे एक वर्ष लग गया, मगर न खाया, न पिया, न चले, न बैठे, उनको पिछी कमण्डल की जरूरत थी क्या? क्या पिछी कमण्डल न हो तो साधू नहीं कहलाता है। कहलाता है पर यदि वह चले, फिरे, खाये बोले तो वहां पिछी कमंडल होना आवश्यक है। चलने में बैठने में जीव हिंसा न हो, दया पले उसके लिए पिछी आवश्यक है। मयूरपंखों से बढ़कर कोमल चीज कोई दूसरी हो तो ढूंढ़ के बताओ। कितना परीक्षण था ऋषि सन्तोंका। इसलिए मयूरपिच्छिका की पिछी होती है। दूसरे जंगलों में ये पंख मोर छोड़ देते हैं। जंगल में

ही साधू महाराज रहते थे। उसे पंख बीनने में कोई परेशानी न होती थी। पंख आसानी से मिल जाते थे। और साधू महाराज जब भोजन करते हैं तो श्रावक के घर करने आते हैं। बाकी समय श्रावक के घर से चल कर जंगल में या अन्यत्र निवास रहता है। मल मूत्र करने पर शुद्धि आवश्यक ही है। इसलिए पिछी कमण्डल रखना आवश्यक ही हुआ।

उपकरणके अनुरागका भी अभाव :—साधु बिना ध्यान किए रह नहीं सकता सो उसे पाठ करनेके लिए, चिंतन करनेके लिए कोई पुस्तक चाहिए। सो एक दो पुस्तकें रख लेंगे। साधुके पास ये तीन चीजें तो मिलती हैं सो इन तीनों चीजोंमें भी ममता हो तो वह भी परिग्रह कहलायेगा। पर प्रयोजन वश ये तीन चीजें रखी हैं तो उससे परि ह त्याग महाव्रतमें दोष नहीं आता है। कोई झगड़ा करने लगे कि महाराज कमंडल तो तुम्हारा बहुत बढ़िया है इसे हम ले जायेंगे। उठाने लगे तो साधु मना नहीं कर सकता है। मना करे तो परिग्रहका दोष लगता है। पिछी कमंडल कोई छुड़ाए तो उसमें यह नहीं कहा जा सकता कि यह तो मेरा है तू कहां ले जायगा? यदि यह भाव आये तो पिछी भी परिग्रह बन गई। कमंडल और पुस्तक भी परिग्रह बन गयी। सो परिग्रहका त्याग उत्कृष्ट साधु पुरुषके होता है। सो उस एक सर्व सावद्य योगके त्यागरूप महाव्रतकी साधनाके उद्देश्यमें रहने वाला साधु व्यवहारमें इस प्रकार ५ महाव्रतोंका पालन करता है।

अष्ट प्रवचन मातृका :—इन ५ महाव्रतों का परिकर हैं ५ समिति और तीन गुप्ति। मुख्य व्रत तो एक है केवल वह क्या? समता सर्व सावद्य त्याग। उसके भेद करो तो ५ महाव्रत हैं। उन ५ महाव्रतों का परिकर हैं ८ प्रवचन मातृका। ५ समिति और ३ गुप्ति शेष जितने भी मूल गुण हैं वे सब भी इन महाव्रतोंके साधनके लिए हैं। जिनमें ५ समिति है। जिनका कुछ विवरण किया जा रहा है।

ईर्या समिति :— –ईर्या समिति, चार हाथ आगे जमीन देखकर चलना, सूर्यके प्रकाशमें चलना, अच्छे कामके लिए चलना और अच्छे परिणाम रखते हुए चलना। ये चार बातें जिसमें होती हैंवह हैं ईर्या समिति। कोई गुस्सा होकर तो जावे, कड़कड़ाता हुआ जावे और चार हाथ जमीन आगे देखकर जावे तो उसके ईर्या समिति हुई क्या? नहीं हुई। ऐसी ही तीन बातोंको भी लगा लेना ईर्या समितिमें चार बातें होती हैं।

भाषा समिति :—दूसरी है भाषा समिति, हितकारी बचन बोलना,

स्वपर हितकारी परिमित वचन वोलना ज्यादा न वोलना। यह साधु आत्मा असावधान नहीं है कि अधिक वोले। यह सन्त हित परिमित वचन वोलता और प्रिय वोलता है। यदि कोई ऐसा वोले। जो वचन प्रिय न लगे तो उन वचनों को कोई सुनना ही न चाहेगा। फिर उसका हित होगा ही कैसे? इस कारण वचन हित हों, मित हों और प्रिय हों। उसे कहते हैं भाषा समिति।

एपणासमिति :—तीसरी समिति है एपणा, साधु निर्दोष आहार लेता है। आप लोग विशेप जानते ही हैं। सिर्फ उसमें एक वात का विवरण कर दें। जिसके वारे में कुछ चर्चा भी चलने लगती है। कुछ लोग कहते हैं कि रोज तो गृहस्थ के घर शुद्ध भोजन नहीं वनता और एक दिन शुद्ध भोजन वनाया और साधू को आहार कराया तो वह उद्दिष्ट हो जाता होगा। समाधान यह है कि यदि केवल साधू के लायक पाव भर की रोटी वनाकर रखें। और अपने घर के लोंगों का अलग चौका चले तो वह उद्दिष्ट दोष में आ जायगा मुख्य वात आप यह जान जायें कि केवल साधू के लिए थोड़ा सा निर्दोप भोजन वना दिया तो उद्दिष्ट दोप में आता है। कुछ दो चार प्रश्न उठ रहे होंगे मनमें। उनका समाधान हो जायगा। अभी और वर्णन करेंगे।

अनुद्दिष्टता पर विचार :—भैया गृहस्थ तो रोज भोजन वनाता है, रोज अटपट वनाता है, अनछने जल का प्रयोग करता है, नल के जल का प्रयोग करता है। वे स्याद सन्दोप भोजन वनाया करता है। साधु यहां ठहरे हों अथवा न ठहरे हों आप घर वालों को भूखा तो न रखेंगे। उनको तो भोजन वनेगा ही। पहिले वना था अयत्नाचार से। तो साधू के रहने से कुछ अपने आप अयत्नाचार से वनाए हुए काम में यदि एक दिन यत्नाचार किया। तो उस यत्नाचार से आपने दोप वढ़ाया या घटाया। हां रोज आप भूखे रहते आये हों और केवल आज सव घर के लिए सही शुद्ध भोजन वनाया हो, तो कुछ दोप कह सकते हैं। पहिलेसे वनता आया है वे स्यादका सदोष भोजन और आज वना यत्न से। यद्यपि यह ख्याल रखा कि अतिथि को भी प्रतिग्रह करेंगे लेकिन साथ में यह परिणाम है कि जो रोटी वन रही हैं हम सव भी तो खायेंगे साधू ही खाये तो खाये अन्यथा यह मेरे खानेके योग्य नहीं रहा। ऐसी वात हो तो दोप लगा जैसे भगवान को कुछ चढ़ायें वाद में खाने में न आ सके। आपने जो रोटियां वनायी हैं क्या उनमें कुछ तय किया है कि ये रोटी साधू न खायगा तो फेंक देंगे पर हम नहीं खायेंगे

और भी इस विषय में आगे कहेंगे ।

गृहस्थका अतिथिसंविभाग व्रत :—श्रावक का एक अतिथि सम्विभाग व्रत भी होता है जिसका तात्पर्य यह है कि प्रत्येक दिन अपनी रसोईमें किसी न किसी अतिथि को आहार कराकर खिलाना। तो यह तो गृहस्थका कर्त्तव्य ही है कि अतिथिका भी विभाग करे। अपने घर शुद्ध भोजन करने से तो अतिथिको आहार दोगे तो उद्दिष्ट दोष नहीं है। केवल साधुके लायक उसके ही निमित्तसे अलगसे भोजन बना लिया और यह भी संकल्प कर लिया कि यह भोजन साधु लेंगे तो दे दिया जायगा और न लेंगे तो हम इसे न खायेंगे। अगर ऐसी बुद्धि हो तो यह उद्दिष्ट दोष होता है। उद्दिष्ट दोष रहित, ४६ दोष रहित आहार ग्रहण करना सो एषणा समिति है।

आदाननिक्षेपण समिति :—चौथा है आदाननिक्षेपण समिति। जो कुछ धरें उठायें, तो देखभाल कर पीछीसे सोधकर प्रासुक भूमिपर धरे उठाये। इसमें जीव हिंसा नही होती। आदान निक्षेपण समिति सर्वजीव समभावरूप श्रामण्यका सूचक है। ५ वी प्रतिष्ठापना समिति है। इसका तात्पर्य है कि मल मूत्र वगैरह छोड़े तो उपयुक्त स्थानमें छोड़े, ऐसी जगहमें छोड़े कि जहां कीड़े मकोड़े जीव जन्तु न हों। और मनुष्य व पशुसंघ के बैठने रहनेका स्थान न हो आदि।

इन्द्रियनिरोध :—अब ५ इन्द्रिय निरोध आते है। स्पर्शन इन्द्रिय के विषयमें न लगना सो स्पर्शन इन्द्रिय निरोध हैं। ज्ञानानन्द स्वभावी आत्म तत्वका ध्यान करके स्पर्शन इन्द्रिय विषयके उपयोगसे दूर रहना सो स्पर्शन इन्द्रिय निरोध है। यह आत्मा स्वयं ही आनन्दकी निधि है ऐसे ज्ञान मात्र अपने स्वरूपको देखकर रसना इन्द्रियके स्वादमें मौज न मानना, रसना इन्द्रियके भोगसे जुदा रहना सो रसना इन्द्रिय निरोध है। तीसरे घ्राणेन्द्रिय के विषयमें न लगना, सुहावना हो तो लगना नहीं, असुहावना हो तो खिन्न होना नहीं सो घ्राणेन्द्रियका निरोध है। सुगंध आये तो क्या, दुर्गन्ध आये तो क्या? सर्वत्र साधु ज्ञाता दृष्टा रहता है, अपने निर्मल परिणामों को नहीं बिगाड़ता है। इन इन्द्रियोंके क्षणिक विषयके कारण अपने समता परिणाम को बिगाड़ देना यह बहुत बड़ी आपदा है और अपने प्रभुपर अन्याय है। चक्षुरिइन्द्रिय निरोध, सुहावना रूप हो अथवा असुहावना रूप हो उसमें हर्ष विशाद न करना किन्तु उनका ज्ञाता दृष्टा रहना, अपने सुन्दर चेतना स्वरूप के ज्ञानोपयोग के बलका अवलोकन करना और विषयों में न पड़ना सो चक्षुरिइन्द्रिय निरोध है। कर्णेन्द्रिय निरोध, सुन्दर राग हो अथवा असुन्दर

राग हो उन बचनोंमें हर्ष विवाद न करना किन्तु आत्महित के साधक आत्म-स्वरूप के दर्शक अपने अन्तरजल्पोंमें बने रहना सो कर्णेन्द्रिय निरोध है।

षट् आवश्यक :—६ आवश्यक कार्य भी साधुके मूल गुण हैं। समता रखना, सामायक करना, बंदना करना, प्रभुका, तीर्थकरोंका, पूज्य पुरुषोंका स्तवन करना, अपने लगे हुए दोषोंपर पछतावा करना, अपने से बड़े पुरुषोंको निवेदन करना, प्रार्थना करना, स्वाध्याय करना और अंतरंग बहिरंग उपा-धियोंको त्यागना ये ६ आवश्यक कार्य हैं। भैया मनुष्यका सबसे बड़ा दुश्मन है बेकार बैठना। को वैरी न अनुद्योग! वैरी कौन है। उद्यम न करना सोई वैरी है। अनुभव किया होगा, जब कोई काम करने को नहीं मिलता है, बेकार बैठे हुए हैं तो चित्तमें विकार और बुरे विचार उत्पन्न हुआ करते हैं। कहते भी हैं बेकारी शैतानका घर। इसलिए कल्याणार्थी पुरुष को किसी न किसी उद्योग में लगे रहना चाहिए। गृहस्थ है धर्मके कार्यमे लगें, धन कमाने में लगें। अपने उचित विषय साधनोंमें लगें, पर बेकार बैठना बुरा है। बेकार बैठनेमें दूसरोंके अवगुण ही नजर आते हैं। दूसरोंके प्रति क्रोधादिक विषय कषाय जगें, अपने आपमें अरुचि विषयके भाव जगें तो उनसे बहुत सा अनर्थ होता है। इस कारण किसी भी हितैषी पुरुषमें विकार नहीं उठना चाहिए। ये साधु सन्यासी पुरुष भी, इनका काम मुख्य है आत्म ध्यान करना, पर आत्म ध्यान जब नहीं बन पाता है तो वह बेकार नहीं बैठता है। वह समता बंदना स्तुति, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग स्वाध्याय मे लगा रहता है और नहीं तो पाठ ही किया करता है। पर बिना उद्योगके वह बैठता नहीं है। ६ आवश्यक कार्य साधुवोंके मूलगुण हैं।

नग्नत्व मूलगुण :—इसी प्रकार कोई वस्त्र न रखना यह भी साधुका मूलगुण है। प्रयोजन तो इस आत्माका आत्महित का है। वस्त्र आत्माके हितके साधन नहीं है बल्कि बाधक हैं। वस्त्र रखनेमें विकार भाव गुप्त रह सकता है। वस्त्र रखनेमें उत्कृष्ट दर्जेका वैराग्य और आत्म समाधिका परि-णाम नहीं जगता है। नग्न स्वरूपमें रहकर ध्यान करनेकी बात तो गृहस्थ भी कर सकता है, पर वह अपने कमरेमें गुप्त रह कर सामायिकमें नग्न स्व-रूप रख करके कर सकता है। उन्हें स्पष्ट इजाजत नहीं है। इस प्रकार सामायक करने वाला गृहस्थ भी अनुभव कर सकता है किसी भी प्रकारका परिग्रह जब शरीर पर व आत्मामें नहीं रहता है तो आत्मामें वैराग्यकी अद्-भुत् विद्युत चमक उठती है। साधु इतना विरक्त होता है, अपने आत्माके हितमें ऐसा उत्सुक होता है कि उन्हें बाह्य वस्तुवोंकी कोई सुध नहीं रहती

है। वह वस्त्रोंको धारण क्या करे ? वस्त्र रखे तो उन्हें धोये, सुखाये, पास रखे और फट जायें तो आशा रखना अथवा सीना तो सुई डोरा रखना, ये सारी चीजें आती हैं, इसलिए साधुका नग्न रहना मूल गुण है।

अस्नानत्व मूलगुण :—साधू स्नान न करे यह भी एक मूल गुण है। शरीर से उसे प्रेम नहीं है। स्नान भी शरीर के श्रृंगार में शामिल है। उन्हें तो आत्म समाधिका प्रयोजन है। वह अपने आत्म हितमें सावधान रहता है । इसलिए स्नान करने का साधू के भाव नहीं जगता हैं। और स्नान करे तो अनेक साधन जुटाने होंगे। कभी उन साधनों में कमी हो गई तो खेद होगा और किसी न किसी प्रकार का रंज अवश्य होगा। इसलिए स्नान न करना साधू का मूल गुण है। मोही जीव अज्ञान वस तो इस सम्बन्ध में सोच सकता है अरे कैसा अघोरीपन है। शरीर पर मैल चिपटा हुआ है नहाते तक नहीं है। पर ज्ञानी जन उस साधु पुरुष की आत्मा के वैराग्य की प्रशंसा करते हैं। यह बात लौकिक जनों से नहीं बन सकती है। भला शरीर पर मैल का जमा रहना, गर्मी भी लग रही है तो भी स्नान का भाव न करना यह भी तो एक तपस्या है। वैराग्य में बढ़ने वाला और अहिंसा धर्म को साधने वाला स्नान भी नहीं करेगा।

भूमिशयन मूलगुण :—साधू पुरुष जमीन पर सोते हैं। कभी बीमार हो जाय, या किसी प्रकार का रोग हो जाय तो वह काठ के आसन को ग्रहण करता है अथवा तृण रेत वगैरह में सोता है मगर प्रायः करके जमीन पर लेटने और सोने का उनका प्रोग्राम रहा करता है। क्षितिसयन, यह साधु का मूल गुण है। और कोई अपने बड़प्पन के भाव में आकर जमीन पर लेटना नही पसन्द करता है मगर सोने की बात तो अलग है तो वह एक महंतसाही हुई, साधुता नहीं हुई। सरलता नहीं हुई। हां सुगमता से बिना अपने भावोंका प्रबंध बनाए कदाचित कोई काठका आसन मिल जाय और भक्तोंका अटूट आग्रह हो तो काठका आसन ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है तो कोई जघन्य बात भी नहीं है। पर साधु पुरुष का मूल गुण भूमि पर सोना है।

दन्तमज्जन त्याग मूल गुण :—साधु का मूलगुण मंजन न करना भी है। दांतोंका श्रृङ्गार न करना की साधुका मूल गुण है। मुखकी शोभा दांतोंसे भी होती है। अगर दांत बुरे हैं तो मुख भी बुरा लगता है। साफ चमकीले दांत हों, गृहस्थजन इन बातों पर बड़ा ध्यान देते हैं और कई गृहस्थ तो जो पतली-पतली लम्बी लम्बी आती है। जिसे टूथ पेस्ट बोलते हैं, उसका उप-

योग करत हैं। पुराने समयमें तो इसका रिवाज ही न था। पुरानी पद्धति गृहस्थ छोड़ते जा रहे हैं। दातूनमें गुण हैं। उसके रससे दाँतोंकी पुष्टि होती है और दांतोंके छिद्रोंके भीतर भी मल नहीं रह पाता। ये सब दातूनमें गुण थे। उसको छोड़कर अब वही टूथ पेस्ट रख लिया और सुअरके बालोंका बुरुष रख लिया जिससे दांत साफ करते हैं। यह भी गृहस्थकी जादती है। और दातून भी करते हैं तो कई गृहस्थ असभ्यताके साथ करने लगे हैं। चलते हुए, दौड़ते हुए, बातें करते जा रहे हैं। अस्पष्ट शब्द बोलते जारहे हैं क्यों कि दातून करनेमें मल तो मुखमें भरा है। ढंगसे बातें भी तो नहीं बोल पाते हैं, फिर रहे हैं, घंटों विता देते हैं दातून मुखमें दबाये हैं तो यह असभ्यताकी बात नहीं है क्या ? दातून करनेका ७-८ मिनटका काम है। लोटा लेकर वैठकर तो यह प्रोग्राम पूरा होता है। खैर यह गृहस्थकी बात है। साधुजन न दातून करते, न मंजन करते किन्तु भोजनके वाद अपनी अंगुलियों से घिसकर कुल्ला करके अपने मुख को साफ कर लेते हैं। यह सब वैराग्य की सीमा बताई जा रही है कि साधु पुरुषके इतना अधिक वैराग्य होता है कि उसे शरीर तककी सम्हाल नहीं रुचती है किन्तु अपने जीवनको टिकाए रहनेके लिए जितना आवश्यक है भोजन लेते है। तो अदंतधावन एक मूल गुण है।

स्थिति भोजन मूलगुण :—खड़े होकर भी भोजन करना साधुका मूलगुण है। खड़े होकर भोजन भर पेट नहीं किया जा सकता है, इसका अंदाज करलो इसीलिए साधुका एक वार खड़े होकर भोजन बताया है। जैसे एक बालक जो खेलनेमें लगा हुआ है, कोई सा भी खेल, खेल रहा हो अपने घर के वाहर दस पांच बच्चोके बीच और माँ उसे कई बार बुलाती है, अरे दिन डूब रहा है, खाना खा जा, नही तो फिर न मिलेगा। फिर भी अनसुनी कर देता है। किसी तरह से जबरदस्ती पकड़कर माँ भोजन करा देती है। भोजन करते हुए भी चूंकि खेलकी ही धुनमें है इसलिए खड़ा खड़ा ही थोड़ा सा खाकर दौड़कर फिर खेलने वाले लड़कों के पास पहुँच जाता है। इसी प्रकार आत्माकी धुनमें, ध्यानमें कल्याणमें लगे हुए साधु पुरुषको क्षुधाकी तीव्र वेदना होने पर भी दो चार वार तो ज्ञानने मना किया, अभी तो स्वाध्यायमें लगे हैं, समय नहीं है, लेकिन तीव्र क्षुधाकी वेदना होनेपर जब चर्याके लिए साधु उठता है तब भी उसके पास ज्यादा फुरसत नहीं है। चर्याको अवश्य चल रहा है वह, किन्तु वह तो आत्म ध्यानका काम छोड़कर आया है। सो निर्दोष विधि और निर्दोष आहारका ख्याल तो करता है किन्तु खड़े

ही, खड़े थोड़ा सा भोजन लेकर जल्दी चला जाता है। यह स्थिति भोजन भी साधुका मूल गुण है।

एक भक्त मूलगुण :—इसी प्रकार एक बार भोजन करना साधुका मूल गुण है। शरीरकी स्थिति एक वारके भोजनमे रहती है। यों तो कितने ही बार खाते जावे पर वह सब मलमूत्र वनता रहेगा रस तो वनता है एक वार के भोजनसे ही। जो कुछ रस वनता है एक वारके भोजन से ही वन जायगा। यदि गर्मीका समय है। तो भोजनकी मात्रा कम कर देंगे ताकि प्यास की वेदना न आ पड़े। एक वारके भोजनसे ही शरीरकी स्थिति शुद्ध वनी रहती है। सो साधु एक वार ही भोजन करता है। साधुको एक वार भी भोजन करना यह भी वहुत है। साधु तो एक वार भी भोजन करने नही जाना चाहता है। उसे तो विवेकने प्रेरणा करके पहुँचाया कि तुम्हें जाना चाहिए। यह एकभक्त साधुका मूल गुण है।

निर्विकल्प और सविकल्प संयम :—इस प्रकार यद्यपि साधुका मूलगुण एक है, वह है निर्विकल्प सामायिक संयम अर्थात् कोई संकल्प विकल्प न करके केवल समता परिणाममें रहना सो सामायिक नामका संयम है और इस संयममें रहनेके कारण चूंकि वह नया नया ही इस अखण्ड साधु व्रतमें आया है सो इसके कुछ प्रमाद हो जाता है माने निर्विकल्प समता परिणाम में बहुत देर तक ठहर नहीं पाता है। तव इन २८ प्रकारके मूलगुणोंके सविकल्प व्रतोंके पालनेमें आत्माको लगाता है ताकि विषय कपायोंमें यह न गिर जाय। तो उस समय यह छेदोपस्थापक होता है। जैसे किसीकी इच्छा है कि मैं केवल सोना खरीद लूँ। केवल सोना खरीदनेके भावसे वाजारमें जाता है। यदि कोई सोनेकी डली पासमें है, तो वह उसे सप्रसन्न ले लेता है। यदि निराभूषण सुवर्ण नहीं है इसलिए आभूषण मिलते हैं तो उसे बुरा लगता क्योंकि उसे केवल प्योर सोना खरीदनेका आशय है और कहीं पर सोनेकी डली न मिले तो आभूषणोंको क्या वह खरीदता नहीं है। उनका भी परिग्रह कर लेता है वह भी श्रेष्ट है इसी प्रकार साधुको निर्विकल्प सामायिक होना इष्ट है, वह अभेद संयममें रहना चाहता है। अभेद संयम वड़ी तपस्या है, कोई विकल्प न हो किसी प्रकारका रागद्वेष न आये, कोई इष्ट अनिष्ट बुद्धि न हो, किसी भी प्रकार की इच्छा उत्पन्न न हो परमविश्रामके साथ यह अपने स्वरूपमें उपयुक्त रहे तो यह तो सीधा स्पष्ट उत्कृष्ट वर्तन है, मोक्षमार्गमें साक्षात् साधक है पर निर्विकल्प सामयिक संयममें कोई नही लग पाता है, थक जाता है तो वह इन आवश्यक कार्यों में प्रवृत्त होता है।

संयमका हेतु :—यह मन बाह्यपदार्थोंमें बड़ी दौड़ लगा रहा है। सो बाह्य पदार्थोंमें दौड़ लगाकर तो यह थकता नहीं है और इसे कहा जाय कि तुम कुछ समय बाह्य पदार्थोंका ख्याल छोड़कर बाह्य अर्थोंमें मनको न दौड़ाकर केवल ज्ञानस्वरूप आनन्दमय अपने स्वरूपमें ही, अपने स्वरूपको ही जाननेमें मनको लगावें, तो वह कुछ संकोच करता है, फिर वह कोशिश करता है, बाह्य पदार्थोंको छोड़ता है अपने आपके स्वरूपमें मनको लगाता है, तो थोड़े समय मनको लगाकर एक बड़ी थकान अनुभव करता है और उस थकानके अनुभवसे यह अपने स्वरूपसे चिग जाता है। बाहरकी ओर मन झुक जाता है। उस समय साधु पुरुष क्या करे यही इन २८ मूल गुणों में बताया गया है। २८ मूलगुणोंका पालन करना छेदोपस्थापना है। और निर्विकल्प समता परिणाममें रहना सो सामायिक संयम है।

सामायिक व छेदोपस्थापनाका विवरण :—संयम मार्गणामें जो ८ भेद कहे गये हैं उनमेंसे पहिले जो दो भेद बताये हैं सामायिक और छेदोपस्थापना उनकी यहां चर्चा है। सामायिक तो अभेद समता परिणाम रहनेमें है और अहिंसा व्रत पालना, अन्य व्रत पालना, यत्नसे सोवो, यत्नसे उठो, यत्नसे खावो, यत्नसे स्वाध्याय करो, प्रतिक्रमण करो, पाठ करो। तो भेद पूर्वक धर्म कार्योंमें लगना यह सब छेदोपस्थापना है। अभेद रूपसे संयममें रहना सामायक है। भेद रूपसे संयमको पालना छेदोपस्थापना है। फिर इससे और छोटा छेदोपस्थापना क्या है। कि इन मूल गुणोंमें से कहीं कोई दोष लग जाय, कोई विराधना हो जाय तो उस दोषको आचार्यसे निवेदन करना अपने गुरुसे निवेदन करके उनसे प्रायश्चित्त लेना यह भी छेदोपस्थापना है और छेदोपस्थापनामें किसी किसी दोषकी छेदोपस्थापना यहां तक होना पड़ती कि पूरी दीक्षाका छेद करके पुनः दीक्षा लेवे। तो यह साधु संत केवल एक कार्यके लिए निर्ग्रन्थ सिद्ध होता है। वह कार्य क्या ? रागद्वेष छोड़कर समता परिणाममें बने रहना उनका तो एक काम है।

मुख्य और गौण संयम :—जैसे गृहस्थके अनेक काम हैं आजीविका चलाना, अपने आधीनोंका पालन पोषण करना, समाज देशमें भी यथायोग सहयोग देना इन सब बातोंके किए बिना गुजारा नहीं होता। गृहस्थकी अनेक काम हैं करनेके लिए। पर साधु पुरुषका काम एक ही है। रागद्वेष को छोड़कर समता परिणाममें बने रहना यही सामायिक संयम है। जब इस निर्विकल्प सामायिक संयमसे हटता है, कुछ प्रमादी होता है तो साधु बेकार न बैठेगा। अपने उचित आवश्यक काममें लगेगा।

आवश्यक शब्दका अर्थ :—आवश्यक शब्दका भी अर्थ देखो क्या है? लोग कहते हैं कि हमको अमुक वस्तुकी आवश्यकता है। आवश्यकताका अर्थ क्या है? लोग कह देंगे जरूरत। पर आवश्यकका अर्थ जरूरत नही है। आवश्यकताका शब्द किस प्रकार बना है। मूलमें दो शब्द हैं अ और वश, जिससे बनता है। अवश अवशका अर्थ है ऐसा पुरुष जो किसी पर द्रव्यके वशमें न हो, ऐसे पुरुषका नाम है अवश। जो अपने आत्माके ही स्वाधीन हो, किसी परवस्तुकी उपेक्षा आधीनतामें लवलेश न रखता हो उस पुरुषका नाम है अवश। माने एक ज्ञानी संत जो किसी परकी आशा नहीं रखता है उस अवश पुरुषके कामका नाम है अवश्य। अवशस्य कर्मइति आवश्यं ऐसे ज्ञानी पुरुषकी जो कृति है उस कृतिका नाम है आवश्य। और आवश्य में एक प्रत्यय लगा दिया है क। स्वार्थे कः क लगावो तो ठीक, न लगावो तो ठीक। क प्रत्यय लगानेसे शब्द बन गया आवश्यक। अर्थात् विरक्त संत का काम। यह आवश्यकका अर्थ हुआ। और आवश्यकका जो भाव है उसका नाम आवश्यकता है। अर्थात् आत्महितके लिए करने योग्य सही कामको आवश्यक कहते हैं। झट कहने लगते खाना आवश्यक है या वर्फ खाना आवश्यक है। अर्थात् आत्महितके लिए विरक्त पुरुषका काम है वर्फ खाना। आवश्यक कहते हैं आत्महितके कामको सो वह ज्ञानी साधु संत जब खुदमें नहीं रह पाता है तो वह आवश्यक कार्योंमें लगता है। वेकार न बैठना किन्तु यथाशक्ति धर्म ध्यानके कार्योंमें लगना सो आवश्यक है।

दीक्षादायक व निर्यापक गुरु :—अब यह श्रावक जिसने कि साधुसे दीक्षा ली है उसका दीक्षादायक गुरु जो है वही छेदोपस्थापक भी होता है और जब दीक्षागुरु सामने न हो तो छेदोपस्थापक गुरु और भी हो सकता है। इस प्रकार दो प्रकार के आचार्योंका प्रज्ञापन करते हैं। दीक्षा गुरु और निर्यापक गुरु। दीक्षा गुरु वह कहलाता है जो नियम दे दे व दीक्षा दे दे। दीक्षा गुरु कहीं चला जाय, विछोह हो जाय तो अपने निर्वाहके लिए अन्य किसी गुरुकी शरण लेवें तो वह निर्यापक गुरु कहलाता है। निर्यापकका अर्थ है। निभाने वाला।

लिंगग्गहणं तेसिं गुरुत्ति पव्वज्जदायगो होदि।
छेदेसूवट्ठवगा सेसा णिज्जावया समणा ॥ २१० ॥

जिस समय दीक्षा ग्रहण कर रहा है उस समयमें जो दीक्षा देने वाला गुरु है प्रथम ही प्रथम निर्विकल्प समाधिरूप परम सामायकका प्रतिपादन करने वाला है, गुरु है, वह तो है दीक्षा गुरु और जो भेद संयमोंमें अथवा

कोई भंग होनेपर उसे स्थिति करणमें लगाते हैं वे सब निर्यापक गुरु कहलाते हैं।

एक सत्य कार्य :—करनेका काम केवल एक है अपने आपको शुद्ध जानन वृत्तिमें रह जाना। किन्तु यह काम तब बने जब हमें अपने उस शुद्ध जानन स्वरूपका ज्ञान हो और जानन स्वरूपका श्रद्धान हो, इस कारण कर्त्तव्य तीन हो गए। (१) सम्यग्दर्शन (२) सम्यग्ज्ञान और (३) सम्यक् चारित्र। सम्यक्दर्शन का द्रव्यानुयोग पद्धतिसे यों निरखे कि परिणति सम्यग्दर्शन की स्थिति क्या है ? और सम्यग्दर्शनके पानेका उपाय क्या है ? पहिले सम्यग्दर्शन पानेके उपायपर दृष्टि दें। जिस भव्य जीवको पर पदार्थोंके बारेमें उनके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान रहता है। प्रत्येक पदार्थ अपनी अपनी जुदी जुदी सत्ता लिए हुए हैं। और अपनी योग्यतासे अपनी परिणति से अपने आपमें परिणमन करते चले जाते हैं। यह अपने बारेमें एक तो मैं पदार्थ और दूसरा वह पदार्थ जो मैं नहीं है, जिसे निकट सम्बंध मिला है वे हैं कर्म। तो मैं आत्मा और ये कर्म स्कंध ये दोनों अपनी अपनी सत्तामें रहते है। जीव कर्मोंकी परिणति नहीं करते। कर्म जीवकी परिणति नहीं करते किन्तु ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है कि जिस समय जीव कषाय भावमें लगता है उस समय कार्माणस्कंध स्वयं कर्मरूप परिणाम जाते हैं और जब उन बद्ध कर्मोका विपाक उदय काल आता है उस कालमें यह जीव स्वयं रागादिभाव रूप परिणाम जाता है। कोई किसी की परिणतिको नहीं करता है।

परके मात्र आश्रयभूत होनेका दृष्टान्त :—जैसे कहीं आप जाते हो। छतरी भूल आये किसी मित्रके यहाँ, चलते समय छतरी लानेकी याद न रही चल दिया। रास्तेमें एक आदमी छतरी ताने हुए दिख गया। उस छतरीको देखकर यह ख्याल आया कि मैं छतरी भूल आया तो यह ख्याल आपको क्या छतरीने उत्पन्न किया। छतरीने नहींउपत्न्न किया। छतरी अपनी जगह है। वह बेचारी टंगी हुई, लगी हुई है। इसके आगे वह कुछ करती तो नहीं है मगर छतरी का निमित्त पाकर स्वयं यह स्मरण हो आया।

निमित्त नैमित्तिक भाव व अकर्तृत्वभावका एक दृष्टान्त :—कभी किसी बालकको कोई पीट दे या कोई गाली दे और गाली देकर चला जाय तो वह बालक अनबना दुःखी सा दरवाजेके पास खड़ा होजाता है। रो चुका पहिले बहुत, पर अब भी दरवाजे पर खड़ा है, रो नहीं रहा है, दुःख भी कम हो गया है पर सामनेसे आते हुए अपने पिताको देखकर उसके दुःख उमड़ आता

है और अधिक रोने लगता है और उसके उस रुदनको देखकर बाप भी दया से भीगकर ज्यादा पुचकारनेमें लग जाता है। तो पुत्रने कहीं पिताके भाव पैदा नहीं किया और पिताने पुत्रके भाव पैदा नहीं किया, पिताकी आत्मा अलग हैं, पुत्रकी आत्मा अलग हैं। कोई किसीका कुछ करता नहीं है लेकिन निमित्त नैमित्तिक सम्बंध ऐसा है कि पिताको देखकर यह अपने मनमें अपनी कल्पनाएँ बनाकर, यह हितू है, यह मेरा है, यह मेरा कारण आगया है, रुदन मचाने लगा है, और वह पुत्रकी दशाको देखकर दया से भीग जाता है। यह परस्परमें उनका निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है। कोई किसीका कर्त्ता नहीं है।

निमित्त नैमित्तिकभाव व अकर्तृस्वभावका दूसरा दृष्टान्तः—शास्त्र सभा हो रही है, बोलने वाला एक बोल रहा है, सुनने वाले अनेक सुन रहे हैं। बोलने वालेने सुनने वालोंमें शब्द ज्ञान उत्पन्न नहीं कर दिया और सुनने वाले बोलने वाले से बुलवा नही देते किन्तु ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक संबंध है कि वक्ताकी बातको सुनकर श्रोताजन अपने आपमें अपने ज्ञानका बल प्रकट करते हुए अपनेमें ज्ञान उत्पन्न करते हैं। और श्रोताजनोंकी रुचि उत्सुकता देखकर वक्ता अपने रागके वस होकर उनको समझाने जैसा अपने वचनालांभका यत्न कर लेता है। कोई किसी दूसरेका कर्त्ता नहीं है पर निमित्त नैमित्तिक सम्बंध चला आया है।

निमित्तत्वका समर्थक सप्त तत्त्वोंका स्वरूप :—जीव कर्मका कुछ नहीं करता, कर्म जीवका कुछ नहीं करते। बहुत ध्यान से सुननेकी बात है। ७ तत्त्वोंकी बात कही जायगी। (१) जीव, (२) अजीव, (३) आश्रव, (४) बंध (५) सम्बर, (६) निर्जरा और (७) मोक्ष। जीवका अर्थ है यह मैं आत्मा। अजीवका प्रयोजन है यहाँ कर्म स्कंध से। ये मूल दोही स्वतंत्र चीज हैं। अब मोटे रूपसे तो यह स्वरूप है कि जीवमें अजीवका आना सो आश्रव, जीवमें अजीवका बंधना सो बंध, जीवमें जीवका रुक जाना सो सम्वर, और बहुतसे पड़े हुए अजीव जीव से झड़ने लगे सो निर्जरा और अजीव बिल्कुल अलग होजाय, केवल खालिस रह जाय तो उसका नाम है मोक्ष।

मूल स्वरूप :—अब परमार्थसे विचारो क्या जीवमें कर्म आते हैं? जीव के स्वरूपमें कर्मका स्वरूप आता है क्या? नहीं आता है। जैसे देहमें अणु-अणु में जीव बस रहा है फिर भी देहमें जीव नहीं है, जीवमें देह नहीं है। इसी प्रकार जीवके प्रत्येक प्रदेशमें कर्मस्कंध बसे हुए हैं फिर भी जीवमें कर्म नहीं है, कर्ममें जीव नहीं है। यह वस्तुके शुद्ध अर्थात अपने अस्तित्व मात्र

स्वरूपका ध्यान करके समझना है। पानीमें तेल डाल दिया फिर भी यह बतलावो क्या पानीमें तेल है। क्या तेलमें पानी है ? पानीमें पानी है, तेलमें तेल है। दूध पानी मिला दिया। पर दूधमें क्या पानी है। दूधके स्वरूपमें दूध है, पानीके स्वरूपमें पानी है। अनेक दृष्टान्त ले लो। किसी पदार्थके स्वरूपमें किसी अन्य पदार्थका स्वरूप नहीं जाता है। यह वस्तुकी सत्ताका प्राण है यदि किसी वस्तुमें किसी दूसरी वस्तूका प्रवेश हो तो दोनों वस्तुवोंका अभाव हो जायगा जीव जुदी सत्ता लिए है, कर्म जुदी सत्ता लिए हुए हैं।

अकर्तृत्वका समर्थक सप्त तत्त्वोंका स्वरूप :—भैया एक चीज आपने और पढ़ी होगी। आश्रवके भेद दो होते हैं। भाव आश्रव और द्रव्य आश्रव। ग्रंथों में पढ़ा होगा। भावोंके बंध दो हैं (१) द्रव्य बंध और (२) भाव बंध। सम्वर के दो भेद हैं। (१)भाव सम्बर, (२) द्रव्य सम्वर। निर्जराके दो भेद हैं। (१)भाव निर्जरा (२) द्रव्य निर्जरा। मोक्षके दो भेद हैं। (१) भाव मोक्ष और (२) द्रव्य मोक्ष। यह प्रकरण चल रहा है सम्यग्दर्शनके पानेका, द्रव्यानुयोग पद्धतिका उपाय। विषय कठिन भी है और सरल भी है। भावाश्रव कहते हैं जीवके विभावके द्वारा स्वभावका तिरोभाव हो जाना। अर्थात् स्वभावमें विभावका आना सो भावाश्रव है भावाश्रवसे सम्बंध जीवका है। जीवमें रागादिकोंका उठना सो भावाश्रव है। जीवका रागदिकोंका पकड़ लेना सो भावबंध है। जीवमें रागादिकों को न आने देना सो भाव सम्वर है। जीवमें रागदिकोंका नष्ट करना सो भाव निर्जरा है और जीवमें रागदिक कतई न रहें सो भाव मोक्ष है।

अजीव तत्त्वोंका स्वरूप :—अब वहाँ चले अजीवमें। अजीव तो कर्म स्कंध है। उस कर्म स्कंधमें कर्मत्वका आना द्रव्याश्रव है। उन कार्माणस्कंध में कर्मों का स्थित हो जाना सो कर्म वन्ध है। उस कर्म से कर्मत्व को न आने देना सो द्रव्य सम्बर है। उन कर्मो में जो कर्मत्त्व पड़ा हुआ है उसका क्षीण करना द्रव्य निर्जरा है और कर्मों में कर्मत्त्व न रहे सो द्रव्य मोक्ष है।

प्रत्येक का स्वयंका स्वयं में कार्य :—तो अब समझा होगा कि जीव की और कर्म की अपनी-अपनी जगह में कम्पनी चल रही है। जीव का व्यापार जीव में चल रहा है और कर्मो का व्यापार कर्मों में चल रहा है। पर इन दोनों में परस्पर निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। यह दूसरी चीज कही गई। अब जरा तीसरी स्टेज पर आयें। जीवका जो आश्रव प्रकट होता है, रागादिक प्रकट होते हैं वे जीव में से प्रकट होते हैं। कर्मों से प्रकट नहीं होते हैं। राग जो उठते हैं वे जीव में उठते हैं कि कर्म में उठते हैं। कर्मों

में उठते हैं तो कर्म दु.खी हों, जीव क्यों दुखी हो ? यह राग यह आश्रव जीव से उठा है। जीव आश्रव जीव में से आया, जीव बन्ध जीवों में से आया, जीव सम्वर जीव में से आया। जीव निर्जरा जीव में से आया और जीव मोक्ष जीव में से आया। यह जीव की कम्पनी की वात आ गयी है। अजीव में आश्रव अजीव में से आया कर्मों में से आया, कर्मों का सम्वर कर्मों में से आया, कर्म की निर्जरा, कर्म की परिणति, कर्म का मोक्ष कर्मों से आया। दोनों काम अलग हो रहे हैं।

स्वतन्त्र परिणमन का एक दृष्टान्त :—यह दो अंगुली हैं। इन दोनों अंगुलियों को मिला करके दोनों अंगुलियों की ऐसी स्थिति करली यह निश्चय से देखोगे तो एक अंगुली को दूसरी अंगुली ने कुछ नहीं किया किन्तु परस्पर में एक दूसरे का निमित्त पाकर ये दोनों अंगुलियाँ अपनी-अपनी अंगुलियों में इस प्रकार से टेढ़ी हो गई हैं। खूब निरख लो किसी अंगुली का दूसरी अंगुली ने कुछ नही किया दोनों अंगुलियां अपनी-अपनी जगह में हैं। इस दाईं अंगुली ने अपने में टेढ़ापन किया, वांई अंगुली ने अपने में टेढ़ापन किया। एक अंगुली ने दूसरी अंगुली को टेढ़ा नहीं किया। इस प्रकार की दोनों अंगुलियो की स्थिति होने में एक दूसरे का निमित्त है। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ की परिणति को नहीं करता है। यह वात स्पष्ट समझ में आने पर आत्म स्वभाव को स्पर्श करने की योग्यता जचती है। जब तक यह जीव वाह्य पदार्थों में इस प्रकार से भ्रम कर रहा है। मैंने यों किया, मैंने घर वनवाया, मैंने इनका पालन किया, वाह्य पदार्थों में कर्तृत्व का आशय जब तक रहता है तब तक आत्मा के स्वरूप का, स्वभाव का स्पर्श नहीं कर सकता है।

स्वतन्त्र परिणमन का एक और दृष्टान्त :—महिलाएँ रोटी वनाती हैं ना ? लोई को वेला, तवे पर रखा, आग पर सेंका, सारा काम हो गया। मगर महिला के हाथ ने रोटी को उत्पन्न नहीं किया। वह हाथ-हाथ में ही रहा, वह रोटी के परमाणु में नही चला गया। रोटी अपने आप में पसरी, हाथ ने रोटी नहीं पसारी। आप देखते हैं कि वाह हाथ ही तो रोटी पसार रहे है, यह वेलना रोटी को नहीं पसार रहा है। वेलना वेलना में है, वेलना तो यों यों हिल रहा है। इसके आगे वेलना परद्रव्य में कुछ नहीं कर रहा हैं। पर ऐसे ऊपर चलते हुए वेलना का निमित्त पाकर वह लोई अपने आपमें पसर रही है। खूब निगाह करके देख लो। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ में अपना द्रव्य गुण पर्याय कुछ नहीं देता है। पर निमित्त नैमित्तिक

सम्वंध है।

स्वतन्त्र परिणमनका एक तीसरा दृष्टान्त :—एक मास्टर २० बच्चों को पढ़ाता है। लोग कहते है कि मास्टर वीसों विद्यार्थियोंको ज्ञान दे रहा है। किसका ज्ञान दे रहा है? अपना ज्ञान दे रहा है कि उनका ज्ञान दे रहा है। यदि अपना ज्ञान दे दे तो एक साल २० को ज्ञान दिया। दूसरे साल फिर २०-को ३० दिया, इस प्रकारसे ५-७ सालमें तो मास्टरसाहब कोरे बुद्धू रहजायेंगे। तो क्या बच्चोंको, वच्चोंका ज्ञान मास्टर देता है। बच्चोंके ज्ञानको मास्टर छू नहीं सकता, न पकड़ सकता, न हिला सकता। मास्टर साहब तो अपने राग बससे या वेतनके राग बससे या विद्यार्थियों पर करुणा रूप रागके बससे अपना प्रयत्न कर रहा है। अपनी चेष्टा कर रहा है। विद्यार्थियोंको मास्टर कुछ नही देता है। विद्यार्थी मास्टरकी बानी सुनकर अपने आपमें ज्ञान बलका विकाशकर अपना ज्ञान प्रकट कर रहे हैं। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थका कुछ नहीं करता है। निमित्त नैमित्तिक योग ऐसा है कि इस वातावरणमें पर पदार्थ अपने आपमें अपना काम कर रहे हैं।

दो मूल तत्त्वोंके स्वतन्त्र परिणमन :—अब देख लो जीवका आश्रव जीव में है। अजीवका आश्रव अजीवमें है। जीवका बंध सम्बर निर्जरा सब कुछ परिणमन जीवमें है और कर्मोंका सम्बर बंध निर्जरा इत्यादि परिणमन कर्ममें हैं। तो यह जीवका आश्रव जीवमें प्रकट होता है। ये कार्माण वर्गणाएं कार्माण स्कंधोंमें प्रकट हुए हैं। यद्यपि इन दोनोंका स्वतंत्र स्वतंत्र व्यापार है। इन दोनोंका निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है मगर साक्षात करने रूप, परिणमाने रूप काम एकका दूसरेमें नहीं है। लो यह जीव है यह अजीव है। ज्ञान बलसे एकक्षेत्रावगाहमें रहने वाले इन दोनोंमें विभाग किया जा रहा है। लो यह जीव है, यह कर्म है। जीवमें आश्रवादिक जीवसे प्रकटहोते हैं और अजीवका आश्रव आदि अजीवसे प्रकट होते है।

उपादान दृष्टिमे विकारके शिथिल होनेका अवसर :—इस भेद विज्ञानके वाद चौथी स्टेजपर आये तो अजीवकी चर्चा छोड़ दिया। एककी चर्चा ली जाय, जीवका यह रागादिक लो जीवमेंसे उठा, जीवके ये रागादिक लो जीव में लीन होगये। जीवमें बुझ गये। जीवकी यह विशुद्धता जीवमें प्रकट हुई है। यह जीवमें से जीवकी विशुद्धता है। लो बढ़कर यह विशुद्धि पूर्ण प्रकट हुई है। जीवका स्वरूप केवल जीवमें देखा जा रहा है। इस स्थितिमें निमित्त भूत अजीवका उपयोग न हुआ, केवल एक स्व द्रव्यका उपयोग रहा, मात्र स्व द्रव्यमें उपयोग जाय तो विकारके बढ़ानेका प्रसंग नहीं आता, यों होता हुआ

जीवका यह भेद चिंतन भी छूट जाता है और जिसे एक ध्रुव स्वभावके श्रोत से यह आश्रवादिक चलता है उस श्रोतमूर्त जीव स्वभावमें स्पर्श होता है। ऐसी स्थितिमें केवल चैतन्य स्वभावका उपयोग होता है। और इस ही समय मे शुद्ध ज्ञान मात्र,शुद्ध आनन्द मात्र अपने स्वभावका अनुभव जगता है। इस अनुभवके साथ सम्यक्त्व उत्पन्न होता है। सम्यक्त्व उत्पन्न होनेके बाद यह अनुभव न रहे लेकिन सम्यक्त्व बना रहे, फिर बीचमें जब चाहे ऐसा अनुभव किया जा सकता है। यह है सम्यग्दर्शन।

ज्ञान सुधारस स्वादके बाद इन्द्रियसुखकी नीरसता :—जैसे रसगुल्लेका स्वाद लेने पर बालक गुडके बेसनके लड्डुवों को नहीं चाहता है उससे अधिक मीठा स्वाद जब मिले तो गुड़के लड्डू को क्यों चाहे। इसी प्रकार आत्माके सहज आनन्दका स्वाद लेनेपर ज्ञानी विषयोंके भोगोंके स्वादको अब नहीं चाहताहै।

निजका परिचय विषादविनाशका कारण :—एक बच्चा दूसरे बच्चेके हाथमें खिलौनेको देखकर रोने लगता है माँ उस बच्चेको धमकाती है, क्यों रोता है? वह इशारेसे बताता है यह खिलौना चाहिए। मां उसे मारेगी, पीटेगी। अरे मारने पीटनेसे क्या रोना बंद हो जायगा? धमकाने से क्या रोना बंद हो जायगा? अरे यदि चतुरमाँ हो तो चुपचाप उस बच्चेको खिलौना उठाकर दे देगी तो शीघ्र उस बच्चेका रोना मिट जायगा। धमकानेसे पीटनेसे बच्चेका रोना क्या बंद हो जायगा? मिट जायगा? नहीं, इसी प्रकारसे जगतके अज्ञानी जीव उन दूसरे खिलौने को देखकर रोते है, दौड़ते हैं, दुःखी होते हैं, तृष्णा करते हैं, यह रोना दुःखी होना इस जीवका कैसे मिटेगा? ये दूसरे सब खिलौने हैं। इनकी सत्ता न्यारी है। तुम्हारा इनपर अधिकार नहीं है। तुम्हारे चाहनेसे यह खिलौना तुम्हारा न हो जायगा। इनके पीछे रोना दुःखी होना अपने ऊपर संकट डालना है। तो अपने आपमें बसा हुआ ध्रुव और शुद्ध स्वरूप वाला खिलौना इसके उपयोगमें देवो, हाथ में देवो। इसका दुःखी होना अपने आप बंद हो जायगा। पर कोई दूसरे पदार्थोको ग्रहण करना चाहें तो क्या उससे रोना बंद हो जायगा? क्या दुःख मिट सकेगा? ऐसा त्रिकाल भी नही हो सकता।

परकी आशाका फल क्लेश :—भैया एक गरीब ब्राह्मण था। लड़कीकी शादी होना थी, पैसा चाहिए था। राजाके पास गया बोला महाराज हमारी लड़की की शादी होना है तो कुछ मिल जाय। राजा बोला अच्छा, कल सुबह माँगना; जो माँगोगे मिलेगा। अब वह उछलता कूदता घर आया। सामको खाटपर लेट गया। अब लेटे-लेटे सोच रहा है, मैं राजा से न हो तो

१००) रु० माग लूं । उसकेलिए १००) रु० कीकल्पना बहुतथी । फिर सोचा १००) से क्या होगा, इतना तो पड़ोसीके पास है वह भी तो सुखी नहीं है। सोचा कि मैं हजार रुपये मांगू । इतना सोचनेमें भी भारी समय लग जाता है। यह तो बात है, जल्दी-जल्दी कर रहे हैं। एक एक कल्पना में एक एक घंटेका समय लगता है। सोचा हजारसे क्या होगा लाख माँगो, लेकिन लख पती होनेसे लाभ क्या होगा ? करोड़ माँगू । करोड़पती भी हो गये तो भी तो शासन मेरे हाथमें नहीं रहा । राजा से मैं आधा राज्य माँगूगा । यदि आधा राज्य माँग लूँ तो भी तो मेरा प्रभाव न रहेगा । लोग यही कहेंगे कि यह माँगा हुआ राज्य है । न हो तो पूरा राज्य ले लूँ । सारी रात कल्पना में व्यतीत होगई ।

अव आया सुवह भजनका समय । भजनमें सोचा कि यदि राजासे सारा राज्य मांग लिया तो फिर रात दिन नींद न आयगी ये राजा लोग भी तो सुखी नहीं होते । ये तो बाहरसे ही सुखी नजर आते हैं। तो मैं पूरा राज्य न लूंगा। मैं आधा ही राज्य मांग लूं । आधा ही ठीक है। फिर सोचा आधे राज्यमें भी वह दुःख है। करोड़ रु० ही ठीक है। करोडपती जो हैं उनके भी तो वीसों टेलीफोन लगे होते हैं। स्नान करने गये तो वहाँ भी टेलीफोन लगा है, रसोई घरमें भी टेलीफोन लगा है। तो उनको भी सुख नहीं है। लाख ही मांगना ठीक है। मगर लाख भी हो गये तो भी सुख न मिलेगा । हजार ही मांगना ठीक है। ये भी ठीक। नहीं है १००) ही मांगना ठीक है इस तरह से भजनका समय बीत गया । राजा घूमते हुए उस ब्राह्मण के पाससे निकला । राजा कहता है कि पंडित जी जो मांगना चाहो मांगो । क्या चाहिए ? बोला महाराज माफ करो । हमें कुछ न चाहिए । यह सोचते सोचते सारी रात बीत गई कि मैं क्या मांगू ? सो जब मैंने मांगा नहीं तब तो सारी रात नींद नहीं आई और अगर मांग लूं तो फिर मुझे ठिकाना न लगेगा । तो निश्चय समझो कि जितना धन है उसके चाहे तिगुना चौगुना धन आ जाय उससे वेचैनी ही बढ़ जायगी । तब ये जड़ वैभव हैं। इनका क्या सोचना है। यह तो उदयके अनुसार जितना मिला है उसमें ही गुजारे का हिसाब बना लो । आगे कुछ मत चाहो । और चाहो तो अपने आत्माके धर्मके उन्नति की हितकी बात चाहो । जो आपके यत्न करनेसे मिल जाय उसमें ही संतोष करो । बाह्य वस्तुवों की आशा करनेसे कुछ न मिलेगा। और उनकी आशा त्याग कर अपने से ही आशा की जाय तो अपनेमें ही सर्व वैभव मिलेगा ।

संयमोंका संक्षिप्त विवरण :—संयम ५ प्रकारके कहे गये हैं, (१) सामायिक (२) छेदोपस्थापना, (३) परिहार विशुद्धि (४) सूक्ष्म साम्पराय और (५) यथाख्यात संयम। यथाख्यात पालनेवाला संयम नहीं है। यह तो कषाय न हो तो होता है। सूक्ष्म लोभ जब रह जाता है उस समयको सूक्ष्म साम्पराय संयम कहते हैं। परिहार विशुद्धि भी एक ऋद्धि हैं जिसके कारण ऐसी योग्यता आजाती है कि विहार करते हुए पैरोंके नीचे कोई जीव आ जाय तो उसे भी बाधा न हो। उसे यह भी नहीं प्रतीत होता है किसीके पैर मेरे ऊपर आये। यह भी ऋद्धिकी बात है। अब पालनेके जो संयम हैं वे दो रह गए सामायिक और छेदोपस्थापना। सामायिक संयम ६ वें गुणस्थानसे ९ वें गुणस्थान तक होते हैं। और छेदोपस्थापना भी ६ वें गुणस्थानसे लेकर ९ वें गुणस्थान तक होते हैं। उसमें भी छठा और ७ वां में पालनेकी बात है। *और आठवें व नवमें गुणस्थानमें आत्माके ऐसा उपयोग तो अपने आप* हुआ करता है।

पालनमें व्यवहार्य दो संयम :—यहाँ दो संयमोंका वर्णन चल रहा है। सामायिक संयमकी दीक्षा दीक्षा गुरुने दी। अब छेदोपस्थापना संयमका निर्वाह दीक्षा गुरु भी कराता है और अन्य कोई गुरु भी कराता है। सामायिक तो निर्विकल्प संयम है। दीक्षा गुरुने तो यह उपदेश दिया था कि तुम सर्व विकल्प छोड़ कर निर्विकल्प चैतन्य स्वभाव मात्र अखण्ड आत्मतत्त्वके ज्ञाता दृष्टा रहना। ऐसी यह श्रमण दीक्षा है। मुनि दीक्षा इसलिए नहीं दी जाती है कि तुम यों आहार करना, यों चलना, यों पीछी कमण्डल लेकर घूमना, यों सत्संगमें मिलना, इन सबके लिए दीक्षा नहीं दी जाती है। दीक्षा तो इसलिए दी जाती है कि तुम निर्विकल्प शुद्ध चैतन्य स्वभावकी, शुद्ध आत्मा की दृष्टि लिए रहना। इसके लिए दीक्षा है, पर कोई इस दृष्टिमें नहीं रह सकता है बहुत देर तक, तो उस समय उसे क्या करना चाहिए? इसके लिए छेदोपस्थापना चरित्र बताया है।

छेदोपस्थापनाकी दो पद्धतियां :—छेदोपस्थापनाके दो अर्थ हैं। एक तो निर्विकल्प सामायिक संयममें न रह सके तो आवश्यक अनेक कार्योंका ५महाव्रतोंके, ५ समितियोंके पालनमें, और और तपस्याओंमें उपयोग लगाना यह तो छेदोपस्थापनाका पहिला अर्थ है। मूल गुण २८ हैं और उनका धारण करना मुनिके मूल उद्देश्यमें नहीं है। मुनिके मूल उद्देश्यमें निर्विकल्प अखण्ड एक चैतन्य स्वभावमें दृष्टिका लगा रहना और रागद्वेष रहित होकर निर्विकल्प आत्मानुभव करना, याने सामायिक संयम पालना यह उसके

मुख्य उद्देश्यमें हैं। जब मूल उद्देश्य न रहने पाये, मूल उद्देश्यके बाहर चला जाये तो इसकी रोक थामके लिए ये २८ मूलगुण और आवश्यक कार्योंमें लगनेकी बात आती है। उस मूल एक व्रतकी रक्षामें यह साधक बना है इसलिए इन २८ आवश्यक बातोंको भी मूलगुण कहा है उद्देश्य विहीन पुरुष कोई अपने कार्यमें सफल नहीं होपाता है।

निरुद्देश्य पुरुषके श्रमकी व्यर्थता :—कोई नाव खेने वाला आदमी जिसने अपना उद्देश्य नहीं बनाया कि मुझे अमुक किनारे जाना है और केवल नाव को चलावे। इतनी ही कला खेलना चाहता है तो कुछ देर पूरब को नाव चलाया, कुछ देर पश्चिमको चलाया, फिर मन होगया तो दक्षिणको चलाया फिर मन होगया उत्तरको चलाया, इस तरहसे किसी किनारे वह नहीं पहुँच सकती क्योंकि नाव चलाने वाला उद्देश्य विहीन है। इसी प्रकार श्रमणका, साधु परमेष्ठीका मूल उद्देश्य है, निर्विकल्प सामायिक संयमकी धारणा। रागद्वेप रहित होकर ज्ञाता द्रष्टा रहना यह साधुका मूल उद्देश्य है। जिस साधुने अपने मूल उद्देश्यको नहीं पहिचाना वह २८ मूल गुणोंको द्रव्यतः निर्दोष भी पाले तो भी वह मोक्षमार्गी नहीं हैं। कहां जाना है, क्या करना है। यहां समितियोंका पालन करके महाव्रत वगैरहका पालन करना है। तुमको कहां रहना है। बसना कहां है। यह तो बतलावो! यह मुझे नहीं मालूम। और भैया हमें तो आगम की श्रद्धा है। उसमें लिखा है कि २८ मूल गुण पालना, निर्दोष पालना, सो हम तो निर्दोष पाल रहे हैं। मुझे अंतरंगके दोष गुणका पता नहीं है किन्तु बाह्य ये मूलगुण निर्दोप रहें बराबर यत्न रखते है। ठीक है भैया मगर वे तो मूलके गुण हैं।

मूल गुण व मूलके गुण :—ये जो २८ व्रत हैं ये स्वयं मूल गुण नहीं हैं, ये मूलके गुण है। मूल है निर्विकल्प, अखण्ड ज्ञानस्वभावमें स्थिर होना यह समायिक संयम है। जब सामायक संयममें टिक नहीं पाता है तो उस समय छेदोपस्थापना संयम धारण करता है। सामायक संयम तो है सर्व सावद्य योगका त्याग और छेदोपस्थापना संयम है। ५ महाव्रत। ५ समिति, ३ गुप्ति ६ आवश्यक. इन सब मूल और उत्तर गुणोंका धारण। यह छेदोपस्थापना का प्रथम अर्थ है। द्वितीय अर्थ है कि उस मूल गुण और उत्तर गुणके पालने में कभी कोई दोष न लग जाय या नियमका भंग होजाय तो गुरुसे निवेदन करके उस संयम को फिरसे छोड़ देना इसको कहते हैं छेदोपस्थापना।

संयमके अर्थद्वयका कारण :—छेदोपस्थापनाके दोनों अर्थ चलते हैं। नहीं तो बतलावो कि संयममें कोई दोप होजाय तो उसका आचार्योंसे निवेदन

करना, उसका प्रायश्चित लेना यह किस गुण-स्थान में सम्भव है सोचकर बताओ ? साधु महाराज इतने संयममें चूक जाये; किसी मूल गुणको भ्रष्ट करदें तो फिर उस आचार्यसे निवेदन करें और उनसे प्रायश्चित लें तो यह छेदोपस्थापना छठेमें हो सकता है। मगर छेदोपस्थापना ६ वें गुण स्थान तक है। छेदोपस्थापनाका यह मुख्य अर्थ नहीं है कि संयम में दोष लगे तो निवेदन करके फिर संयमको जुड़ालें। मुख्य अर्थ यह है कि भिन्न-भिन्न करके अनेक ब्रतोंका पालन करना मैं सत्य बोलूं, ईर्यासिमितिसे चलूं, कमंडल, पुस्तक बहुत सावधानीसे धरूं, उठाऊं अनेक प्रकारके ब्रतोंका पालन यह छेदोपस्थापना है।

उच्च गुणस्थानमें छेदोपस्थापना का प्रकार :—इसपर तो आप यह कहेंगे कि ये ८ वें ६ वें गुणस्थानोंमें जो कि श्रेणीके गुणस्थान हैं उनमें तो यह विचार भी नहीं जगा कि मैं इन ब्रतोंको पालूं। उनब्रतोंको करें तो क्या वहाँ छेदोपस्थापनाका क्या मतलब होगा ? वहां छेद क्या हुआ और उपस्थापना क्या हुई। वहां भी साधु एक ज्ञानस्वभावकी आराधनामें लगा है, बीच-बीच में उससे कुछ चिगता है थोड़ा, और कुछ अन्य विकल्प करने लगता है तो उन विकल्पों को त्याग कर फिरसे निर्विकल्प ध्यानमें आना यह प्रक्रिया श्रेणीके गुणस्थानमेंभी होती है। ऐसीछेदोपस्थापना ६ वें गुणस्थान तक चलती है। जहाँ विशेष विकल्प होता है वहां एक प्रमाद कहा जाता है और प्रमाद जिसके हैं उसे प्रमत्तविरत कहते हैं। ७ वां गुणस्थान प्रमाद रहित है।

सामायिक व छेदोपस्थापनाकी मैत्री :—यह अध्यात्मिक ग्रंथ है। चरणानुयोगकी बातको अध्यात्मिक पद्धतिमें ले जाना इसका एक मुख्य विशेष काम है, सामायिक संयमकी दीक्षा गुरुने दिलाई और उपदेशमें यह भी कहा कि तुम सामायिक संयममें न रह सके तो छेदोपस्थापनासे अपना निर्वाह करना। यों छेदोस्थापनासे जो श्रमण संयमका निर्वाह कराता है वह गुरु निर्यापक कहलाता है। दीक्षा कहांसे ली ? दीक्षा जिससे ली वह है दीक्षा गुरु और जिसके साथ रहकर अपनी आत्म साधना करता है वह निर्यापक गुरु कहलाता है सविकल्प छेदोस्थापनाके संयमका जो प्रतिपादन करता है, निर्वाह करता है वह भिन्न-भिन्न ब्रतोंमें लगाने वाला निर्यापक गुरु होता है और जो भी छेदोस्थापना संयमका भंग होजाय और फिर उसमें जुट जाने का विधान बतलाता है, प्रायश्चित्त देता है, फिरसे स्थित करता है वह है छेदोस्थापक या निर्या [illegible] गुरु तो मूल गुरु है। और छेदोस्थापक गुरु दूसरा भी हो स [illegible]

उत्सर्ग और अपवाद :—ये उत्सर्ग और अपवाद दोनों व्रत एक साथ लगे हुए हैं। कोई भी मनुष्य कुछ भी व्रत ले ले तो उस व्रतको निर्दोष निभाले जाय यह उस व्रत तक के परिणाम में रहता हो तो कठिन हैं। दोष लगता है। उन दोषों को कैसे हटाएँ यह विधान भी उनके साथ बना रहना चाहिए। तब वह व्रतों का निर्वाह कर सकता है।

गृहस्थका भी उद्देश्य उत्सर्ग रूप :—गृहस्थ धर्म में भी उत्सर्ग रूप उद्देश्य क्या होना चाहिए ? यह भावना बनी रहना चाहिए कि इस लोक में अकेला ही हूं मेरा कोई साथी नहीं है। घर में रहते हुए, स्त्री पुत्र परिवार के बीच रहते हुए यदि आप ऐसा अनुभव करलें तो आपकी आत्मा बड़ी शुद्ध हैं। बड़ी पवित्र है। अपना उत्तम निर्वाह बनालें, मान लो ऐसी भावना नहीं करते, राग में आकर खूब मौज में रहकर तो जिन्दगी निकल ही जायगी, अन्त में क्लेश ही भोगना पड़ेगा। उपयोग के समय क्लेश भोगा। जहां जीवन भर राग किया, फिर अचानक विकार आगया तो उपयोग के समय बहुत बुरी हालत हो जायगी। कितना मौज लूटा है ५०-६० वर्ष की जिन्दगी में, उस सर्व मौज में पानी फिर कर उससे अनन्त गुण पाप क्लेश आ जायेंगे। अतः ग्रहस्थ का यह विवेक है कि जब तक परिजन का समागम है तब तक ऐसी सावधानी बनाए रहे, ये समागम क्षणिक हैं, बिनाशीक हैं, कभी तो इनमें वियोग होगा नियम से। ये मुझसे भिन्न हैं, कोई मेरे साथी नहीं है। मेरी आत्मा का तो मात्र मैं आत्मा ही साथी हूं।

ज्ञान की ज्ञान द्वारा साधना :—कहोगे शायद कि गृहस्थी में यह चिन्तन बहुत कठिन बात है। अरे क्यों कठिन है। बात तो ज्ञान की ही है ना। और ज्ञान तुम्हारा गुण है। ऐसा ज्ञान बनाना चाहो तो क्या यह ज्ञान मना करेगा कि तुम अभी इस घर में बस रहे हो इसलिए तुम न आना ? न आयगा। आप ज्ञान करना चाहें तो यह ज्ञान आयगा। इस ज्ञान पूर्वक उपयोग में रहते हुए इस गृहस्थ संत को कोई क्लेश नहीं हो सकते। बात तो यह है कि क्लेश तो कोई हैं ही नहीं। पर वस्तुओं से तो क्लेश आया ही नहीं करते। कैसे आयें ? क्लेश आपको आपके भावों से है। आपके गुणों का विकृत परिणमन है। आपके गुणों का परिणमन किसी दूसरे पदार्थ से नहीं आ सकता है। दूसरे पदार्थो में तो उन ही पदार्थों का काम चलेगा। तो क्लेश आते हैं अपनी कल्पना से।

विवाद का कारण विपरीत कल्पना :—जो घर में बड़े झगड़े का रूप बन

जाता है। जैसे सास बहू में या किन्हीं में तो सास या बहू बेकार बैठे-बैठे अपने चित्त में अपना बड़प्पन अनुभव करते हुए, मैं बहुत बड़े घर की बहू हूं अथवा मैं बहुत बड़ी एक जिम्मेदार सास हूं, ये सब मेरे कहने में चलते हैं, चलना चाहिए, चलना पड़ेगा, अपने आप में बहुत बड़प्पन अनुभव करके बैठे-बैठे भारी महत्ता अनुभव कर डालते हैं। तो भाई कितनी ही महत्ता अनुभव करलो, उससे दूसरे में क्या फर्क आ जायगा। यह तो नहीं हो सकता है। यह तो तुम्हारी ही कल्पना की बात है। तुम अपने को बादशाह मान लो। मगर पड़ोस के गरीब पुरुषों पर भी आपका कुछ अधिकार चल जाय सो नहीं हो सकता है। तुम अपने को इन पर पदार्थों का कर्त्ता अधिकारी भोक्ता, मालिक मान लो पर ऐसी बात हो सकती नहीं। पर पदार्थ मेरे मन माफिक परिणम जायें यह नहीं हो सकता है। तब फिर विपरीत धारणा में क्लेश हो जाना प्राकृतिक बात है। क्लेश दूसरों की प्रवृत्ति के कारण नहीं होते किन्तु अपने आप में अपने आपकी खोटी कल्पनाओं के कारण क्लेश होते हैं। क्लेश कहीं बाहरी पदार्थों से नहीं आते हैं। तब क्लेशों से मुक्त होने के लिए बाहर में कुछ करने की जरूरत है या अपने अन्दर में कुछ ज्ञान लेने की जरूरत है। बाहरी बातें आपके बस की नहीं है। आपका उदय ठीक होगा तो सर्व अनुकूल समागम मिलेंगे। न ठीक होगा तो न मिलेंगे।

पुण्य की सहगामिता :—गुरूजी सुनाते थे कि मड़ावरा में उनका एक दोस्त था जिसका नाम रामदीन था। वह लड़का इतना खर्चीला था कि जो कुछ मिले सब खर्च कर डालता था। खाने में खिलाने में बाप बहुत हैरान था। बाप बोला बेटा इतना खर्च न करो, तुम्हारे विवाह के लिए हमने कुछ रुपया जोड़कर रखा है, और तो अपने पास कुछ नहीं है। इतना खर्च न करो। तो वह बोला कि पिता जी विवाह हो या न हो, वर्तमान की मौज तो हम न छोड़ेंगे। हमारी तो खर्च की आदत पड़ गई सो खर्च करेंगे। जितना तुम हमारे ऊपर किसी दिन इकट्ठा खर्च करोगे उससे अच्छा है कि इसी तरह से खर्च करें। अभी खर्च करलें, आगे फिर देखा जायगा। कुछ दिनों बाद में पिता गुजर गया। तो जितना धन था उसको खूब लोगों को खिलाया पिलाया। भण्डारा किया, सब कुछ छोड़कर घर छोड़कर चल दिया। बोला अब यह रामदीन सबको खिलाता पिलाता था गरीब होकर यह न रहेगा। इतनी बात बड़े महाराजजी के गांव में उनके सामने की थी पर कुछ वर्षों बाद गुरूजी बनारस की सड़कों पर जा रहे

थे तो सामने हाथीपर बैठा हुआ एक महंत आया, बहुत जल्दीसे हाथीसे उतर कर वर्णीजी महाराज के गलेमें चिपक गया। बोला हमें जानते हो तुम। वर्णी जी बोले हाँ कुछ कुछ ख्याल है। कहा मैं वही रामदीन हूं जो पिता के मना करने पर भी अपनी उदारता को नहीं छोड़ सका। बोला हम वहां से चले आये कि गरीब होकर गांव में क्यों रहें? यहाँ एक साधू की सेवा में लग गये उन्हीं की महिमा से हमें महंती मिल गई। तो धन को मुट्ठी में बांधकर रखो तो भी उतना ही रहेगा जितना कि उदय में हैं। और कितना भी खर्च कर देवें तो भी धन जायगा कहां? जो पुण्य कर्मो के उदय मे है वह आकर रहेगा।

समयोचित उदारता :—एक जौहरीकी लड़की थी बहुत बड़े घरानेकी, सो बड़े घरानेमें एक घियाके यहां व्याही गई, जिसके यहां घीका बड़ा रोजगार था। कुछ दिन वहाँ बहू रही। एक दिन देखा कि स्वसुर साहब दूकान में क्या काम करते हैं तो घी निकाला जा रहा था। नौकर लोग निकाल रहे थे। मालिकका काम तो बिना उपयोग लगाये बन नहीं पाता है। वहां एक मक्खी घीमें गिरकर मर गई थी। मालिकने थोड़ा सा उसे उठाकर हिलाया तो कुछ घी गिरा और फिर मक्खीको फेंक दी। यह दृश्य जौहरीकी लड़की ने देख लिया। उस जौहरीकी लड़कीके दिलमें बड़ी ठोकर लगी। उसके दिल में इस मक्खी चूसको देखकर बड़ा भारी धक्का पहुँचा। उसके सिरमें बड़ा दर्द होगया। अब सुकुमार लड़की की सिर दर्दकी खबर ससुर साहबके पास गई। अब स्वसुर साहबके भी चैन नहीं। बोले कहाँ दर्द बताया सेठके हजार पाँचसौ रु० खर्चहोगये तो भी उसका दर्द न मिटा। पूछा दर्द कैसे मिटेगा? बहू ने बताया कि रत्नोंको पीस करके मस्तकमें लेप किया जायगा तब दर्द मिटेगा। कहा ठीक है, झट खजांचीको हुकम दिया १० लाख रखे हैं उनसे रत्न ले आवो। हाथों हाथ रत्न आगये। स्वसुर साहब उन रत्नोंको पीसने ही वाले थे, जौहरीकी लड़की बोली स्वसुरजी इन्हें मत पीसो, मेरा दर्द ठीक होगया। स्वसुर साहब बोले कैसे ठीक हो गया अभी तो लेप हुआ ही नहीं। कहा मेरे सिर दर्द और ही तरहका था आपकी मक्खी चूसीको देखकर सिर दर्द होगया था। आप मक्खीसे घी निकाल रहे थे और अब जरासे दर्द पर १० लाखके रत्न पीसनेको जा रहे हैं। तो स्वसुरजी बोले बेटी जानती नही, धन कमाये तो इस प्रकार कमाये और खर्च करे तो इस तरह खर्च करे। यों ही दुकानदार काम होते हैं। अगर कोई मित्र भी आ जाय तो उसपर एक पैसा नहीं छोड़ते और अगर कोई मौका आ जाय तो

सैकड़ों रुपये खर्च कर डालते हैं।

निर्मोहिताकी प्रेरणा :—तो भैया इन सर्व समागमों को जिनको चिंता का मुख्य विषय बना लिया है उनको भाग्यपर ही छोड़ देना श्रेय है किसके सहारेपर छोड़ना है। इस अपने कारण परमात्माकी दृष्टि ही एक शरण है, वही परम वैभव है, वही मेरे साथ सदा रहेगा मैं कभी गरीब हो ही नहीं सकता। मैंने तो आनन्द निधिको प्राप्त किया है। इस ही आत्मतत्वके बल-पर एक दम परसे अपेक्षित हो सकता है कि इन सारे ठाठोंको तो उदयपर छोड़ना है। इनकी मैं चिन्ता न करूंगा। चिंतन हो तो आत्महितका हो। आत्महितके कामोंमें लगे रहें, ज्ञानमें, साधु सेवामें, धर्म प्रभावनामें इन सत्कार्योंमें लगे रहते हुए आपके पुण्यकी वृद्धि होगी और उस पुण्यके अनुकूल सर्व समागम आयेंगे। रोकर चिंतित होकर दुःखी होकर पैसोंके लिए एक दौड़ धूप करना चाहें कि पैसा जुड़ जाय तो नहीं जुड़ सकता है। पैसा तो जुड़ता है उसके जो मना करे कि अब मुझे नहीं चाहिए। हमारे पास पैसा बहुत है, कोई अब जरूरत नहीं है। इतना क्यों आता है ? इसकी तो आव-श्यकता ही नहीं है। ऐसा जो सोचता है उसके लक्ष्मी बरषती है। और जो लक्ष्मी चाहनेके लिए उसकी आराधना करे, नाक रगड़े उसके यहाँ लक्ष्मी नहीं भटकती।

आत्महितकी दृष्टि—तो भैया, मनुष्य जीवन एक उत्कृष्ट जीवन पाया है। इस जीवनका मूल उद्देश्य आत्महित होना चाहिए। धन आता है आने दो, धन जाता है जाने दो, धन कम होता है कम होने दो, पर उस आत्महितके कार्यको न छोड़ूंगा। धनकी अटकी हो तो मेरे पास आये। मैं तो सबसे निराला केवल एक शुद्ध चैतन्यमात्र हूं। मुझे अपने इस स्व-भावकी ही दृष्टि चाहिए। मेरा जगतमें कोई दूसरा साथी नहीं है, कोई मदद नहीं दे देगा। किसीसे मेरा भला नहीं होगा। मेरे सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप प्रवर्तन बना होगा तो मेरे लिए मैं शरण हो जाऊंगा। यदि कुत्सित प्रवृत्ति होगई तो मेरे लिए मैं स्वयं ही दुश्मन बन जाऊंगा। मेरा कोई साथी दुनियामें नहीं है। ऐसा निर्णय करके अपने आपमें अपने एकाकीपनका अनुभव करो, यही गृहस्थका मूल उद्देश्य होना चाहिए। लगे रहें फिर अन्य अन्य कामोंमें, पर दृष्टि यह बनाए रहें कि मैं तो अकेला ही हूं। भरोसा दूसरों पर न करो, दूसरे दुःख बाँट न लेंगे। मेरातो मात्रएक मैं ही हूं। दीक्षा गुरु द्वारा सामायक संयमकी मुख्यता दिलाने पर अब निर्णायक गुरु छेदोस्थापनामें लगकर उसका भला

कर रहा है। इस तरह दीक्षा गुरु और निर्णायक गुरु इन दोनों का इस शिष्यपर अनुग्रह बन रहा है।

छेदोपस्थापनाके अर्थोंका क्रम—छेदोपस्थापना चारित्रका अर्थ दो प्रकारसे बताया गया है। पहिला तो यह कि भिन्न-भिन्न करके मैं अमुक व्रतको पालता हूं, मैं सत्यको पालता हूं, मैं अचौर्यको पालता हूं, मैं समितिको पालता हूं, मैं गुप्तिको पालता हूं। इसप्रकार भिन्न–भिन्न भाव करके व्रतोंको पालनेका यत्न करना सो छेदोस्थापना चारित्र है। यह छेदोस्थापना कहनेके लिए बड़ा उत्तम है लोक व्यवहारमें कि मैं अपने तपको हीतो कर रहा हूं, अपने व्रतको ही कर रहा हूं। यह तो उत्कृष्ट बात है। इसमें कौनसी बुराई है? पर अध्यात्म मार्गमें यह कहते हैं कि ऊंची चीज तो रागद्वेष रहित समता परिणाममें आना वही एक महाव्रत है। पर उसमें नहीं रह सकता है तो वह भिन्न–भिन्न व्रतोंका पालन करता है। इसलिए मूल गुणका पालन करना, उत्तर गुणका पालन करना यही तो छेदोस्थापना है। पहिला अर्थ तो यह है। दूसरा अर्थ है कि पहिले अर्थवाले छेदोस्थापनाके व्रतमें भी अगर दोष लगजाय तो प्रायश्चित ले लेना सो छेदोस्थापना हैं। इन दो प्रकारके अर्थोंवाले छेदोस्थापनाके विधानका उपदेश करते हैं।

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥ २११ ॥
छेदुवजुत्तो समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि।
आसज्जा लोचित्ता उवरिह तेण कायव्व ॥ २१२ ॥

यहां बताया जारहा है कि लिए हुए व्रत तपोंमें कोई दोष हो जाय कोई व्रत भंग होजाय तो फिर किस प्रकार प्रायश्चित्त करके अपने संयममें लग जाते हैं? उसकी बात कहरहे हैं।

छेद और छेदोपस्थापना—छेद माने भंग दोष, उसकी उपस्थापना दो प्रकारकी है, चूंकि वे दोष भी दो प्रकारके हैं सो छेदोपस्थापना भी दो प्रकारकी है—एक तो बहिरंग संयम छेदोस्थापना और एक अंतरंग संयम छेदोस्थापना, वहिरंग संयम छेदोस्थापना। कहते हैं कि कोई संयममें बाहरी दोष लगजायें, क्रियावोंका दोष लगजाय, चलते फिरते उठतेका दोष लगजाय तो यह है वहिरंग छेद; उसकी शुद्धि करना और अंतरंग छेदोपस्थापना है। अंतरंगमें कषाय जग जाय तो वह है अंतरंग छेद, उसकी उपस्थापना का बहिरंग दोषको कम माना गया है और अंतरंग दोषको बहुत बड़ा दोष

माना गया है। जैसे आप शुद्ध नहा धोकर धोती दुपट्टा पहिन कर पूजा कर रहे हों, पूजा करते समय किसी वालकने छूलिया छूलेने पर वाह्य अशुद्धि होगई यह तो हैं वहिरंग दोप। मगर कोध आजाय, क्यों छू लिया? यह है अंतरंग छेद। अंतरंग छेद वड़ा दोप है। निश्चयसे भी लगा कपायका दोप, छूनेका दोप नहीं लगा। इसीतरह और और वातें समझनी चाहिए।

वहिरंग और अन्तरंग :—दोप अगर शरीर कृत कोई दोप हो जाय तो वह वाह्य दोप है। मगर कोई कपाय लग जाय तो अंतरंग दोप है। शरीरकी चेष्टा मात्र में जो दोप बने हैं उसे वहिरंग दोप कहते हैं और उपयोग से जो दोष किया जाता है, मन से विचार कर कपाय करके जो दोप किया जाता है वह अंतरंग छेद है। अव स्वयं सोच लिया जाय। वहिरंग दोप का प्रायश्चित्त वड़ा होना चाहिए कि अंतरंग दोप का प्रायश्चित्त वड़ा होना चाहिए। यदि वहुत विवेक से अपना उपयोग लगाता है। वड़े प्रयत्नों से अपने सव कार्य कर रहा है। काय की चेष्टा वड़े प्रयत्न से कर रहा है। फिर भी कदाचित वहिरंग दोप आ जाय तो चूँकि अतरंग दोप से तो वह मुक्त है ना, उसके भीतर में कपाय का दोप नहीं लगा है। तो केवल उस दोप की आलोचना की क्रिया से है। विकार की शुद्धि हो जाती है। काय चेष्टा मात्र कृत छेद का प्रायश्चित्त एक आलोचना कर लेना है यानी गुरूको अपनी गल्ती वता देना। उसे कहते हैं आलोचना नाम का दण्ड।

उपयोगत्सत छेद का दण्ड :—उपयोगकृत छेद हो जाय तो शिष्य गुरू को आलोचना करे फिर गुरू दण्ड देवे कि तुम दो अनसन करो या गर्मी में पहाड़ पर एक घंटा तपस्या करो या इतनी देर तक सामायिक करो, जो कुछ दण्ड देवे उसको करना उसे कहते हैं प्रतिक्रमण। अन्तरंग छेद में आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों करने होतें हैं। यदि वाहर ही दोप लगा है तो अपना दोप अपने मुख से कह दिया, इतने में ही वह शुद्ध हो जाता है। अगर भीतर में उपयोग कपाय से दोप लगा हो तो निवेदन भी करना पड़ेगा। अपनी गल्ती भी स्वयं वतानी पड़ेगी और उसका जो दण्ड वताया जावेगा काय क्लेश वगैरह का वह भी करना पड़ेगा। यह आलोचना मात्र नाम दण्ड से ही शुद्ध उन जीवों की है जो वड़े प्रयत्नों से काय चेष्टा में लग रहे थे। समिति पूर्वक अपने व्रत का पालन कर रहे थे। उस काय चेष्टा में जिसमें अनसन भोजन, सोना, खड़ा होना आदि क्रियाओंमें कोई दोप लगता तो आलोचना ही उसका दंड हैं।

कायकृत दोप भी त्याज्य :—कितने ही लोग तो काय का दोष करके

भी बताना नहीं चाहते हैं, अपने दोप अपने मुख से बता देवें यह तो शरीरिक दण्ड से भी बड़ा दण्ड है। अपना दोष जिसे किसी ने समझा नहीं है उसको अपने मुखसे कह देना उसके लिए हृदय की बड़ी निर्मलता चाहिए। नहीं तो इस वजह से कह देंगे कि हमारा मोक्ष मार्ग बिगड़ जायगा। परन्तु उपयोग शुद्धि न हो तो उस कहने में भी दोष लगेगा। सूक्ष्म दोषों को तो बता देंगे स्थूल दोषों को छुपा लेंगे। सूक्ष्म दोप यों बता देंगे कि गुरू महाराज समझेंगे कि ये तो बड़े निर्मल चरित्र के धारी हैं। मामूली दोषों को भी कह देते हैं। पर भैया भीतर में बड़ा ऐब छुपा रखा है यह कितना बड़ा दोष है। किसी का दृष्टान्त देकर यह जानना चाहेगा कि क्यों महाराज साहब यदि किसी का ऐसा दोष बन जाय तो उसका क्या प्रायश्चित होता है। पहिले मालूम कर लिया जाय और फिर उस पर यह निर्णय कर लो कि ऐसा दण्ड हम भोग सकते हैं या नहीं। पीछे निवेदन करो। अथवा बहुत आदमी जहां बैठे हों, अपनी-अपनी सभी बातें कह रहे हों, याने शौर गुल हो रहा हो इस बीच में आकर दोषी मुनि जल्दी जल्दी में अपनी बात कह दे उसे कोई न सुन पाये और वह समझ ले कि चलो, हम तो कह चुके। ऐसे कितने ही दोष लग सकते हैं।

निश्छल आलोचना :—आत्म हितैषी साधू के अपने गुरू पर इतना विश्वास है। वह यह जानता है कि मेरी सम्हाल, मेरा भला सर्व कुछ ये गुरुराज करने में समर्थ हैं। मोक्ष मार्ग में चलते हुए में यदि कोई दोष अपने हृदय में बनाए रहूं, उसे प्रकट न करूं तो मेरा कितना बड़ा अहित है। मोक्ष मार्ग रुक जायगा संसार मार्ग में रुलना पड़ेगा। किसकी शान रखना है कि मैं यदि दोष कह दूं तो मेरी इज्जत नष्ट हो जायगी। मैं किसकी शान रखना चाहता हूं? इस पर्याय की? जो मिट जाने वाली चीज है इसकी प्रीति तो उस संसार में रुलाने ही वाली है। संकट ही देने वाली है। न जाना मैंने अपने ज्ञायक स्वभाव प्रभू को। वह सारी दुनिया जाने मुझे कि यह बड़ा तुच्छ है, दोषी है, अपवित्र है इससे कुछ न बिगड़ेगा मैंने ही अपने ज्ञान से अपने आपको तुच्छ जान लिया तो मेरा भला न न होगा। जो दोष करेगा उसे तो कम से कम मालूम ही है। वह तो अपनी निगाहमें तुच्छ है, ना। गुरूके आगे निवेदन करदे तो वह भी हल्का हो जाय।

मुमुक्षु की योग्यता :—आत्म साधना करने वाला पुरुष क्षमाशील होता है, नम्र होता है, सरल होता है और तृष्णाओं से परे होता है। उसका केवल एक उद्देश्य है कि लो इस संसार में अनादिकाल रुलते रुलते

आज तो निज प्रभू के दर्शन हुए हैं जिससे बढ़कर लोक में और कोई दूसरा कार्य नहीं। अब इस प्रभू के दर्शन में ही अधिक समय बीते, केवल एक ही कामना है। अन्य किसी भी शरण जाऊं ? कोई शरण दे ही नहीं सकता कोई मेरा क्या करेगा ? अधिक से अधिक प्रेम के वचन सुना देंगे, अनुराग भरी वाणी बोल देंगे। उसके आगे और मेरा कर क्या सकते हैं। और ये प्रेम युक्त वचन भी सुनायेंगे जब उनका मन चंगा हो। मेरा कुछ किया गया नहीं है। किसी दूसरे से आपका प्रेम नहीं हो जाता। क्या रखा है यह सब हड्डी, मास, चमड़े की मूर्ति है। यदि अपना हित स्वार्थ प्राप्त होता है तो प्रीतिकी परिणाम ये करेंगे, अन्यथा नहीं। बहुत सी घटनाएं देखी होगी कि कोई आपका बड़ा अभिन्न मित्र हो, बड़ा आपमें विश्वास रखने वाला मित्र हो, बड़े प्रेम युक्त बचन बोलने वाला भक्त हो और किसी समय उसकी कषाय की पूर्ति में वह बाधक आपको समझले तो तुरन्त मुंह तोड़ जबाब देकर अलग हो जाने में उसे देर न लगेगी। ऐसी कितनी ही घटनाएं आपके जीवन में गुजरी होंगी। किस पर विश्वास करूं ? शरण गहो तो परमात्म भक्ति का और आत्म उपासना का। अन्य सब शरण झूठे हैं।

बहिरंग छेद के कुछ दृष्टान्त :—वह श्रमण अपने परमात्म देव की और आत्मदेव की उपासना में प्रयत्नशील है। उसमें यदि इस सुन्दर प्रवृत्ति में कोई दोष आ गया, याने ऐसी स्थिति में काय चेष्टा करके कोई संयम में भंग हो गया तो वह बहिरंग छेद है। जैसे सामायिक कर रहे हैं। सामायिक करते हुए में हिलना न चाहिए, बोलना न चाहिए और क्यों जी सामने एक चूहे को बिल्ली झपटने लगे और आपसे न रहा जाय हाथ की थपाड़ी बजा दी, छू-छू कर दिया, बिल्ली भाग गई। यह तो आपका सामान्य रूप से बहिरंग छेद हुआ। आप जाकर गुरूजी से निवेदन करदें कि महाराज ऐसी बात है। आप जल छान रहे हों, गृहस्थी की बात है। खूब विवेक पूर्वक छान रहे हों, छानने के बाद जीवानी की बाल्टी से कुयें में पानी डालना चाहिए और ऐसा करते हुए में दस पांच छींटे अनछने जल के बाल्टी में गिर जावें तो यह कौन सा दोष है। यह बहिरंग दोष है।

अन्तरङ्ग दोषकी प्रबलता :—अंतरंग दोष वह है जहां अंतरंगमें कषाय किया हो। आप देख लों कि बहिरंग दोषको तो अपने मुख से कहने में ज्यादा हिचकिचाहट नहीं होती पर अंतरंग दोषोंका निवेदन करनेमें हिचक है। अभी चले जायें और हमारा आपका पैर किसी दूसरेके लग जाय

तो झट क्षमा मांग लेंगे कि भैया गल्ती हुई। गलती से लग गया है। यह वहिरंग दोष है। और आपके मनमें यह आजाय कि हमें इस तरहसे उठना है और लाते मारते हुए चलना है, तो यह बड़ा दोष है ना। इस दोषमें क्या आप निवेदन कर सकते हैं। कि भैया हमारे मनमें ऐसा भाव आया था कि मैं इस तरहसे उठूं कि मेरी लातें तुममें लगती हुई जायें मैंने वड़ा कसूर किया, क्षमा करो। ऐसा कहेगें क्या, नहीं कोई विरला ही कह पावेगा। सबकी मनमें चिंता करना यह अंतरंग दोष की बात है। और जिस मनुष्यको अपना आत्म हित साधना है उसे कुछ न देखना चाहिए कि मेरे कुछ दोषोंके कहने सुननेसे लोक में मेरे प्रति वहुत असर पड़ेगा। मुझे उस असरसे क्या मतलब है। वह तो यह चाहता है कि मेरे अन्दर कोई दोष न आए। कदाचित आये तो मैं उसको कह कर निवृत्त हो जाऊँ।

निर्मलताका अभ्युदय :—दो रईस आदमी थे। एक हल्का रईस और एक बड़ा रईस। दोनोंमें किसी घटनाके कारण अनबन हो गयी सो मुह बोलना बंद हो गया। महीनों तक मुह न बोले अब आया क्षमावनीका दिन उस दिन दोनों अपने घरमें वैठे-बैठ सोच रहे हैं कि किसी प्रकारकी गाँठ अपने हृदयमें बसानेसे अपना ही अहित है। और दूसरा कोई अहित कर सकता नहीं है। अपने चित्तकी शुद्धि कर लिया। ठीक उसी समय दोनोंके ही भाव जगें। तो बड़ा रईस मोटरसे चला अपने घरसे और छोटा रईस अपनी बग्घीसे चला। रास्तेमें दोनों मिल गये तो दोनों ही अपने वाहनसे उतर कर एक दम हृदयसे मिल गये। दोनों ही बोले मैंने बड़ा दोष किया। तो जब चित्तमें निर्मलता आती है तो अपने दोष कहनेमें कुछ भी हिचक नहीं होती। वड़े पुरुषोंकी ऐसी ही पद्धतियाँ हैं।

साधुके निर्दोष रहनेकी प्रवल भावना :—कोई काय चेष्टाका वहिरंग दोष हो जाय तो उसकी आलोचना से ही प्रतिकार हो जाता है पर जब यह अपने उपयोगसे ही दोष कर दे, कषाय वना रहे, विषय और कषायों में प्रीत उपजा ले तो उसकी उभय रूप छेदोस्थापना होती है। जैनेन्द्र आगम में वताया हुआ जो प्रायश्चित है उस वास्तविक आगमकी विधि को जानने वाले आचार्य गुरु महाराजके आश्रयमें जाकर वे साधु अपनी वहुत आलोचना करते कि महाराज मुझमें इस तरहसे दोष बन गये; मेरे ऐसा कषाय जग गया था, मेरी ऐसी बुद्धि हो गयी थी। ऐसा निवेदन करनेमें रंच भी हिचक नहीं है क्योंकि वह जानता है कि दोष मेरे हृदयमें न रहे तो मोक्षका मार्ग प्राप्त होगा, नहीं तो संसारमें ही भटकना पड़ेगा। उस साधुकी आलोचना

सुनकर कृपालु आचार्यदेव जो प्रायश्चित्त बताते हैं, अनुष्ठान बताते हैं उस तपको वे साधु करते हैं।

पर जीवोंके प्रति सद्भावना—भैया, मनसे किसीका अहित न विचारो, मनमें कोई दुर्व्यसनकी बात मत लाओ। यह सावधानी वास्तविक सावधानी है। अपनी भावना निर्मल बनावो जगत के सब जीव सुखी होवे ऐसा मन बनावों। कोई गाली देरहा है, खोटे वचन बोलरहा है तो यह सुनने वाला ज्ञानी सोचता है कि यह विचारा इतनी गाली देकर ही खुश होरहा है तो आज हम इसके बड़े काम आए कि हमारे निमित्तसे यह आज खुशी तो हुआ। यदि कोई मुझे गाली देकर सुखी होना चाहता है तो वह सोचता है कि यह गाली देकर ही प्रसन्न होरहा है तो आज हम इसके बड़े काममें आये कि हमारी वजहसे इसे सुख तो मिला। कोई कोई लोगतो धन देकर दूसरों को सुखी करना चाहते हैं मगर यह तो गाली देकर ही सुखी होगया। यह तो काम सस्तेमें ही निवट गया। उसका ज्ञानी बुरा नहीं मानता है। कोई जीव मुझपर उपद्रव करके सुखी होरहा हो तो इसपर ज्ञानीकी यह भावना रहती है कि यह जब यदि उपद्रव ही करके सुखी होना चाहता है तो उपद्रव करले।

सत्य विचारकी प्रेरणा —सबके सुखी होनेकी भावना बनावो, किसी भी जीवको अपना विरोधी न समझो तुम्हारी कल्पनाही तुम्हारा विरोधी है। तुम्हारी दुर्गति करने वाला तुम्हारा व्यवहार है, दूसरा कोई तुम्हारा विगाड़ करने वाला नहीं है। सुधरते हैं तो हमें अपनी वृत्तिसे सुधरते हैं, विगड़ते है तो हम अपनी वृत्तिसे विगड़ते हैं। किसी भी प्रकारकी चेष्टा, किसी प्रकारका ऐव अपने में मत प्रतिष्ठित करो। जिसका ऐव है वह ही उसका फल भोगेगा। मैं अपने उपयोगमें दूसरे के अपराधको वसाता रहूं तो इसमें खुदकी बुराई है। क्या प्रयोजन है ? मुझे अपने कामसे प्रयोजन है।

निर्वाध व्यवहार—मेरा काम है अपने शुद्ध स्वरूपकी परमात्मदेवकी उपासनामें लगना और व्यवहार सुन्दर रखना। प्रेमयुक्त रखना मैं अपनी ड्यूटी से परे न होऊं। अपने कर्तव्यमें रहता हुआ भी यदि किसीको अपने विषय कषायमें वाधा जचती है तो उसके लिए हम दोषी नहीं हैं। यों तो शिकार खेलनेवाला मनुष्य जाता है, रास्तेमें यदि साधुके दर्शन उसे मिल जाय तो वह असगुन मानता है। आज तो मुझे शिकार न मिलेगा। यह असगुन दिखगया। यदि साधु असगुन होगया तो इसमें साधुका कोई अपराध है क्या ? स्वयं अपने कर्तव्यसे च्युत होजाय तो स्वयंका अपराध हैं।

उस अपराधके फलमें नियमसे अशांति है।

धर्मकी सदाभावना—हम समय समय पर धर्मकी उपासना करें। लोग दस लक्षणीके दिन आते हैं तो १० दिन कितनी बड़ी धर्मकी तैयारी करते हैं और जब १० दिन पूरे होजाते हैं तो ११वें दिन मंदिर सूना होजाता है। इतना भी श्रद्धान नहीं रह पाता है कि २४ घंटे में तो हम ६ घंटे स्वाध्याय में लगाते थे तो कमसे कम एक चौथाई समय तो धर्मसाधनार्थ अब रखे। एक चोथाई समय भी स्वाध्याय के लिए नहीं रखते। क्या यह बात है कि दस लक्षणीके दिन धर्म करने से ज्यादा धर्म होगा और अन्य दिनों में कितना ही धर्म करें, तो कम धर्म होता होगा। धर्म तो आत्माकी परिणति है। जब दृष्टि दो तभी आनन्द लो, तभी कर्मों का क्षय होगा। यह पर्व तो इसलिए आया है कि हमें उनी साढ़े ग्यारह महीनों में चलते चलते धीरे धीरे शिथिलता आ गयी हो फिर मैं उसमें जुट जाऊँ और आगे फिर शिथिल न होने दूं। यह पर्व इसलिए मनाया गया है। पर धर्म तो जब करोगे तब ठीक है। कहो, दस लक्षणोंके दिनों में गृहस्थ तो धर्म कर लेगा मगर त्यागीके लिए तो धर्मका अवसर हो ही नहीं पाता है। उनके लिए तो ११॥ महीने ज्यादह शरण हैं। क्योंकि वड़े पूजादिक समुदाय के प्रोग्रैम में गृहस्थ अपने उपयोग में ज्यादा रह पाता है, त्यागी के लिए एकान्त स्वाध्याय ध्यान चाहिये सो कठिन पड़ता है।

आत्मदर्शनकी अनियतसमयता :—क्योंजी आप शुद्धिके अर्थ जा रहे हों और उसी क्षण आत्मा के उस ज्ञान स्वरूप की खबर आ जाय, क्या आ नहीं सकती है? वीतराग सर्वज्ञ देव का स्वरूप कैसा निर्मल है, कहां विराजमान है? ऐसा स्मरण आ जाय तो आप क्या करेंगे। शायद रूढ़ि धर्म मानने वालोंको यह बात कम जंचे और सोचें वे अशुद्ध दशामें प्रभुको मनमें कैसे विठायें। शुद्ध आत्मा का, भगवान का ख्याल जब भी आ जाय तब ही कर्मों का क्षय होता है। अपने स्वभाव की जब भी उपासना हो जाय तब भी कर्मोंका क्षय होता है। क्यों पंडितजी कुछ गलत है? नहीं! हाँ मुख से न बोले। आप उस समय अशुद्ध होवें तो अशुद्ध अवस्थामें मुखसे उच्चारण न करो। वचन न बोलो, मन में ख्याल आता हो तो दो मिनट और बैठे रहो। वहाँ आनन्द आ रहा है। प्रभू की स्मृति हो रही है। ख्याल आया है, कुछ परवाह नहीं। धर्म कब होता है, कहां हो जाता है इसकी तिथि नियत नहीं है।

साधुताकी अनियत समयता—जैसे कोई पुरुष साधु कब होगा? इसकी

कोई तिथि नियत नहीं है। ऐसा कुछ नहीं है कि एक महीना तो पहिलेसे निमंत्रण पत्र छपा दिया, तिथि निश्चित कर दिया कि फला दिन इतने बजकर इतने मिनटमें इनको दीक्षा दी जायगी, ये साधु होंगे ऐसा कुछ नियत टाईम नहीं होता है। इसी प्रकार हम और आपका धर्म करनेका टाइम नियत नहीं है। धर्मका साधन है मंदिर। मंदिरमें गये और एक घंटे तक प्रभुका स्वरूप चित्त में न समाया और पूजा करके सीढ़ियोंसे उतरे तो उस समय कहो प्रभुकी भक्ति प्रकट हो जाय। तो धर्मका कुछ टाइम नियत नहीं होता है। धर्म कहां होता है। घरमें बैठे हैं पलंगपर लेटे हैं तो कहो वहां ही आत्म चितनका रस दौड़ जाय। और आप जाप करने, सामायक करने बैठे बड़ा संकल्प मनमें कर लिया, आपका मन न लगा तो यह धर्म नहीं हुआ। यह सामायक पूजन वगैरह साधन हैं मगर धर्म कब होता है इसके लिये टाइम नियत नहीं। धर्म साधनामें लगे हो तो धर्म हो जाय, बाह्य साधनोंमें लगे हों तो वहां धर्म हो जाय। जहां भी धर्म परिणाम हो वहां ही अपनेको आभारी समझो।

यदि यहां प्रकरण चल रहा है धर्म योजनाका। संयममें बहिरंग कोई दोष लग जाय तो उसकी है आलोचना मात्र दण्ड, पर कषाय पूर्वक कोई दोष लगे तो उसका दंड आलोचना व प्रतिक्रमण दोनों लेना पड़ता है। प्रायश्चित से चित्तकी शुद्धि होती है और उस शुद्धिके होने पर चूंकि शल्य नहीं रहा, तो प्रभुके दर्शन होते हैं। अतः चित्तशुद्धि परमावश्यक है। अध्रुव अशरण, असार, भिन्न भोग साधनोंमें दृष्टि देना महान् अविवेक है। एक ध्रुव, शरण, सार, निज स्वरूपास्तित्वमात्र चैतन्य प्रभुकी दृष्टि देना कल्याण रूप है। अब संयमभंग होनेपर संयममें फिरसे स्थित होनेका विधान विधृत किया जा रहा है—संयम का जो छेद है वह दो तरहका होता है यानी जो व्रतके पालनमें दोष लगता है वह दो तरहसे लगता है। एक तो शरीरकी चेष्टासे दूसरा उपयोग द्वारा। शरीर चेष्टाकृत दोषका नाम है बहिरंग छेद और उपयोग द्वारा छेद होनेका नाम है अंतरंग छेद यानी ऊपरी दोष और भीतरी दोष। उपयोग मलिन न हो किन्तु कारण वश शारीरिक चेष्टा ऐसी होगई हो जिसमें द्रव्य व्रतका अंश भंग हो गया हो उसे कहते हैं ऊपरी दोष और बाहरी दोष हो या न हों किन्तु उपयोग मलिन हो जाय तो उसे कहते हैं अन्तरङ्ग छेद अथवा भीतरी दोष।

संयमच्छेद :— यह प्रकरण चल रहा है संयमके दोषोंका संयममें जो दोष लगते हैं वे दो तरहके लगते हैं एक अंतरंग छेद और दूसरा बहिरंग छेद। शरीर चेष्टाकृत कोई दोष लग गया हो, कहीं जीव पर पैर पड़ गया

हो या किसीको दुखी किया हो, किसी मनुष्यकी कोई चीज हमारे साथ रह गई हो या किसी चलती हुई स्त्री से स्पर्श हो गया हो अथवा अन्य किसी प्रकारसे भी जो बाहरी दोष होते हैं यह तो वहिरंग दोष हैं और कायसे बुरी बात नहीं भी हों और भीतरके परिणाम अंतरममें मलिन हों तो वह है अन्तरङ्ग छेद। जैसे किसीको सताया भी नहीं, किन्तु भीतरी परिणाममें आ गया कि उसे दुखी करूं अथवा किसीको झूंठ चुगली नहीं कर सकता परन्तु परिणाममें चुगली करना आ गया अथवा चोरीके परिणाममें आगया। स्त्री तो बहुत बाहर है लेकिन परिणाम में विकार आ गया। ये सब अंतरिक दोष कहलाते हैं। अंतरिक दोष विकट दोष हैं।

अन्तरङ्ग दोषके अभावमें निर्दोषताका एक उदाहरण :—सेठ सुदर्शनको रानी ने कितना चेष्टित किया। आप लोगोंने तो इस कथाको सुना ही होगा। महलमें बुलाया सुदर्शनको नग्न कर दिया, रानी ने शरीरसे चिपटा लिया फिर भी सुदर्शनमें अंतरिम, दोष तनिक भी नहीं था तो रानीने वहिरंग दोष इतना बनाया और बढ़ाया कि राजासे अपवाद कर बहाना बनाकर उसे शूलीपर चढ़ानेका हुक्म दिला दिया, किन्तु वहां शूलीपर सिंहासन हो गया। यह क्या है यह अंतरिक परिणामकी निर्मलताका प्रसाद है। यदि कोई अपने लौकिक वड़प्पन में चाहे जितना बढ़ जाय यदि परिणामको गन्दा रखा तो क्या वड़प्पन हुआ। यदि परिणामको मलिन न होने दिया तो चाहे शारीरिक कष्ट कितने ही आवें पर परिणामको गन्दा न होने देनेके कारण समझो कि उसकी जिन्दगी सफल है।

अन्तरङ्गछेदसे बचनेके लिये वहिरङ्गछेदका निषेध—बाहरी जो संयमभंग है वह तो होना ही नहीं चाहिए, वह तो एक बाड़ है कि जिससे अंतरंगमें परिणामकी मलीनता नहीं आसकती किन्तु अन्तरङ्गछेदसे संसारवंधन होता है इसलिए भावना शुद्ध रखनी चाहिए।

बाह्य संयममें भंग पड़गई उसे कहते हैं बहिरङ्गछेद और उपयोगके द्वारा जो संयममें दोष चला है उसे कहते हैं अंतरंगछेद। यदि उपयोग अच्छी तरहसे चल रहा है, जीवको बड़ी सावधानीसे देखभाल कर चल रहा है फिर भी कोई कदाचित् बहिरंग दोष लगजाता है तो चूंकि अंतरंगदोष नही है। सो इस बहिरंग दोषसे बन्ध नहीं होता है किन्तु बहिरंग दोषकी निवृत्ति न की जाय तो यह प्रमाद अंतरंगछेदका कारण बनजाता है। अतः वहिरंग दोषकी भी शुद्धि करना आवश्यक है। वहिरंगछेदकी शुद्धि मात्र आलोचना है। अपने गुरुसे उस

दोषकी आलोचना कर दी कि मेरे द्वारा अमुक प्रकारसे दोष लग गया है इतनेसे ही उसकी शुद्धी होजाती है। किन्तु अपने उपयोगमें मलिनता आगई हो तो उसका प्रायश्चित आलोचना है और जो गुरुदेव दंड बतायें, तप बतायें वह भी करना आवश्यक है। अतः अपने आपको ऐसा सम्भल कर रहना चाहिए कि अपना उपयोग प्रभुके स्वरूपमें और अपने स्वरूपमें बना रहे।

लक्षभ्रष्टकी प्रवृत्ति—जिनके अपन एक उपयोग शुद्धिका लक्ष्य नहीं है वे अन्तरङ्गमें तो टिक नहीं सकते सो बाहरमें शुद्धिकी दृष्टि किया करते हैं। उनको ऊपरी बातें ही धर्मके रूपमें सुहाया करती हैं उसको अपने अंतरंगमें अपने स्वरूपमें बुद्धि नहीं है उसको अपनेमें संतोष नहीं होता है और बाहरी बाहरी बातोंमें संतोष रहता है।

ज्ञानीकी प्रवृत्ति लक्षसिद्धिके लिए—परिणामोंकी निर्मलता होना ही धर्म है। यदि जिनवाणीके शब्दोंको सुननेमें हमारे परिणामोंके कारण परमात्मप्रभुके दर्शन होते हैं अथवा भगवानका स्मरण होता है तो उसका यही कर्तव्य है कि उस समय इसी स्वाध्यायमें लगजावे। सही बात यह है कि जिस प्रकारसे उपयोग अपने ज्ञानस्वरूपमे लगे वही करे। यदि किसीके स्वाध्यायमें यह बात नहीं मिलती है तो एकान्तस्थानमें प्रभु भजनके कार्यमें लगजाय, स्वाध्यायको गौण कर दे उसे यह हठ नही कि हमें तो अपनाये नियम पूरा करना है। उसे तो जिस जगहमें आत्माका भोजन मिल जाता है उसीमें प्रसन्न रहता है। भैया संयम तो उनमें ही है जो शुद्ध स्वभाव की रुचि करके अपने अन्तः प्रकाशमान ईश्वरका दर्शन कर रहे हैं सहज स्वभावमें अपने उपयोगको स्थिर करना ही संयम है। यह तो सामायिक संयम है। अनेक परस्थितियोंमें आत्मसंयमको नहीं रखा जा सकता तो उसे किस प्रकार अपना विचार आचार करना चाहिए तो अनेक काम बताये जाते हैं। ये सब छेदोपस्थापना हैं।

सामायिक व छेदोपस्थापनाका क्रमसे युगपत् होनेका निर्णय :—यहां एक प्रश्न होता है कि सामायिक व छेदोपस्थापना ये दोनों संयम एक साथ चलते हैं या क्रमसे चलते हैं? तो इसका उत्तर ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग की तरह है। जैसे ज्ञान और दर्शन एक साथ मिलता है किन्तु इनका उपयोग क्रमसे चलता है, उसी तरह योग्यतामें दोनों संयम साथ हैं परन्तु इनका उपयोगक्रमसे है। सामायिक संयमका तो अर्थ है रागद्वेष रहित निर्विकल्प निज चैतन्य स्वरूपमें उपयोगी होकर सर्व सावद्योंका त्याग होना। तथा छेदो-

पस्थापनाका अर्थ है भिन्न-भिन्न व्रतोंका पालन और सामायिक संयमसे च्युत होनेपर उस अखण्ड संयममे लगनेका यत्न। तो दोनों संयमोके स्वरूप जब अलग अलग हैं तब दोनों के परिणाम एक समयमें कैसे हो सकते हैं! दोनोंके स्वरूपका अन्तर देखो-अखण्ड ज्ञायक स्वभावमें उपयोगको स्थिर करके रागद्वेष रहित वृत्तिके कारण शुद्ध सहज आनन्दके अनुभवकी स्थिति तो सामायिक संयमकी है और भिन्न-भिन्न रूपसे व्रतोंका पालन करना सो छेदोपस्थापनाकी स्थिति है। इसलिए सूक्ष्मतासे ये दोनों क्रमसे कहे गये और योग्यता से दोनों साथ साथ कहे गये। छटवें गुणस्थानमे सामायिक है और छेदोपस्थापना और ९ नौमें गुणस्थानमें भी सामायिक और छेदो-पस्थापना हैं। बीचके ७ वें व ८ वें गुणस्थानमें भी दोनों है। तो उपयोगमें यहां दोनों क्रमसे ही है और योग्यतामें यहां दोनों साथ है।

परिणाम निर्मल रख सकनेका प्राथमिक सुगम उपाय :—जब कोई हमारे परिणामोंमे तो गन्दगी नहीं है किन्तु शरीरके द्वारा कोई दोष लग गया तो उसका प्रायश्चित अपने दोष बता देना है। अगर शरीरका दोष न भी हो किन्तु उसका उपयोग मलिन होगया है तो उस साधुको गुरुसे आलोचना भी करना पड़ेगी और गुरु जो प्रायश्चित बतावे उपवास, या अन्य कायक्लेश वे सब भी करना होंगे तो सबसे बड़ा सवाल है कि अपने परिणामों को निर्मल रखना। अगर परिणाम निर्मल हो सकते हैं तो जीवनकी सफलता है। परिणाम निर्मल रख सकनेका सुगम उपाय यह है कि जगतके सब जीवोंको अपने स्वरूप के समान ज्ञान मात्र समझकर उन सब जीवों के सुखी होनेकी भावना रखना चाहिए। सब जीव सुखी हों, कोई दुखी नही हों भैया, कोई भी अन्य मुझे दुखी कर सकने वाला नहीं है। किसी मनुष्यको ओर से आपके विषयों मे बाधा पड़े हैं तो भी यह समझो कि मेरे ही पूर्व कृत कर्मका ही उदय है कि ऐसा समागम मिला जो विषाद परिणामका आश्रयभूत बना अथवा कर्मोदयका साक्षात् आक्रमण यह है कि परिणाम गन्दे होगये। इसमे दूसरे का दोष नहीं है। परिणाम गन्दे बने इसमें भी दूसरों का दोष नही हमारे दुख में भी दूसरो का अपराध कारण नहीं। दूसरे के अपराधोसे हमें दुख नहीं होता है। जितना भी दुख होता है मुझे मेरे ही अपराधसे होता है।

अपने दुखमें अपना अपराध :—भैया, सोचो—अपने दुखमें अपना अप-राध क्या है ? निमित्त दृष्टि से तो पूर्व कृत अपराध समझना चाहिए जिसके निमित्त से ऐसा कर्म बन्ध हुआ जिसके उदयमें यह आपत्काल आया।

उपादान दृष्टि से इस समयके हमारे परिणाम ही हमारे अपराध हैं। जैसे तृष्णा परिणामरूप अपराध किया है तो इससे हमें क्लेश तो होगा ही। क्रोध, मान, माया का परिणाम भी स्वयं अपराध है जिससे वर्तमान में दुख होता है। जिसे दुःख होता है उसे अपनी ही कषायरूप अपराधके कारण दुःख होता है। पर अज्ञान साथमें लगा हुआ है इसलिए अपना दोष तो समझमें नहीं आता। दूसरों पर दोष लादते हैं। समयग्ज्ञान ही समस्त संकटोसे बचाने वाला एक परमार्थ शरण है। हमारा ज्ञान सही है तो सुख है और हमारा ज्ञान वास्तव में सही नही है तो दुख है। कोई पागल होगया तो वहां और कौनसी बात होगई ? यही तो हुआ ना कि उसका ज्ञान सही न रहा। पागल के मित्र परिवार रिश्तेदार आदि सब कोई चाहता है कि मैं इसे सुखी कर दूं। ठीक ज्ञानवाला बना दूं। वे सब बहुत समझाते हैं किन्तु वहां कुछ बस नहीं चलता वहां, तो कोई भीतर से विकार हुआ है। सो भैया अगर हम अपने ज्ञान को बिगाड़ने नहीं देते तो बहुत बड़ी विभूति पाई हुई समझें। धन जाय, पोजीशन जाय और कुछ हानि हो किन्तु ज्ञान नहीं बिगड़ने पावे। तो महालाभ है। कषाय को बढ़ानेमें लाभ नहीं है। कषाय बढ़नेपर कदाचित ज्ञान विचलित होगया तो फिर अपनेको सम्भालना भी कठिन होगा। धनकी तो दान भोग नाश ये तीन गतियां हैं। वह भी सदा साथ नहीं रहता। हमारा साथ निभाने वाला तो हमारा ज्ञान है। अपने ज्ञान को सही बनाओ।

निर्बन्धता के हेतु आत्मसंयम :—अपना ज्ञान तो स्वभाव ही है लेकिन वह कर्म प्रकृति के विपाक का निमित्त पाकर आवृत हो गया। अपने ज्ञान स्वभाव की श्रद्धा करके ज्ञान विकासमें आता है। यही अपना परम पुरुषार्थ है। इसका उपाय है आत्मःसंयम, इस अध्यात्म संयममें चलने वाले श्रमण के कदाचित कोई दोष लगता है तो वह किस श्रेणि का है इसके उत्तर में दोष दो प्रकार का कहा गया है। एक बहिरंग दोष और द्वितीय अंतरंग। बहिरंग दोष तो काय की चेष्टा मात्र से अधिकृत है और अंतरङ्ग दोष उपयोग द्वारा अधिकृत है। आंतरिक दोष से तो कर्मबन्ध होता है और बहिरंग दोषसे अंतरिम दोष तक आजाने की सम्भावना रहती है। आन्तरिक अर्थात् उपयोगकृत दोप को निमित्त पाकर कर्म का बन्ध स्वयं हो जाता

बन्ध नहीं है।

कल्याण का उपाय निर्मलता :— भैया कल्याण को चाहते हो तो इतना परिणाम निर्मल करो कि प्राणी को सताने का भाव न हो। अगर यह हिंसामय भाव होगया तो इस तरह से वर्तमान में स्वयं दुखी होना होगा और आगे दुख भोगना पड़ेगा। किसी से झूंठ वोलकर कष्ट पहुँचाकर अपना काम चलाया तो यह वड़ी निर्दयता है कि हम दूसरों के बारे में झूंठ वोल देते हैं और उनको कष्ट पहुँचाकर उसकी तरफ से जरा भी नहीं हिचकिचाते है, ये वुरे भाव हैं। किसी की कोई चीज नहीं चुराओ। इससे उपयोग वुरा हो जायगा और यह पाप हजार गुणा नुकसान कर देगा। किसी स्त्री पर बुरी दृष्टि न दो, यदि यह अब्रह्म सम्वन्धी विकार आ गया तो इस दुष्परिणाम का इतना दुष्प्रभाव होगा कि उसकी बुद्धि व्यवस्थित न रहेगी। तब वह इतना भी योग्य न रहेगा कि वह अपने वारे में कोई मार्ग भी निकाल सके। इसी तरह परिग्रहों में जुड़ जाने की आदत छोड़ दो। परिग्रह का संचय न करो। अच्छा परिग्रह से ही बड़प्पन समझने हो तो मानलो, जो कुछ लोक में है उसे देखकर मौज मान लो। क्यों कि जो बड़ों के घर में है वह भी उनके काम नहीं देता सो तुम्हें भी काम नहीं आता, करीब करीव दोनों ही वरावर हैं। अगर कुछ समागम में आ गया तो क्या है, थोड़ा समागम में आया तो क्या है। इसलिए यह परिणाम नहीं करो कि अपने बहुत परिग्रह बढ़े। तात्पर्य पांचों पापों से पृथक होऊं इसी वृत्ति से अपना कल्याण होगा।

आत्मा का स्वरूप निर्दोष :— यहां जीव स्वयं ज्ञान और आनन्द का निधान है इसमें ज्ञान और आनन्द स्वभावतः पाया जाता है जैसे पुद्‌गलों के देखा जाय कि उनमें क्या है उनका क्या स्वरूप है तो वहां रूप रस गंध स्पर्श नजर आता है। इसी प्रकार जीव में जरा खोजो तो इसमें क्या चीज बनी हुई है किन तत्वों का नाम जीव है। खोज करने पर यह मालूम होगा कि जो ज्ञान भाव है और आनन्द भाव है इसी का नाम जीव है। ज्ञान और आनन्द के अलावा जीव नाम की अन्य कोई चीज नहीं है। सही ज्ञान करना सही आनन्द भोगना यह जीव का स्वभाव है इसमें दोष का कोई नाम नहीं। आत्मा में राग द्वेष का स्वभाव नहीं पड़ा किन्तु आज हालत क्या हो रही है शरीर में बन्धे हैं, कर्मों में फंसे हैं और राग द्वेष का प्रभाव चल रहा है यहां ऐसे विकट उपद्रव हम और आप इन मे लग गये हैं। इन

उपद्रव में चैन मानने का बहुत विकट कठिन फल है कि संसार में रोते रहना भैया, दोष में आनन्द नहीं मानो, अपने गुण में आनन्द समझो तो जीव का स्वभाव दोष करने का तो था ही नहीं अब सही ज्ञान में होने के कारण विकसित हो ही लेगा।

दोष विनाशका अध्यात्म उपाय निर्दोष स्वरूप का अवलोकन :— यह बड़े मुनिराज जिनका कोई दोष नहीं है फिर भी कदाचित दोष हो जावे तो वे ज्ञान भावना करते हैं जिससे यह दोष नष्ट हो जाता है। अपने आप में ऐसा देखा करते हैं वे मुनिराज ऐसा विचार करते हैं कि मेरे आत्मा का स्वभाव दोष करना नहीं है। रागद्वेष इस जीव के आत्मा के अस्तित्व के कारण नहीं होता है इसके साथ कर्म उपाधि लगा है उसके उदय की यह छाया है। जैसे ऐना में रंग विरंगी छाया पड़ती है वह ऐना का स्वरूप नहीं है किन्तु जो चीज सामने आजाती हैं सो दर्पण में स्वच्छता का गुण है ना, जिसके कारण रंग विरंगी छाया आ जाती है। इस तरह जीव के राग द्वेष विकार कषाय आदि जीव का स्वरूप नहीं है, इस का अस्तित्व जीवत्व भाव में नहीं है किन्तु कर्म उपाधि जैसा उदय में आता है उसके अनुकूल आत्मा में विकार आ जाया करता है। आत्मा ॥

ज्ञान और अज्ञान का परिणाम :—जिसको अपने ज्ञानके स्वरूपका परिचय नहीं है, अपनी आत्माका पता नहीं है वह बाहरी बाहिरी स्वरूपपर संतोष किया करता है उसे कहते हैं मिथ्या दृष्टि जीव तथा जिसे आत्म-स्वरूपका भान हुआ है, वह है सम्यग्दृष्टि । सम्यकदृष्टि जीव वस्तुको स्वतन्त्र निरखता है। इस कारण कठिन उपद्रवों के बीच भी अपना मिथ्या दृष्टि जीव धैर्य नहीं छोडता है और कल्पित उपद्रवोंमें भी संकट मानकर अपने धैर्य को खो बैठता है किन्तु ज्ञानी पुरुषोंमें यह स्पष्ट झलक रहा है कि जगतके प्रत्येक जीव स्वतन्त्र सत् हैं। किसीका किसी अन्यपर कोई अधिकार नहीं है। इस विशद ज्ञानके कारण बाह्यका आकर्षण नहीं होने से वह अपनेमें निज स्वरूप गुणको देखकर अपने में आनंद मान रहा है। मिथ्या दृष्टि जीव भगवान की पूजा करेगा तो कोई लौकिक दुख और संकट निवारणके लिए करेगा। संतानका लाभ हो, धनका लाभ हो, मुकद्दमाका विजय हो। आदि आशय रखकर करेगा। सम्यग्दृष्टि जीव पूजा करता है तो भगवान के स्वरूप को ध्यानमें रखकर अपने आपको दृष्टि करता है। वह आत्माके अनुभव के लिए भगवानकी पूजा करता है और मिथ्या दृष्टि जीव विषयोंके संग्रहके लिए भगवानकी पूजा करता है।

अज्ञानी के बाह्यधर्म मेंभी अस्थिरता :—भैया एक पुरुष था वह एक नारियलके पेड़के ऊपर चढ़नेके लिए चला तो गया चढ़ भी गया परन्तु उसे नीचे उतरनेमें डर लगा और डरकर कहने लगता है और सोचता है कि हे भगवान यदि मैं इस पेड़से आरामसे उतर जाऊंगा तो मैं ५०-६० ब्राह्मणों को सही या अतिथियोंको भोजन कराऊंगा और हिम्मत करता है और नीचे उतरता है तथा कुछ नीचे उतरनेपर कहता है कि मैं अब २५ को जिमा दूंगा, कुछ और नीचे उतर आता है तब कहता है कि मैं २० को भोजन जिमा दूंगा और जब नीचे उतर चुकता है तब कहता है कि किसको जिमाना है उतरता तो मैं खुद हूं अज्ञानी जीवकी भी यही हालत होती है कि अज्ञानी लौकिक कष्टमें पड़कर धर्म शोध करता है और वह उससे कष्ट मुक्त होता है तो धर्मको छोड़ देता है।

ज्ञानी की वृत्ति और चिन्तन :—ज्ञानी जीवको न तो आपत्तियोंका भय रहता है और न आरामके प्रति मौजका भाव रहता है किन्तु वह जानता है कि यह सारा संसार दुःखमय है। यही देख लो हममें से कोई ५० वर्ष की उम्रके हैं, कोई ६० वर्ष की उम्रके हैं, और उन्होंने अबतक क्या क्या किया होगा। कितना परिश्रम किये होंगे और बतलाओ अब उनके

उपद्रव में चैन मानने का बहुत विकट कठिन फल है कि संसार में रोते रहना भैया, दोप में आनन्द नहीं मानों, अपने गुण में आनन्द समझो तो जीव का स्वभाव दोप करने का तो था ही नहीं अत्र सही ज्ञान में होने के कारण विकसित हो ही लेगा।

दोप विनाशका अध्यात्म उपाय निर्दोप स्वरूप का अवलोकन :— यह बड़े मुनिराज जिनका कोई दोप नहीं है फिर भी कदाचित दोप हो जावे तो वे ज्ञान भावना करते हैं जिससे यह दोप नष्ट हो जाता है। अपने आप में ऐसा देखा करते हैं वे मुनिराज ऐसा विचार करते हैं कि मेरे आत्मा का स्वभाव दोप करना नहीं है। रागद्वेप इस जीव के आत्मा के अस्तित्व के कारण नहीं होता है इसके साथ कर्म उपाधि लगा है उसके उदय की यह छाया है। जैसे ऐना में रंग विरंगी छाया पड़तीं है वह ऐना का स्वरूप नहीं है किन्तु जो चीज सामने आजाती हैं सो दर्पण में स्वच्छता का गुण है ना, जिसके कारण रंग विरंगी छाया आ जाती है। इस तरह जीव के राग द्वेप विकार कपाय आदि जीव का स्वरूप नहीं है, इन का अस्तित्व जीवस्व भाव में नही है किन्तु कर्म उपाधि जैसा उदय में आता है उसके अनुकूल आत्मा में विकार आ जाया करता है। आत्मा में ज्ञान गुण ऐसा स्वच्छ गुण है, जिसके शारण आत्मा में उपाधिका निमित्त पाकर विकार छा जाता है। जैसे दर्पण में स्वच्छता गुण के कारण उपाधिका सान्निध्य पाकर छाया रूप प्रतिविम्ब होता है। उसमें स्वच्छता का गुण है उसमें ही यों छाया आया करती है इसी कारण भीट मेंप्रतिविम्ब नहीं होता। इस तरह कर्म का जव विपाक चलता है तो जीव में विकार होता है अन्य पदार्थ में विकार नहीं होता, क्यों कि प्रतिमास नामक स्वच्छता जीव में ही है।

विकार ज्ञान द्वारा स्वभावकी प्रतीति—जीवमें औपाधिक विकार आता है। ज्ञानस्वभावकी इस विकारको देखकरप्रतीत करो। जैसा वाहरके एककमरेमें रातके समय चौकी वगैरह चीज देखी जाय और जलता हुआ दिया नहीं देखा तो दीयाके जलते प्रकाशमें चौकीको देखकर झटसे कह देता है कि यहां दीया जल रहा है पर उस दीयेके कारण जोयह पदार्थ प्रकाशित हो गया तो प्रकाशित पदार्थ को देखकर हम यह ज्ञान करते हैं कि यहां दीया जल रहा है। इस तरह जव हम रागद्वेष को देखते हैं तो समझना चाहिए कि यहां ज्ञान का दीपक जल रहा हैं। खोटी वातोंको देखकर भी अच्छी वातों का विचार किया करो, आत्माके ज्ञान गुणका अन्दाज किया करो।

ज्ञान और अज्ञान का परिणाम :—जिसको अपने ज्ञानके स्वरूपका परिचय नही है, अपनी आत्माका पता नहीं है वह बाहरी बाहिरी स्वरूपपर संतोप किया करता है उसे कहते है मिथ्या दृष्टि जीव तथा जिसे आत्म-स्वरूपका भान हुआ है, वह हैं सम्यग्दृष्टि । सम्यकदृष्टि जीव वस्तुको स्वतन्त्र निरखता है। इस कारण कठिन उपद्रवों के वीच भी अपना मिथ्या दृष्टि जीव धैर्य नहीं छोडता है और कल्पित उपद्रवोंमें भी संकट मानकर अपने धैर्य को खो वैठता है किन्तु ज्ञानी पुरुषोंमें यह स्पष्ट झलक रहा है कि जगतके प्रत्येक जीव स्वतन्त्र सत् हैं। किसीका किसी अन्यपर कोई अधिकार नहीं है। इस विशद ज्ञानके कारण बाह्यका आकर्षण नहीं होने से वह अपनेमें निज स्वरूप गुणको देखकर अपने में आनंद मान रहा है। मिथ्या दृष्टि जीव भगवान की पूजा करेगा तो कोई लौकिक दुख और संकट निवारणके लिए करेगा। संतानका लाभ हो, धनका लाभ हो, मुकद्माका विजय हो। आदि आशय रखकर करेगा। सम्यग्दृष्टि जीव पूजा करता है तो भगवान के स्वरूप को ध्यानमें रखकर अपने आपको दृष्टि करता है। वह आत्माके अनुभव के लिए भगवानकी पूजा करता है और मिथ्या दृष्टि जीव विषयोंके संग्रहके लिए भगवानकी पूजा करता है।

अज्ञानी के बाह्यधर्म मेंभी अस्थिरता :-भैया एक पुरुष था वह एक नारियलके पेड़के ऊपर चढ़नेके लिए चला तो गया चढ़ भी गया परन्तु उसे नीचे उतरनेमें डर लगा और डरकर कहने लगता है और सोचता है कि हे भगवान यदि मैं इस पेड़से आरामसे उतर जाऊंगा तो मैं ५०-६० ब्राह्मणों को सही या अतिथियोंको भोजन कराऊंगा और हिम्मत करता है और नीचे उतरता है तथा कुछ नीचे उतरनेपर कहता है कि मैं अब २५ को जिमा दूंगा, कुछ और नीचे उतर आता है तब कहता है कि मैं २० को भोजन जिमा दूंगा और जब नीचे उतर चुकता है तब कहता है कि किसको जिमाना है उतरता तो मैं खुद हूं अज्ञानी जीवकी भी यही हालत होती है कि अज्ञानी लौकिक कष्टमें पड़कर धर्म शोध करता है और वह उससे कष्ट मुक्त होता है तो धर्मको छोड़ देता है।

ज्ञानी की वृत्ति और चिन्तन :—ज्ञानी जीवको न तो आपत्तियोंका भय रहता है और न आरामके प्रति मौजका भाव रहता है किन्तु वह जानता है कि यह सारा संसार दुःखमय है। यही देख लो हममें से कोई ५० वर्ष की उम्रके हैं, कोई ६० वर्ष की उम्रके हैं, और उन्होंने अबतक क्या क्या किया होगा। कितना परिश्रम किये होंगे और बतलाओ अब उनके

हाथमें क्या है। हमारे उनके हाथ तो रीतेके रीते ही हैं। दुख अब भी हैं। संतान अधिक हो जाती है और धन अधिक हो जाता है तो क्या सब जुदे-जुदे ही तो हैं। क्या पुत्र पोता आदि हमारी आज्ञा पालन कर सकता है। बल्कि संतान कहती है कि इन बड़े बड़े वृद्धोंकी तो अकल सठिया गई है। सो देखलो इन बड़ों के उम्र बढ़नेपर और बड़े बड़े दुख हो गए हैं।

संसारसे क्लेश व उनसे छूटनेका उद्यम :—बताओ भैया इस संसारमें आराम है कहां। सर्वत्र दुःख ही दुःख छाया हुआ है। यदि विषयोंको समागम मिल आरामका समागम मिला तो यह समागम तो नष्ट होगा ही। जब यह समागम नष्ट होगा तो वियोगकालमें अपने आप मोहीजन कलेश मानेंगे। जो संयोग का हर्ष मनाया करता है उस पुरुषको उन पदार्थ के वियोगके समय दुःख अवश्य होगा। भैया, गृहस्थ के दो तप हैं एक तो यहां जो आय हो उसमें से आधा भाग तो अपने काममें खर्च करना और आधा भाग धर्म, दान,पुण्य में खर्च करदे उसका तप यही है। दूसरा तप यह है कि जो चीज आपको मिली हुई है उसको देखो कि यह तो मिट जाने वाली चीज है, यह नष्ट हो जायगी। उसमें क्यों प्रीत करता है। ये दो काम गृहस्थके बड़े काम हैं। यही गृहस्थका महान तप है। विपत्तिमें घबराओ नहीं। जीव पर विपत्ति नहीं है। अपने ज्ञान स्वरूपको देखो कि यह कितना स्वच्छ व आनन्द स्वरूप है। इसमें अन्य चीजका प्रवेश ही नहीं। हम ख्याल बनाते और आपत्ति मानते हैं। सो भैया जैनशासन का प्रवेश पाया है तो धर्ममें रुचि करो और खुश रहो।

सुखी होने का उपाय :— अपने आपको सुखी करने के लिए कार्य करना है केवल एक, क्या? जो व्यर्थ ही बाहर के पदार्थों से कुछ सुख खींचने के भ्रम वाली दृष्टि घूम रही है। वह दृष्टि बाहर में न घूमकर शांत होकर अपने आप में रम जाय केवल एक ही यह काम है। यह काम बहुत कठिन है और बहुत सरल है तब तक इसमें अधिकार नहीं होता जब तक यह कार्य कठिन मालूम होता है और जब यह कठिन मालूम होता है। ऐसी स्थिति में व्यवहारिक धर्म का आश्रय लेना पड़ता है। व्यवहारिक धर्म को संक्षेप में ६ भागों में विभक्त किया है। ६ प्रकार के पापों से निवृत होना। पाप -छह है -मोहकाम क्रोध मान माया लोभ हिंसा इनसे बचे इसके लिए उपाय है-भेदविज्ञान, अहिंसा सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह की वर्तना। प्रथम भेदविज्ञान करो। इस तरहसे श्रद्धाको हटाकर हिंसा झूंठ चोरी कुशील व परिग्रह इनपाँचोंका

त्याग करो। इन छः आत्मवैरियों का त्याग हो जाने से जीवन बहुत पवित्र बनेगा शांति होगी, संतोष होगा और नई ज्योतिसे भेंटहोगी। पहला काम है मोह का त्याग और इसका सीधा उपाय यह है कि हमें प्रत्येक जीव प्रत्येक अणु प्रत्येक द्रव्य स्वतन्त्र स्वतन्त्र नजर आ जाना चाहिये। इसके अर्थ सर्व एकाकी पदार्थों को उनके स्वयं के अपने स्वभाव में देखना पड़ेगा। इससे एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध की बुद्धि नहीं रहेगी। यही मोह को विजय का उपाय है। मोह क्या है एक का दूसरे के साथ सम्बन्ध मानने की बुद्धि। एक का दूसरे से सम्बन्ध मानने से बुद्धि हटी, लो इसी का नाम मोह का त्याग है। एक का दूसरा कुछ नहीं है यह बात जब प्रत्येक का सत्त्व पृथक् अवगत होता है तब अनुभव में आती है कि प्रत्येक जीव अपना ही परिणमन करता है और वह दूसरे का कुछ नहीं कर सकता और दूसरा मेरे में कुछ नहीं कर सकता।

अपना ही परिणाम सुख दुख का हेतु :— हमको सुख दुख होता है तो अपने ही विचार बनाकर सुख दुख होता है, इस सुख दुःख को करने वाला कोई दूसरा नहीं है। वस्तु के स्वरूप की यथार्थ प्रतीति होने से मोह दूर होता है। मोह दूर होता है तो बड़ी विकट समस्यायें भी सब हल हो जाती है। हिंसा चोरी, झूंठ परिग्रह कुशील इनके त्याग से इह लोक व परलोक दोनों की सिद्धि है। अतः इन पापों का त्याग करना चाहिए। हिंसा त्याग यही है कि दूसरों के सताने के भाव न हो। झूंठ का त्याग, चुगली और झूंठ के अपराध को नहीं करो। चोरी का त्याग--किसी की वस्तु को न उठाओ पर स्त्री त्याग किसी पर स्त्री और वेश्या से तनिक भी नेह न रखना और अपने मन में कतई विकार न लाना। परिग्रह का त्याग, पर पदार्थ के संग्रह को भावना भी न होना। पांच पापों का त्याग करना आत्महितार्थ जरूरी है।

पन्च व्रतों की उपयोगिता का उदाहरण :— एक कथानक में आता है कि एक बार कोई नागश्री नाम की ब्राह्मणी की कन्या ने दिगम्बर साधू महाराज से पांच व्रत लिए। हिंसा न करना- झूंठ न बोलना-चोरी न करना, कुशील न करना, परिग्रह की तृष्णा न करना। इसके बाद उसने अपने घर में आकर पिताजी से कहा कि आज मैंने बड़ा वैभव कमाया है। उन्होंने पूछा क्या? तब वह बोली कि मैंने निग्रन्थ साधू दिगम्बर महाराज से ५ व्रत लिए हैं, उसने कहा अरे इनको छोड़ दो। तब वह बोली कि महाराज ने कहा था यदि इन व्रतों को छोड़ना तो मेरे पास आकर

छोड़ना ।

पाप परित्याग की घटनाओं का प्रभाव :— इसके बाद वे दोनों साथ साथ महाराजके पास गए। रास्ते में एक मनुष्यको फांसीका दण्ड मिल रहा था, पुत्री ने पूछा हे पिताजी यह प्राण दण्ड क्यों दिया जा रहा है। पिताने समझकर बताया कि इस मनुष्य ने एक की हत्या की है और इसके फल में प्राण दण्ड दिया जारहा है, तब मैंने हिंसा का त्याग किया तो कौन सा अपराध किया। उन्होंने पुत्री से कहा कि अच्छा एक यह व्रत तुम रख लो आगे चलने के बाद देखा कि एक जगह एक पुरुष की जीव छेदी जा रही थी पुत्री ने पूछा कि पिताजी इसकी जीभ क्यों छेदी जा रही है तब पिता ने कहा कि इसने झूंठ बोला है इस कारण इसकी जीभ छेदी जा रही है। जब इसको झूंठ बोलने मे जिव्हा छेद का दण्ड मिला है तो मैंने झूंठ न बोलने का व्रत लिया तो क्या अपराध किया। तब पिताने पुत्री से कहा कि यह व्रत भी रख लो। रास्ते में सिपाही लोग पुरुष को हथकड़ी पहराए हुए ला रहे थे तब पुत्री ने पूछा कि इसके क्यों हथकड़ी पड़ी तो पिता ने कहा कि इसने चोरी की हैं। तो मैंने चोरी न करने का व्रत लिया तो क्या बुरा किया, पिता ने कहा अच्छा यह व्रत भी तुम रख लो। आगे चले तो देखा कि एक पुरुष के हाथ काटे जा रहे थे पुत्री ने पिता से पूछा कि यह दण्ड इसे क्यों दिया जा रहा है तो पिताने कहा, कि इसने एक स्त्री से कसूर किया है इसलिए इसके हाथ काटे जा रहे हैं तो पिताजी अगर मैंने कुशील [illegible] का व्रत ले लिया तो क्या बुरा किया। अच्छा यह भी व्रत रखलो। [illegible] मे देखा एक पुरुष को पीटा जा रहा था पुत्री ने पूछा ऐसा क्यों हो रहा हैं। पिता ने बताया कि इसने धन की तृष्णा में झूंठ मूंठ हिसाब कर दूसरे के धन को रख रहा था तब पुत्री ने पिता से कहा कि जब परिग्रह में इतना कष्ट मिलता है तब मैंने परिग्रह को त्याग दिया तो क्या बुरा किया। पिता ने कहा अच्छा इस व्रत को भी रख लो सभी बातों को रखलो चलो साधू के पास चलें और उससे यह पूछें कि उसने बिना मेरी आज्ञा के ये व्रत मेरी पुत्री को क्यों दिए।

आत्म विकास योजक ही परमार्थ पिता :— ब्राह्मण जाकर साधू महाराज से पूछते हैं कि तुमने हमारी कन्या को मेरे पूछे बिना व्रत क्यों दे दिये ? तब साधू ने कहा कि यह कन्या तुम्हारी है या हमारी। इस बात को सुन कर सब को बड़ा आश्चर्य हुआ ! गांव में आदमी जुड़ गए और कहने लगे कि यह साधू दूसरे की बेटी को अपनी बेटी क्यों कह रहा

है। जब साधू ने नागश्री के सिर के ऊपर आशीर्वादात्मक हाथ कर कहा कि जो तुझे मैंने पूर्व भव में पढ़ाया है उसको तू कह तब उस नागश्री को साधू के द्वारा दी गई पूर्व भव की समस्त विद्याओं का ज्ञान हुआ। विभिन्न भाषा में धर्म की बात कहने लगी। तब सबने यथार्थ बात समझ ली कि अहो जो धर्म के मार्ग में लगा देता है वही उसका सच्चा पिता है मोही जनों ने विषयों में बुद्धि लगाई है वहां कोई जीव आकर जन्म लेता है। तो इसमें पिताने किया जो शरीरको पैदाकरा वह पिता क्या पिता हैं। परमार्थसे तो पिता वह है जो आत्माकी शिक्षा देकर संसारके संकटों से बचा देवे। इस घटनाने सबको बताया कि यदि सम्यक् आचरण से रहें तो क्लेश नहीं होगा इन ५ व्रतोंका जो पालन करेगा वह इस जीवनमें सुखी रहेगा और उसका जीवन सफल रहेगा।

धर्मवृत्ति ही सबका शरण :—साधुजनों ने सर्वप्रकार नवकोटिस से इन पापों का त्याग कर दिया है पर ग्रहस्थ इनका पूर्ण रूपेण त्याग नहीं कर सकता क्योंकि वह घर में रहता है उसको स्वयं भोजन बनाना पड़ता है। इन पांच पापों का वह सर्वथा त्याग कैसे करे। धन कमाने की तृष्णा जिस मनुष्य के हृदय में जाग गई है। अन्याय करके यथा तथा असत्य बोल करके किसी को छल करके कमाई करने की धुन जिसकी बन गई है, इस कमाई से वह कुछ नहीं कर सकता है। वह यह नही जानता कि इन समस्त पर द्रव्यों में मेरा क्या रखा है। यह धन वैभव तो जिसके भोग उपभोग में आवेगा उनके हृदय से इस वैभव का आय होरहा है। अथवा स्वयं पूर्व काल में जो विशुद्ध परिणाम किये थे उस समय जो पुण्यकर्म का बन्ध हुआ था उसके उदय के फल में यह स्वयं मिल गया है। धन को हाथ पैर नहीं कमाता है। यह पूर्वकृत पुण्य का फल है। पूर्वकृत पुण्य कैसा बंधा था। वह धर्म के परिणाम में था, उस समय के मंदराग से पुण्य बंधा था। भैया शान्ति तो धर्म में रहती है। अगर कोई धर्म कर रहा है तो यह तो समझो की बड़ी कमाई कर रहा है। शांति धैर्य, पुण्य, दया आदि परिणाम हो तो वहां साता सामग्री मिलती हैं। इस कारण हर एक स्थिति में धर्म को न छोड़ो। दुख की स्थिति में और सुख की स्थिति में भी धर्म को न छोड़ो। धर्म का परित्याग करने मे आत्मा को अशांति ही मिलती है और उसका ऐहिक और पारलौकिक जीवन विगड़ जाता है।

वि पापनिवृत्ति ही विश्वशान्ति का उपाय :—भैया लोक में इन व्रतों की वजह से शांति रह सकती है। यदि समस्त जन समुदाय अहिंसा का पालन

कर रहा, झूठ से दूर है वृत्ति में चोरी नहीं है—किसी स्त्री पर बुरी निगाह नहीं—परिग्रह का भूत सवार नहीं ये पांच बातें व्यक्तिगत मनुष्य जीवन के लिये हित करहे श्रौर सारे विश्व में शांति रहती है—समाज में शांति रहती है किसी को कोई भी शंका नहीं होगी एक राजा को सेना रखनी पड़ती है उसका अच्छा प्रवन्ध करना पड़ता है। यह झंझट क्यों ? यदि समस्त राष्ट्र संकल्प करलें अहिंसा का तो सैन्यव्यवस्था का बड़ा बोझ दूर हो जाय श्रौर युद्ध में जो हजारों पुरुष मर जाते हैं उनका भी प्राण बचे। जरा गहरी दृष्टि से विचार करो। इस परिग्रह पिशाच के लिये, जो कि मेरा कुछ नहीं है, दूसरों को धोखा दिया, दूसरों पर अन्याय किया तो यह क्या अपने आत्म देव पर अन्याय नहीं है ? यदि सब राष्ट्र के व्यक्ति इन पांच पापों का त्याग कर दे तो घरों में सुख है—स्वयं को सुख है—देश को सुख है श्रौर विश्व को सुख है। खुद को सुखी तो कर ही लेना चाहिए। यह पवित्र वृत्ति हमें सद्मार्ग दिखला देगी। इस वृत्ति से हमारा जीवन सफल होगा।

वर्तमान जीवन की दुर्लभता :—इस संसार चक्र में भ्रमण करते हुए हमने यह दुर्लभ मानव जीवन पाया है। अपनी बात को हम दूसरों को बता सकते हैं दूसरों की बात को हम समझ सकते है। पृथ्वी जल आग कीड़े मकोड़े पशु पक्षी का जीवन तो देख ही रहे हो हमने इस पशु पक्षियों की भांति अपना समय विषयों में व्यतीत कर डाला तो क्या फिर इस दुर्लभ मानव जीवन को, श्रेष्ठ धर्म को पा सकते हैं। भैया, संकल्प कर लो पापों का त्याग करके व्रत संयम आत्म-दृष्टि पूर्वक रहकर अपने अमूल्य समय का सदुपयोग करो श्रौर अपनी ही कला से खुद सुखी होओ। इस असार संसार में किसी को कोई शरण नहीं है। खुद का परिणाम न सही है तो खुद को खुद शरण बन सकता है। आत्महित के अभिलाषी प्रत्येक जीव का कर्तव्य है कि ज्ञान में रहे श्रौर दोष को छोड़े, क्योंकि जीव को न तो विषय में सुख है श्रौर न किसी इन्द्रिय को आराम में सुख है तो एक सच्चे ज्ञान के उपयोग में है। हमारा ज्ञान सही रहे इसके लिए यह जरूरी है कि हम अपने न्याय नीति को न छोड़े क्योंकि हमने न्यायनीति को छोड़ दिया तो हम इन्द्रिय व मनको कन्ट्रोल में नहीं रख सकते, श्रौर तब ज्ञान बिगड़ जायगा इसलिए आचरण सबसे प्रधान वस्तु है। कहते है कविजन कि धन नष्ट हो जाय तो कुछ नष्ट नहीं हुआ श्रौर स्वास्थ्य नष्ट हो गया तो फिर कुछ नष्ट हो गया लेकिन आचरण नष्ट हो गया तो सब कुछ नष्ट

हो गया। अतः अपने आचरण को सम्भाल कर रखना चाहिए ।

अब तो अपनी सुध लो :—घर में दो चार जीव आ गए हैं ये ही तुम्हारे ही सर्वस्व है। क्या जितने और भी जीव हैं—जैसे वे जुदे हैं तैसे ये पुत्र-स्त्री-भैया किसी का भी तुमसे सम्बन्ध नहीं है तुम्हारी आत्मा से सब अलग हैं-वे सब जन केवल आप परिणामन करते हैं । हम अपने परिणामन के सिवाय और कुछ नहीं कर सकते फिर इन दो चार जीवों को अपना मानकर उनके शृङ्गार बढाने के लिये जो अन्याय करना, छल करना झूँठ, बोलना है, हिंसा करना है इन सबका फल कौन भोगेगा ? इसका फल घर वाले नहीं भोगेगे ये तो तुम्हारे सत्व से न्यारे हैं । अपने परिणामों का फल अपने कों खुद कों भोगना पड़ेगा अपनी आत्मा का साही केवल अपनी आत्मा को समझो कोई दूसरा साथी नहीं है। जिन भगवान् की हम पूजा करते हैं ये भी हमारा हाथ पकड़ कर तान नहीं देंगे । ये तो संकल ज्ञेय ज्ञायक तदपि निजानन्द रस लीन हैं। ये भगवान तो समस्त विश्व को जानते हैं मगर अपने आनन्द, रस में लीन हैं । इन्हें हमारी फिकर नहीं चाहे हम कितनी ही पूजा करे फिर भी इस जीव की इन्हें फिकर न होगी। वे तो अनंत, आनन्द में रहते हैं।

पूजाका उद्देश्य :—फिर प्रश्न होगा कि हम पूजा क्यों करते हैं। पूजा इसलिए की जाती है कि हम भगवान के ज्ञानकास्मरण करें और उनके ज्ञानको देखकर हम अपने महत्त्व को समझें। प्रभो तुम जैसे ज्ञान, दर्शन आनंद शांतिसे परिपूर्ण हो वही मेरा स्वरूप है। हममें और आपमें मोह व निर्मोहताका अन्तर है एक रागद्वेषका पर्दा न हो तो हे प्रभु ! तुम और मुझमें कोई अन्तर नहीं है। भक्ति करनेसे कहीं भगवान प्रसन्न नहीं हो पायेंगे। यदि भगवान प्रसन्न होने लगें तो जैसे संसारी जीव रागीद्वेषी इसी तरह भगवान रागी हो गया तब हममें और उनमें अन्तर क्या रहा भगवान तो निर्लेप हैं। उनकेऐसी स्वच्छता है कि ज्ञान, बलसे समस्त विश्वको जानता है पर अणु मात्र उनमें राग नहीं यदि कोई पुरुष कितना ही बड़ा हो उसकी पूजा क्यों नहीं करते हालांकि उस पुरुषसे अगर कुछ हम मांगे तो मिल ही जायेंगा और भगवान से मांगे तो उससे कुछ नहीं मिलता है। फिर भी हम भगवान की पूजा करते हैं और धनियोंकी पूजा नहीं करते, इसका क्या कारण है । इसका कारण यह है कि जिन्होंने संसारके समस्त संकट नष्ट कर दिए हैं उनकी भक्तिके प्रसाद से हमें भी मार्ग मिलता है कि हम इन संकटोंसे सदाके लिए छूट जायेंगे। हमको बड़ा वैभव भगवान

की भक्तिमें मिलता है।

बाह्य वैभवकी असारता :—धन मिला तो क्या मिला धनसे दुख ही दिखाई देता है। लोग भले ही समझें कि सेठजी के अपना विशाल घर है, अनेक नौकर हैं, बड़े सुखी होंगे किन्तु भीतर सेठ जानता है जिन संकटोंसे वह रात दिन परेशान हैं गवर्नमेंटका बोझसे रात दिन चिंतित हैं कि हमारा धन बढ नहीं रहा और इस इस तरहसे निकला रहा है केवल इस चिन्तामें वह रमा है और घोर दुखी है। भैया यह मनुष्य जन्म पाया उत्तम कुल पाया, श्रेष्ठ धर्म पाया। यदि ऐसे आराम, भोगमें ही बिता दिया तो क्या गति होगी। यह समागम सर्व सामग्री क्षणिक है। हम क्या हमेशा यहीं रहेंगे। इस आत्मा की इस भवके बाद क्या गति होगी। इसकी भी तो कुछ चिंता करें केवल पाये हुए समागममें मौजमें भोगोंमें इस जीवनको व्यतीत कर डालातो बड़ी भूलकी बात है। जो समागम मिला है उसे पाकरहर्षमें न फूलें क्योंकि यह मिट जाने वाली चीज है। विनाशीक वस्तुके आश्रयसे सिद्धि नहीं होगी। हमारा ज्ञान तो अपने स्वयंका ज्ञान है स्वच्छ है, अविनाशी है इस धर्मका आश्रय करें, तो अपने शुद्ध ज्ञान, आचरणोंमें प्रगति करते जावेंगे। किसी बाह्य वस्तुको शरण न मानो। यह संसार दुःखमय है। यहां कुछभी हितरूप नहीं है।

देखो भैया जैन शासनका शरण लिया है तो अपने लिए कोई संकट नहीं। उस अपने ज्ञानके अनुभवसे तृप्ति मिला करेगी। एक राजा था उसने दूसरे राजा पर चढ़ाईकी और वह दूसरा राजा हार गया और उस राजाके वंशके लोग भी मर गए बेड़ा ऊजड़ गांव हो गया। इसके बाद चढ़ाई करने वाले राजाने सोचा कि मुझे इस राज्यका क्या करना है। इसे इस राजाके ही वंशीके तिलकर कदूं। वह उसके वंशका आदमी ढूंढ़ने लगा तो उस समय कोई जीवित न मिला और मालूम हुआ उसका एक चचा एक मसानमें रह रहा है वही एक शेष बचा है। वह मसानमें चचाके पास गया और कहने लगा कि जो तुमको चाहिए वह मुझसे मांग लो मैं वही देनेकों तैयार हूं। क्योंकि उसे गर्व था। कुछ सोचकर मसनावासी चाचाने कहा कि आप मुझे ऐसा सुख दो जिसके बाद कभी दुख न आए। राजा बोला यह तो मैं नहीं कर सकता तब चचाने कहा कि हमको ऐसी जवानी दो जिसके बाद कभी बुढ़ापा नहीं आए लेकिन राजाने इसके लिएभी विवशता दिखाई। फिरउसने कहाकि मुझे ऐसा जीवन दो जिसके बाद मरण नहीं आए। अब राजा हाथ जोड़कर विनय करने लगा कि आप साधु महाराज हैं मैं आपके लिये किसी

लायक नहीं हूं यह कहकर राजा उसे नमस्कार कर चल दिया।

पर चिन्ताका कारण भ्रम :—देखो भैया, जीवोंको कैसा भ्रम लगा हुआ है जिससे इस संसारमें सब रात दिन चिंतामें जीवन खो रहे हैं। किसी समय भी अपनी दया का ध्यान नहीं कर रहे। घरमें जितने जीव बस रहे हैं जैसे हमारे साथ पुण्य पाप लग रहा है। घरमें के लोगोंके साथमें भी तो पुण्य पाप है। उनका पुण्य उदयमें होगा तो थोड़े श्रममें ही कमाई बन जायेगी। यह लक्ष्मी जिन जिनके काम आयेगी उनके पुण्यसे मिला करती है सो यथार्थता जानकर परचिंता छोड़ो व अपना मुख्य काम है अपने ज्ञान का, धर्मका आश्रय लेना, और इस निश्चय धर्मकी सिद्धिके लिये संयम लेना व्रत लेना सो इन कार्योंमें उपयोग दो। कदाचित संयम और व्रतमें कोई शारीरिक दोप होजाय, उस छेदमें हमारा उपयोग नहीं लगा है किन्तु शरीरका दोप लग गया है तो उसकी शुद्धि दोष प्रकट करनेसे हो जाती है। यदि वह दोष अपने उपयोगसे होता है, अपनेविचारसे होता है, समझकर होता है तो जैसे जिनेन्द्रदेवके आगममें प्रायश्चित्त बताया है उसके विशद जानने वाले आचार्य महाराज जो दण्ड बतलायें वह दण्ड पालनेसे शुद्धि होगी। कर्मोंका बन्धन विकल्पसे हुआ करता है। इसमें यह बहाना नहीं ढूढ़ो कि हमारे विचार शुद्ध हैं शरीरसे दोप होता है तो होने दो। पाप कर्म किया जाय, वहां विकल्प तो मूलमें उठा ही है। अतः शारीरिक पापोंसे अपने को बचाइये। मनसे पवित्र रखिये, अपने उपयोग पूर्वक शुद्ध आचरणको रखना यही मनकी पवित्रता है।

शान्ति मार्ग श्रामण्य :—भैया करने के योग्य कर्तव्य एक ही है वह है समता परिणाम। समता परिणाम का अर्थ श्रामण्य है। मुनि कहो या समता भाव कहो एक बात है। जिनके समता भाव नहीं है वे श्रमण नहीं है। इस समता परिणाम को रखने के लिए समता के बाधक कारणों को दूर करना चाहिए। समता के बाधक हैं परिग्रह बाह्य। परिग्रह का पर द्रव्य का सम्बन्ध दोप का घर है। निश्चय से जीवका विकार ही विकास बाधक है। यह जीव एकाकी है। स्वयं ज्ञान आनन्द का निधान है। इसका कल्याण इसके पास है। स्वयं कल्याण स्वरूप है; किन्तु इस अपने स्वरूप को भूलकर बाह्य में स्वहित ढूंढ़ने लगा है। विकार का आश्रय भूत कारण परि ग्रह का सम्बन्ध है। ज्ञानी भी अपने परिग्रह वैभव और परिवार से उदासीन रहता है। ज्ञानी संत के यह ज्ञान विशद, हो गया कि जैसे जगत में और जीव हैं तैसे ही घर में बसने वाले ये हैं, अन्तर कुछ

नहीं है। वह भी भिन्न है और यह भी भिन्न है। वह भी चैतन्य है और यह भी चैतन्य है। उनका सत्त्व उसमें है और इनका सत्त्व इनमें है, सब एक समान हैं। यह कुछ मेरा है ही नहीं। मेरा तो मात्र मैं हूं। ऐसा ज्ञान ज्ञानी ग्रहस्थ के अन्दर भरा हुआ है। इस कारण यह ज्ञानी भी परिग्रह और परिवार से उदासीन रहता है। श्रमण की बातें तो देखो साधू के पास जो कुछ पीछी कमण्डल, पुस्तक आदि आवश्यक सामान है। साधू उनमें भी उदासीन रहता हैं और ग्रहस्थ के पास बड़ा घर, दुकान, परिवार, मित्र, रिश्तेदार आदि वैभव है वह उससे उदासीन रहता है। इस उदासीनता की परख करो यदि वास्तव में उदासीनता है तो हम अपने जीवन को सफल बना रहे हैं। यदि उदासीनता नहीं है, विषयोंकी आशक्ति है तो जीवन निष्फल है। जैसे कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षी आदि अपना जीवन विताते हैं इसी प्रकार मनुष्य कीट रूप में यह मनुष्य जीवन समझ लीजिये।

परिग्रह वेदना का आयतन :—सो भैया, अपने अन्तर में परख करो कि मेरे पर द्रव्य से उदासीनता है या नहीं। हमारा तुम्हारा किसी का पर द्रव्य के साथ कोई नाता नहीं, खुद ही अपने स्वरूप का विस्मरण कर वाह्य की ओर झुकाव करता है और उसमें चैन मानता है। पर द्रव्य का सम्वन्ध दोष का आयतन है। एक लौकिक किंवदन्ती में कहा गया है कि एक वार गुड़ भगवान के पास आकर वोला कि भगवान मेरी प्रार्थना सुनो मुझको प्रारम्भ से अन्त तक दुःख ही दुःख है। जब मैं खेतों में था तो लोगों ने तोड़ तोड़ कर खाया और वहां से भी वचा तो लोगों ने पेल पेल कर पिया। वहां से वचा तव कढ़ाई में तपा तपा कर घोंटा और गुड़ वनाकर खाया। जव गुड़ भी वच रहा तो तम्वाकू में कूट-कूट कर खाया पिया गया। हे भगवान मेरा न्याय कीजिए। और भैया, जैसा ही गुड़ है वैसे ही भगवान होंगे। भगवान ने कहा कि तुम इसी समय भाग जाओ; क्योंकि तुम्हारी कहानी सुनकर हमारे मुंह में पानी आ गया है इसलिए इसी में ही कुशलता है कि तुम भाग जाओ। पर द्रव्य के सम्वन्ध की वात कही जा रही है। यह तो दोष का आयतन है।

अपने स्वरूपकी उपासना :—हम आप सर्व ईश्वर स्वरूप हैं। कौन सी कमी है। सव सुखी हैं। अपने स्वरूपको निहार लें, यह मैं ज्ञान मात्र हूं। जानन और आनंद भाव स्वरूप हूं। इसमें ऐसी कोई कला नहीं है कि किसी परद्रव्य का कुछ परिणमन कर दे। ऐसी इसमें ताकत नहीं है यह तो केवल अपने ज्ञान और आनंदमें परिणमता रहता है। अपराधीका सद्भाव

है।तो विकास है। अपराधीका वियोग हुआ तो अविकार स्वरूप परमात्मा है ।पर सदा यह अपने ही गुणोंमें परिणमन करता है। तो हमारा भी यह कार्य है कि विवेक करके परिग्रह परद्रव्यकी उपेक्षा करें और परद्रव्यसे सम्बन्धके विकल्पोंको तोड़कर शुद्ध ज्ञान स्वरूपका ज्ञान करें। ऐसी शुद्धस्थिति में स्थित पुरुषको उस क्षण ऐसा अलौकिक आनंद होता है कि उस आनंदके प्रतापसे असंख्य भवके बांधे हुए कर्मोकी निर्जरा हो जाती है।

पर द्रव्योंसे निवृत्तिकी प्रेरणा :—भैया अपना लाभ विषयोंमें न मानो उनसे हानि ही हानि होती है। समस्त पर द्रव्योंसे अलग अपने स्वरूपमें ज्ञान स्वरूपके दर्शन करो। अपनेको ज्ञानमय देखो। आत्मदर्शनकी शुद्धिके लिए यह परद्रव्योंका सम्बन्ध प्रतिपेध्य है यह परद्रव्य संयम, व्रत, श्रामण्यके भंग करनेका कारणभूत है इसलिए यह परद्रव्य दूर करने योग्य है।इसलिए इस तथ्यको श्री कुन्द कुन्द प्रभु कह रहे हैं चाहे अधिवासमें हो, किसी जगह बस रहा हो नियत निवासमें हो, अनियत निवासमें हो किसी विशिष्ट गुरुके समीप निवासमें हो, कहीं हो श्रमणको छेदविहीन होकर निर्दोष व्रत रखकर श्रामण्यमें उपयोगी होकर रहना चाहिए। चिंता भी परद्रव्यके संबंधसे जुटी हुई है। वे परिग्रह आत्मद्रव्य भूमिको चित्रित करते है। इस कारण परद्रव्य श्रामण्यके दोषका आयतन है, श्रामण्यमें याने किसीमें रागद्वेष आदि उपयोग को न रहनेकी स्थितिमें समता में वाधक हैं इसलिए इन सबका प्रतिषेध करना चाहिए।

एकाकित्वका दर्शन :—भैया अपने कल्याणार्थ आपको अकिंचन निज चैतन्य स्वरूप सत्तामात्र निहारना चाहिये। ग्रहस्थजन भी अपने ज्ञानमें अपनी श्रद्धामें अपने को अकेला निहारे। कभी कभी बाल बच्चोंकी दृष्टि धन वैभवकी ओर का बिकल्प त्याग दें। थोड़ी देर वाद सब देख लेना। प्रभुका दर्शन वहां होता है जहां विकल्प रंच नहीं। भैया! आप अपना ही विकल्प करते।हो और आपको उनका करना भी कुछ नही बल्कि परिवारजनों के पुण्यका फल है जो कि आप (पिता, माता) को चाकरी करनी पड़ती है। एक पिता एक वर्षके पुत्रको खिलाता रहता है उसके मनको प्रसन्न करनेके लिए बड़ी चिन्ता व कोशिश करता है। वहउस वच्चेके मुंहकी ओर यह देखता है कि यह ॱसे, यह सुखी रहे। जो इतनी दृष्टि पुत्रकी ओर जा रही है, इस प्रसंगमें यह बतलाना है कि आपसे पुत्रका पुण्य उदय विशेष है, पुण्य रहितजन पुण्यवालोंकी सेवा किया करते हैं। पुत्र पुण्यहीन पितासे अपनी चाकरी करवाता है। साथ ही पिताके यह अज्ञान लगा

हुआ है कि मैं बच्चे को पालता हूं, उसकी रक्षा करता हूं। आप यह समझिए कि गृहकी चिन्ता करना व्यर्थ है । उनका जैसा पुण्य होगा वैसे ही आपके निमित्तसे होगा।

न्याय वृत्तिका परिणाम :—हम अन्याय, छल, झूठ बोलकर, चिताए करके आपने आपको क्यों कलुषित बनायें। सम्पदालाभ तो, उनके उदयका फल है जिन जिनके उपभोगमे यह संपदा आवेगी। लोगोंको यह भ्रम है कि हम झूठ बोल कर छलकरके हजार रुपया पैदा कर लेते हैं यह तो पता नहीं कि जितना आना है उतना तो आता ही है बल्कि जो अधिक आना था अन्याय वृत्तिके कारण उसमे कमी हो जाती है। उसका कारण यह है कि अन्याय वृत्तिसे तत्काल पुण्यका अनुभाग क्षीण हो जाता है और पापकी उदीरणा हो जाती है। तब उसमें कमी हो जाती है। पार अज्ञान जो साथ लगा हुआ है वह हमारी बुद्धि सही नहीं बनने देती। देखो भैया रोजगार चल रहा है जिनका भी खूब, क्यों चल रहा है ? इस कारण चल रहा है कि लोग जानते हैं कि यह व्यापारी सत्य है। जब तक सच्चाईका प्रभाव दूसरोंमें नहीं पड़ता, व्यापार नहीं चलता। व्यापारी चाहे झूठा है मायाचारी है, परन्तु ग्राहक सत्य समझे तो व्यापार चलेगा और जब ग्राहकको यह पता चल जाय कि यह व्यापारी झूंठा और मायाचारी है तो उसको ओर कोई झूंकता भी नहीं।

द्रव्य तो पुण्यका अनुसारी है। पुण्य है तो कहते है कि द्रव्य छप्पर फाड़कर भी आजाता है। एक सेठके एक नौकर रहता था वह एक दोहा बोला करता था कि 'होंगे दयाल तो देंगे बुलाके, लेने कौन जायेगा देंगे खुद आके' यह दोहा बोलाकरता था एक बार ३-४ चोरोंने उस सेठकी हवेलीमें ओंड़ा किया। वह कमरा सुयोगसे उसी नौकरके रहनेका स्थान था। वहां से आवाज आई कि यहां ओंड़ा खोदने आए हैं। उस तालाबके किनारे बड़े वृक्षके नीचे अशर्फियोंका हण्डा गढ़ा है क्यों नहीं खोद लेते। चोर तालाब के पास आये और तालावके किनारे बड़े वृक्षोंके नीचे खोदा तो हण्डी मिली और जब तवाको खोला तो ततैयाँ निकली और एक दो चोरोंको काट लिया। तब चोरोंने सोचा कि यह तो उस नौकरने हमारे साथमें बड़ा बुरा किया है और इस सारे हण्डेको उसके ही घरमें डालेंगे। जब चोर तवासे बंदकर उस हण्डा को लेकर नौकरके कमरेमें आए और हण्डाको एक खिड़कीमें से ढकेल दिया। उस हण्डामें से अशर्फियां निकल पड़ी तो वह नौकर बोला

कि 'होंगे दयाल तो देंगे बुलाके। कौन जायगा लेने देंगे खुद आके।'

जड़ की प्रीति असार :—भैया वैभव पुद्गल ही तो है। उसमें नहीं तो ज्ञान है, न आनन्द है। जब ज्ञान और आनन्द का पर में अभाव है तो इस कारण ज्ञानी संत के पास जो कुछ भी समागम है उसके प्रति वह उदास रहता है। साधू के पास दो तीन चीजें है वह उनसे भी उदास रहता है। ग्रहस्थ के पास सैकड़ों वस्तुऐं है वह उनसे उदास रहता है। अन्तर यह पड़ गया कि साधू के पास अन्य कुछ नहीं है इस कारण उसका ज्ञान अनुभव की स्थिति को क्षण क्षण में किया करता है और बड़ी देर तक अनुभूति टिकती है। ग्रहस्थ को चूंकि पर द्रव्य का सम्बन्ध विशेष लगा है सो श्रद्धा में उदासींन रहकर भी उपयोग में कुछ चित्रण होता है। इस कारण वह क्षण-क्षण में ज्ञानानुभव करने के योग्य नही। वह अपने श्रामण्य को नही प्राप्त करता। फिर भी सत्य श्रद्धा होने के कारण अन्तर में विह्वलता नही है। सत्य ज्ञान अवश्य होना चाहिए। अन्यथा शांति और सन्तोष नहीं मिल सकता।

सुख व दुख ज्ञान कला पर निर्भर :—सुख और दुख होना यह ज्ञान की कला में नियन्त्रित है। आपका झूंठ ही ज्ञान हो गया कि अमुक शहर की मेरी दुकान पर हजारों का टोटा फैल गया। तो आप दुखी हो जायेंगे। चाहे वहां हजारों का लाभ भी हुआ हो। आपकी कल्पना उस ससय सुखी करती है जब यह खबर आगई कि इस माह में २०,००० रु० का मुनाफा हो गया है। इस धन ने सुखी नही कर दिया। आपको इस ज्ञान ने सुखी कर दिया और एक साधू संत सर्व परिद्रव्यों के विकल्पों से हटकर वह ज्ञान स्वरूप निज प्रकाश का अनुभव करता है। ऐसा ज्ञान बनाता है कि यह ज्ञान सामान्य के विषय करके स्वयं सामान्य जानन बन जाय। ऐसा उपयोग करता है तो वह साधू को एक अलौकिक विलक्षण में आनन्द व ज्ञान प्रकाशमय होता है। इस ज्ञान को ज्ञानसे ही करता है। वह ज्ञानको ही भोगता है। ज्ञान को ही करता है। यह ज्ञान ज्योति स्वरूप का ज्ञान होने से इस जीव को एक विलक्षण आनन्द मिलता रहता है। इसकी प्रभुता के दर्शन पाने चले तो हम यथा शक्ति पर द्रव्यों के सम्बन्धों को त्यागें। यह श्रमण अपने ज्ञान पर ही अधिकार समझता है और अपने आप में बताया करता है और अज्ञानी जन दूसरे पदार्थो पर अपना अधिकार जानताहै। और वाह्य की ओर दृष्टि लगाता है जिससे ज्ञान निम्न दिशा में रहता है उससे वह जीव व्याकुल रहता है। शांति चाहिए तो पदार्थों के साथ स्वभाव

का उपयोग करना ही होगा ।

आनन्द का बाधक परिग्रह :—भैया परिग्रह के स्नेह से आनन्द नहीं मिलेगा। यह सब क्षणिक है। यह चाहनेवाला भी क्षणिक है। किस भव से आया है, किस अज्ञात भव में जायगा। इस जीव ने व्यर्थ ही ४-५ जीव की ऐसी छटनी करली है कि ये अपने हैं और बाकी जीव पराये हैं। ज्ञानी ऐसी छटनी नहीं करता। ज्ञानी ग्रहस्थ भी श्रद्धा ऐसी हो क्योंकि वह जानता है कि यह अपने स्वरूप मात्र है; अपने किए को भोगता है। जैसे कैदी को चक्की पीसना पड़ती है पर श्रद्धा में कैदी का अपना काम चक्की पीसना नहीं है। इसी तरह एक को घर का राग करना पड़ता है पर अपना परमार्थ कर्तव्य जानकर अपना स्वरूप जानकर, इसमें अपना महत्त्व जानकर नहीं करता है। उसकी धुनि है एक श्रद्धा है अपने स्वरूप की। उसकी ओर अन्तर श्रद्धा से लगा हुआ है। ऐसा यह संत अपने आपकी रुचि करता है। अपने आप में ज्ञान करता है और अपने आपमें रमण करने का यत्न करता है।

स्वातन्त्र्य दृष्टि का फल :—एक किसान और किसानी थे। उनका विवाह हुए १२ वर्ष हुए। किसान किसानी को कभी पीट न सका। उसके मन में यह भाव था कि मैं इसको किसी प्रकार पीट डालूं मगर किसान चतुर थी। वह अपराध नहीं करती थी। एक दिन किसान ने खेत में जाकर के एक बैल का मुँह पूर्व को और एक बैल का मुंह पश्चिम को किया और उनके ऊपर जुआ रख दिया और हल फंसा दिया। सोचा कि इस पर तो किसानी कुछ तो कहेगी तभी हम उसको पीट देंगे। उधर किसानी का काम रोटी देने का था। वह रोज की तरह रोटी लेकर आई और देख कर समझ गई कि इसने कोई षड्यंत्र रचा है। रोटी रखकर कहने लगी चाहें औंधा जोतो चाहे सीधा जोतो हमारा काम तो रोटी देने का था। रोटी रखकर घर चली गई किसान ताकता रह गया कि आज का मौका भी बेकार गया। इसी प्रकार ज्ञानी तो सर्व वस्तुओं को स्वतन्त्र स्वतन्त्र निहारता है। पर द्रव्य का सम्बन्ध मेरे अनर्थ का ही आश्रय हो सकता है। सर्व की सत्ता न्यारी न्यारी है। जिसकी जो परिणति है वह उसके गुण के परिणमन से होती है। दूसरों से दूसरों का परिणमन नहीं हो सकता है। इन सब बातों को परख कर अपनी आत्मा की रुचि में आत्मा के ज्ञान में और आत्मा के रमण में वृत्ति रखनी चाहिए।

समता और तामस :—जीव के भाव दो प्रकार के हैं या तो होगा

समता का भाव या होगा तामस का भाव। राग द्वेष रहित भाव को समता का भाव कहते हैं। राग द्वेष की वृत्ति में मिले हुए भाव को तामस भाव कहते हैं। इसे ज्ञान की ओर से देखें, श्रद्धा की ओर से देखें तो यह एक अपने ढंग की सीमा में चलता है। यह या तो बर्हिमुखी और या अन्तर मुखी दृष्टि करता है। करता है अपने गुण का काम वाह्य पदार्थों में हित मानना, अपना सम्बन्ध समझना वाह्य पदार्थों के कारण अपना बड़प्पन समझना ये सब वर्हमुखी दृष्टि के फल हैं। यह परद्रव्य का प्रतिबन्ध होना समता के विनाश का घर होता है। यद्यपि समता आत्मा का स्वाभाविक परिणमन है। किन्तु जो उपयोगपरद्रव्य मे लग रहा है उस उपयोग में समता आजाय यह कठिन बात है; क्योंकि निज आत्मा द्रव्य का प्रतिवन्ध अर्थात् अपने कारण परमात्मा स्वरूप में दृष्ठि शुद्ध सहज, अपने आपमें अस्तित्व के ही अनादि, कारण वर्तने वाले, अनादि, अनंत, अंतः प्रकाशमान ज्ञायक स्वरूप की दृष्टि समता परिणाम का सहायक है।

आनन्दकी ही अभीष्टता :—जीव को क्या चाहिए ? आनन्द। एक आनंद जिस प्रकार मिले तैसा काम करने का उद्देश्य रखिये। आनंद नाम का आत्मा में एक अनादि अनंत अहेतुक गुण है। जिस आनंद ग ुण की इसमे परिणतियां होती हैं वह तीन सुख है दुख और आनंन्द। सुख अर्थात् खा माने इन्द्रिवों को जो सु माने सुहावना लगे। जो इन्द्रियों को सुहावना लगे वह तो सुख है और दुख खा इन्द्रियों दुः असुहावना लगे उसका नाम दुख है। यह सुख दुःख आनंद गुण के विकार परिणमन हें। जव हम अपने आनंद स्वरूप को नजर में नहीं लेते हैं और भ्रम में आकर परद्रव्य से सुख मानने की बुद्धि बनाते हैं तो पर तो पर ही है। कोई पर पदार्थ अपने ख्याल के अनुकूल परिणम जाय ऐसा तो सम्बन्ध नहीं है। सर्व भिन्न भिन्न अस्तित्व में है। सर्व वैभव बिल्कुल ऐसा ही है जैसा कि और के घर में रखा हुआ धन अपने से अत्यन्त जुदा है वैसे ही आपके घर की तिजोरी में रखा हुआ धन भी आपसे अत्यन्त भिन्न हैं। दूसरे के घर में रखे हुए धन से आपको कोई लाभ नहीं है इसी प्रकार आपके लोक व्यवस्था में अधिकृत धन से भी आपकी आत्मा को कोई लाभ नहीं होता है।

आत्मा अनात्मा का भेद :—यह मैं आत्मा केवल ज्ञान प्रकाश अमूर्ति एक सत् हूं। अपने स्वरूप में तन्मय एक चेतन वस्तु हूं। यह अपने आपको अपने में अपनी कल्पनाओं को बनाकर विकल्प बनाता रहता है। यह

आत्मा संसार अवस्था में विकल्पों के अतिरिक्त अन्य कुछ कार्य नहीं करता। मुक्त अवस्था में शुद्ध विकास रूप परिणमता रहता है। अन्य का काम कोई कर ही नही सकता, क्योंकि पदार्थों का स्वरूप ही ऐसा है कि कोई भी पदार्थ अपने प्रदेशों से बाहर अपने गुणो से बाहर अन्यत्र परिणम ही नहीं सकता। दुनिया में ये पदार्थ जो दिखते हैं, वे यह सिद्ध करते है कि किसी पदार्थ का कोई अन्य पदार्थ कुछ परिणमन नही करता यदि कोई किसी का परिणमन करता तो यहां संसार शून्य हो जाता। ये पदार्थ जो दृष्टिगोचर हो रहे हैं। ये सब परस्पर अत्यन्त जुदे है। कोई भी पर-द्रव्य हमारी आत्मा मे हित या अहित नहीं कर सकता किन्तु स्वयं को ही खुद भूलकर परद्रव्य की ओर झुक जाने लगे तो दुख होना प्राकृतिक बात है। क्योंकि मैंने अपने परिणमन को बहुमुखी दृष्टि द्वारा बनाया। बहुमुखी दृष्टि के परिणमन में दुख होना प्राकृतिक बात है।

समता का आधार:—भैया यदि समता परिणमन चाहो तो अनादि, अनंत अहेतु निर्विकार शुद्ध ज्ञान स्वभाव आदि की दृष्टि करो। यहां ज्ञान स्वभाव की बात कही जा रही है। अपने आपके अस्तित्व के कारण, अपने ही द्रव्यत्व वस्तुत्व के कारण जो मुझ में तत्त्व हो सकता है उसका विश्वास करो। हम उपाधी के सम्बन्ध से होने वाले विकारों में क्यों रमते हैं। यह विकार तो मेरा विनाश करने के लिए उठा है मेरा हित करने के लिए नही। निज परमात्मा की दृष्टि समता का परिपूर्ण आयतन है। यदि हम समता में रत होना चाहते है तो अपने आपके इस कारण परमात्म द्रव्य में रुचि करो। इसके कारण समयस्तर के आश्रय से ही समता परिणमन बनेगा किसी भी परद्रव्य में दृष्टि देने से समता परिणमन नहीं बन सकेगा। भैया, प्रथम तो यह बताओ कि हमें परद्रव्यों की ओर जाने की उमंग क्यों उठी। राग द्वेष अशांति इत्यादि विकृति उत्पन्न हुई है इसी से अथवा ये तरंगे है। तब समता वहा कैसे आवेगी। स्व-द्रव्य में ही अपना निवास हो तो श्रामण्य बन सकता है।

अब श्री कुंदकुंद आचार्य महाराज यहां यह बताते है कि निज कारण परमात्म द्रव्य में ही अपना प्रतिबन्ध करो।

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्हि दंसण मुहम्मि।
पयदो मूल गुणेसु य जो सो पडिपुण्ण सामण्णो॥ २१४॥

जो श्रमण दर्शन है मुख्य जिनमें ऐसे ज्ञानादिक गुण में निबद्ध रहता है अर्थात अपने स्वरूपमात्र अपने को निरख कर भी अपने में उपयोगी

वना रहता है वह शुद्ध ज्ञान स्वरूप के दर्शन में पूर्ण सावधान होता हुआ समता का पुंज होता है।

साधु का मूल गुण परमार्थतः एक :—साधू का मूल गुण एक है वह है शुद्ध समता भाव। समता भाव में साधू नहीं रह सकता है तो साधू की प्रवृत्ति किस प्रकार है जिस प्रकार कि प्रवृत्ति से इसके उस मूल गुण में विरोध नहीं हो ऐसी प्रवृत्तियों को भी सर्वज्ञदेव के शासन में अट्ठाईस गुणों का वताया है। साधू को परमार्थ से मूल गुण एक है। राग द्वेष रहित हुआ मात्र ज्ञान दृष्टि से रहना इस ही प्रयोजन से साधु व्रत अंगीकार किया जाता है इसमें परम अहिंसा सिद्धि के लिये अपरिग्रह व्रत की मुख्यता है। अगर परिग्रहकी चिंता नहीं रही तो अपने स्वभाव में चिरकाल तक उपयुक्त रह सकेगा। इसलिए परिग्रह छोड़ो। पर परिग्रह इसलिए न छोड़ो कि समाजमे रहकर मौज मार कर अपनी पूजा प्रतिष्ठा देखकर अपने मनको खुश वनाया करें। इसके लिए साधु व्रत नहीं है। साधुके तो समाज प्रसंग को आत्महित की वाधारूप जानकर उनसे अलग रहनेकी अभिलाषा रहा करती है। साधुका व्रत एक ही है। क्या ? श्रामण्य, समतासे परिपूर्ण बना रहे।

साधुका मुख्य गुण :—जो साधु समतासे परिपूर्ण रहता है उसके दर्शन से, उसकी उपासनासे, उसके सतसंगसे भव्य जीव अपने हितकी साधना करता है। यदि कोई साधु श्रामण्यसे चिग जाय, लोक व्यवस्थामें आ जाय तो वह अपने से भी गया और दूसरेके हितका निमित्त वननेसे भी गया। अतः साधुका एक समता ही मुख्य समताकी सिद्धिके लिए परिग्रहका त्यागकिया जाता है चूंकि हम आप सव अनुभव करते है कि लेश मात्र भी परिग्रह रहता है तो उसको सम्भालनेमें, धरनेमें, उठानेमें रखनेमें विकल्प करना पडता है। केवल आत्महितके चाहने वाला ज्ञानी संत को ये विकल्प रुचते नहीं। अपने ज्ञान स्वरूप आत्माके अनुभवसे प्राप्त हुए आनंदसे ऐसी तृप्ति होती है कि उसकी यही अभिलाषा होती है कि ज्ञान दृष्टिमें रहते हुए मेरा सर्व काल व्यतीत हो। ऐसी उच्च आत्म सिद्धि चाहने वाले संत को लौकिक समाजिका व्यवस्थाओंके करनेका विकल्प नहीं होता।

श्रमणके जीवन व मरणमें समता :—श्रमण तो वही है जो जीवन और मरण दोनोंमें समान बुद्धि रखता है। अगर जीवन हुआ तो उसकी आत्मा का क्या हित और मरण हुआ तो उसकी आत्माका क्या अहित ? आत्मा तो एक सद्भूत पदार्थ है। यह मर्मकी वात तव समझ मे आय जव अपने परि-

वार इष्ट मित्रसे राग भाव नहीं है। भैया जीवन और मरण एक वार है वल्कि जीवन तो अहितके लिए है और मरण हितके लिए है। जीवन किसका समाधि जीवन नहीं हुआ और मरण अनंत ज्ञानी संतोंकी समाधि मरण हुआ। जन्म लेनेसे जब किसीका निर्वाण नहीं हुआ, पर मरणसे अनंतोंका निर्वाण हुआ। जन्म लेनेके बाद किसी के कर्मोंसे नाश नही होता पर मरण होने पर अनेक महापुरुषोंके कर्मोका नाश हुआ। अरिहंत भगवानके मरण को पंडित पंडित मरण कहते है। मरण आत्माका हित कर सकने वाला है और जन्म आत्माका अहित करनेके लिए है।

मोहमें अविवेकपना :—पर वस्तुमें जो मोह बुद्धि लगी है उसके कारण यह जीव मरणका स्वागत नहीं कर सकता है, पर यह आत्मा तो स्वतः सिद्ध आत्मा है अगर आत्मा चला तो कहां चला। उस अपने ही में तो चला अपनेमें ही तो रहा, मेरा तो मैं ही हूं, अपनेसे बाहर कहीं नहीं रहा। जितने पर पदार्थ हैं उन सबको मुझमें अत्यंताभाव है। एक वालक पैदा हुआ तो आपका भला करने को लिए नही हुआ, उसकी शक्ति नहीं है कि आपका भला कर सके और आप भी उसका भला नहीं कर पाते। उसके पुण्यका उदय है आपका निमित्त है। उसको सुख सामिग्री मिल जायेगी। आप निमित्त नहीं रहेंगे तो अन्य निमित्त कोई हो जावेगा। हमपर किसीका भार नहीं है ऐसा अपने चित्तमें ध्यान लाओ। जो भी परिवारमें है वे स्वयं पुण्य पाप लिए हुए हैं। उनके पुण्य पाप उनको फल देंगे आप उनके स्वामी नहीं हैं। निमित्त तो आत्माके लिए कर्मका उदय है। इन वाहिरी पदार्थमें हम रागमें आकर इसका आश्रय लेते हैं तो यह आश्रय भूत कारण है।

अन्तःसीमाके उल्लघनका अपराध :—यह घर परिवार, इसके हाथमें कुछ नहीं रखा है। आपका सत्यमें मन नहीं मानता सो उसे उपयोग का विषय बनाकर स्वयंके केवलको स्वयं बंधनमें डाला हैं। आपको वालकने नहीं बांधा है जो कि अब ही पैदा हुआ है क्योंकि उसे तो अभी अपना ही होश नहीं वह आपको क्या बांधेगा। पर स्वयं मोहराग-भाव उत्पन्न करनेमें आप बच्चेसे बंध गये हैं। अपनी गलती देखो। भीतरमें केवल एक ही इसका रास्ता है बाहर की ओर झुकने वाले उपयोग की वृत्तिसे हटकर अपने सहज ज्ञायक स्वभावमें आत्म संतोष करने वाली दृष्टि जो अपनेमें मिलती है। स्वकी ओर झुकनेमें उसका उपयोग करो।

सही एक, गलत अनेक :—एक ही सही बात है एक ही पद्धति है। और वाह्य झुकनेमें जो गलतियां मिलती हैं वे अनेक गलतियां है। जैसा कि

स्कूलके लड़कोंको,कोई गणितका सवाल मास्टर साहवने दिया। लड़कोंने उत्तर लिखकर अपनी अपनी कापी मास्टर साहबके पास रख दी। उन उत्तरोंमें से जो सही उत्तर होगा वह एक ही होगा। और शेष अनेक गलत उत्तर होंगे। किसीका जोड़ गलत है, किसीकी बाकी गलत है। इस बाह्य दृष्टिमें तामस भाव हुए हैं और वे अनेक प्रकारसे हुए हैं। आकुलताके कारण हुए है किन्तु अंतर दृष्टिमें एक ही प्रकारका भाव हुआ है वह समताका परिणमन हुआ है। ज्ञान सुधारस का अनुभव करने वाला परिणमन होता है वह यथार्थ वात है। किन्तु वाहरी दृष्टि में जो आकुलता हैं वे अनेक प्रकारकी हैं। किन्तु मोही गलतियोंमें प्रसन्नता मानता है। जब सर्व जीव स्वतंत्र है तो सब स्वयंके अपने ही परिणमन करेंगे। यदि पुत्रादि आपकी वात मानते हैं तो उनको यह स्वयं दीख गया है कि पिताकी बात मानी जाये तो जीवन सुखी रहेगा। सो वह अपने कषायके कारण अपनी प्रवृत्ति करते हैं और उन्हें देखकर पिता खुश होता है कि ये पुत्र मेरी बात मानते हैं पर वस्तुतः कोई किसीकी बात नहीं मानता है।

व्यामोहमें अर्थका परिवर्तन—एक सेठ पांच लाखका धनी था। उसके चार वेटे थे। एक एक लाख रुपया सबको दे दिया और अपने एक लाखको अपने मकानकी भीतों में जगह जगह चिन दिया। बच्चोंको यह सब मालूम होगया कि पिताने अपने कमरेकी भीतोंमें रुपये रखदिये हैं। जब पिता गुजरने लगे तो गांवके पंच लोग आए और पंचोंने कहा कि यह तुम्हारा आखिरी समय है। तुम अपनी परिग्रहकी तृष्णाको छोड़ो, इस धनको दान करदो। उस समय वह सेठ ऐसा बीमार था कि बोलते नहीं बनता था। कंठमें और जिह्वामें ऐसा अन्तर आगया किन्तु होश अवश्य था तो पंचोंको हाथ हिलाकर उन्हें भीतरकी ओर संकेत करके समझाता हैं कि जोकुछ है इन भीतोमें रखा है। वह सब आपके सुपर्द किया जिस चाहें धर्मके कार्यमें लगा दें, परन्तु पंच समझ नहीं सके तो उन्होंने उसके पुत्रोंको बुलाया कि तुम्हारे पिताजी क्या कह रहे हैं। पुत्रोंको सब कुछ मालूम था किन्तु तृष्णा-वश बोले कि पिताजी यह कह रहे हैं कि जो अपने पास धन था वह भीतोंमें लगा दिया है अब कुछ नहीं बचा है। सेठ सुन रहा है. और दुखी होरहा है, सब दृष्य देख रहा है लेकिन उसके कष्टको कौन बताए। वह चाहता है कि यह सम्पदा धर्ममें खर्च हो पर बच्चे इस प्रकार बहला रहे हैं कि उसमें से एक पाई भी नहीं है। वहही पुत्र जो पिताकी आज्ञाओंका पालन करता था, और उसके मनको सम्भाला करता था, जब यह जान लेता है

कि यह तो आधा घन्टामें मरने ही वाला है। अब पिताका लिहाज ही क्या।

निजपरिणतिपर ही अधिकार :—कोई किसी दूसरे को चाहता है यह सोचना व्यर्थ है कोई किसी दूसरेको चाह ही नहीं सकता ऐसा, वस्तुका स्वभाव ही नहीं है कि कोई द्रव्य किसी दूसरे द्रव्यको कुछ दे सके यद्यपि निमित्त निमित्तक सम्बन्ध है वपदार्थोमें ऐसी ही योग्यता है कि वे किसी अनुकूल निमित्त को पाकर अर्थात् अपने उपयोग का विषय बनाकर विकार रूप परिणमन जाते है ।किन्तु कोई भी निमित्त भूत पदार्थ ।किसी अन्य कों (उपादान को) अपनी शक्ति से नहीं परिणमा देता। भैया निमित्त तो कर्म होता है। और बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कहलाता है। जब सर्व द्रव्य न्यारे न्यारे हैं, सब जीव न्यारे न्यारे हैं तो विश्वके अनंत जीवोंमेंसे क्यो एक घरमें उत्पन्न हुए दो चार जीवोंसे मोह किया जा रहा है जगतके सभी जीव एक समान है। उनमें से कुछ की छटनीका मोह न करो। अन्यथा अपना सम्भालने वाला यह आप भी न हो सकेगा।

सावधानीकी सावधानी :—जैसे बरसातमें कीचड होती है उसमें चलने से पैर फिसलता ही जावेगा इसलिए इस कीचडमें सम्भल कर चलो और पैर रिपट न पाये। इस कौशलसे तो मार्ग निपट जायेगा। इसलिए इस ग्रहस्थ जीवनमे भी आत्माकी सावधानी रखते हुए संभल संभल कर चलो। यह जीवन तो निकल जायेगा और कदाचित थोड़े ही समयके लिए किसी रागमें फंसे तो पता नहीं कि वह राग हमारी किन-किन दुर्गतियों का कारण बनेगा। अतः परद्रव्यमे आत्मीयताकी मान्यता का त्याग रखते हुए हमें जिनेन्द्रदेवके बताए हुए मार्गपर चलना चाहिए।

आत्मविकासका आधार वीतरागभाव :—एक निज आत्म स्वरूपमें ही अपने उपयोगोंको स्थिर करना यही आत्मशुद्धिका उपाय है और इसी उपायसे समताका परिपूर्ण विकास हो सकता है। समता कहो या मार्जित उपयोग कहो, शुद्ध उपयोग कहो एक ही भाव है। किसी पदार्थ में रागद्वेष नही होना यही आत्माका शुद्ध विकास है इसीमें ही साधुताको पूर्ति होती है इस कारण मुमुक्षु संतको ज्ञान दर्शनादिकमें संयत होकर अपने इस मूल ज्ञान गुणमें वड़ा प्रयत्नो रहना चाहिए अर्थात् यह आत्मा जो केवल ज्ञान स्वभाव है, दर्शनस्वभाव है, ज्ञान दर्शक मात्र है। इस निज शुद्ध आत्म द्रव्यमे संयत हो जाना चाहिये इस शुद्ध आत्म द्रव्यमें प्रतिवद्ध जो अस्तित्व है, उस अस्तित्व से ही वर्तन चाहिए भैया इस रागद्वेष मोही

को छोड़ो और अपने शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वरूपके दर्शन करो।

तृष्णा ही संसार वर्द्धिनी है, जिसमें त्याग की भावना नहीं होती। खुद अगर हजारो और लाखोंका दान भी करता है तो उसमें भी मेरा नाम लिख जाना चाहिए या नाम हो ऐसी तृष्णा रहती है। इसी पर्याय बुद्धि में संसार रहता है। वह तो त्यागनहीं हुआ। त्याग तो गुप्त होता है। जिसमें नामकी आकांक्षा नहीं रहती है वह त्याग होता है। एक ज्ञान मात्र निज आत्मदेवकी प्रसन्नताके लिए वह त्याग किया जाता है। निज शुद्ध अस्तित्व मात्रमें रहना ज्ञानी संत का काम है। इस अपने आपमें विराजमान प्रभुका अज्ञानी को परिचय नहीं है। मोही जीव वाहिरी पदार्थोंमें उपयुक्त रहकर रागद्वेप करता है समागममें संघ में अपने को वड़ा मानता या वड़ा मनानेका यत्न करता है पर बड़ा तो जितने एकत्वकी ओर आए उतना ही वड़ा है हम अपने अकेले आत्माके स्वरूपको निहारें तो हम वड़े वनने का काम करते रहते हैं ऐसा समझें। हम अपने आपमें पर्यायकी दृष्टि हटाकर केवल ज्ञान स्वरूपमें ही दृष्टिदें तो हम वड़प्पनके काम कर रहे हैं।

वीतरागताकी उपासनामें ही प्रभुभक्ति :—अहो ! रागद्वेषमें वड़प्पन कहां है ? वड़ा गौरख धंधा है। वड़ा अंधेर है जो वाहिरी पदार्थोंमें हमारी दृष्टि उलझ जाती है। वैसे हमें मिलना कुछ नहीं है वल्कि गंवाया जा रहा है सव कुछ। इस निराले स्वरूपके भावमें लाभ होता कुछ नहीं है। प्रत्युत्त विकल्प और कलुपताओंका आधार वन जानेसे दुर्गतिका पात्र होता हैं, फूल फूलकर, नाच नाचकर विषयोंमें मस्त होकर। हम भगवानकी उपासना करते हैं पर हम वह भगवानके बताए हुए मार्ग पर न चल सकें तो क्या उपासना की ?भगवानका प्रथम उपदेश यह है कि सच्चा ज्ञान उत्पन्न करे जिससे मोह का विनाश हो।

ज्ञानाश्रयका संकेत :—भैया ! हमारा कुछ है ही ,नहीं व्यर्थमें मोहकर रहें हैं। जो मेरा मेरा हैं ऐसी, व्यर्थकी कल्पना करेगा, असत्य कल्पनाऐं करेगा वह दुखी होगा, कोई दूसरा दुखी नही होगा। ३४३ घनराज प्रमाण लोक के क्षेत्रको निहारो और सोचो मैंने अपने ज्ञानका आश्रय नहीं किया सो इतने लोकके प्रत्येक प्रदेश पर अनेक वार जन्मना और मरना पड़ा हैं। अव भी ज्ञानाश्रय न किया तो ऐसा भ्रमना पड़ेगा। एक अपने चैतन्य स्वरूपमै अपनी आत्माकी वुद्धि हो, जो ज्ञान और आनंदका पुंज यह मैं हूं, यह प्रतीत हो जाय तो संसारकी आकुलताऐं सव दूर हो जाये। अतः भैया, कभी कभी तो केवल शुद्ध ज्ञायक स्वरूप निज आत्मतत्वको देखो। इसके लिये

यदि सब कुछ तन मन धन वचन लगा दिया, न्योछावर कर दिया और हमने अपने शुद्ध ज्ञान स्वरूपको प्राप्त कर लिया तो समझो हमने सर्वस्व पा लिया।

यथार्थ ज्ञानकी महिमा :—आंखोंसे ज्यादा दिखाई देता है किन्तु पीला पीला दिखाई दिया, इस देखनेसे अच्छा उस देखनेमें है जिसे आंखोंसे थोड़ा थोड़ा दिखाई देता है किन्तु जैसा है वैसा दिखाई दिया। मतलब यह है कि ज्ञानमे इतने बढ जाएं कि हमने लोककी अनेक भाषाओंका ज्ञान कर लिया, गणित साइंस और भी अन्य प्रकारके कठिन विषयोंका भी ज्ञान कर लिया किन्तु यह आत्मा मैं स्वयं क्या हूं । सर्वसे पृथक एक चैतन्य वस्तु हूं। किसी भी अन्यका अणुसे रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसी स्वतंत्र अपने आपकी सत्तामें विराजमान निज आत्मदेवकी रुचि नहीं कर सके तो क्या किया, जन्म पाकर।

तृष्णाका परिणाम :—एक सेठजी थे, बड़ी उनकी तृष्णा थी, राम राम कहने तकको भी उन्हें फुरसत और रुचि नहीं थी। एक साधु आए और साधुने सेठसे राम राम किया, सेठजी ने कुछ जवाब न दिया। दो चार बार निकलें और सोचा कि इसको धनके कारण फुरसत नही है। राम रामके नाम का भी बुद्धि नहीं है। अच्छा इसकी अकल को ठीक करना है। एक दिन वह साधु जो पासमें गंगा नदी थी जहां सेठके लड़के भी और सेठजी खुद भी नहाने जाया करते थे। एक दिन वह साधु सेठका रूपरख कर सेठके महलमें चला गया और सबको ज्ञात हो गया कि सेठजी आगए हैं और भीतर बैठ गये है। जब असली सेठ अपने घरको आने लगे तो घरके पहरेदारों ने उन्हें नही जाने दिया और कहा कि तुम कौन हो? सेठने कहा कि हमारा ही तो घर हैं। नौकर बोला तुम नही जा सकते। कोई बदमाश हो। सेठजी घर के बाहर ही भूखे सूखे पड़े हैं। उस सेठने सर्वपंचों से कहा तब सब पंचोंने उन दोनों को भीतर वाले सेठजीको और असली सेठजी दोनोंको बुलाया। दोनोंने कहा यह मेरा घर उसने कहा यह मेरा घर, पंचोंने कहा अच्छा बतलाओ। यह घर कब बनवाया। सेठको असली मिती मालूम नहीं थी और साधुने अपने ज्ञानसे फिक्स मिती बता दी थी। पंचोंने पूछा इसमें कितना रुपया लगा था तब भी सेठजी को तो अन्दाजा मालूम था फिक्स कुछ मालूम नहीं था। साधुने रुपया आना पाईमें सब बता दिया कि इतने रुपये आने पाई इसमें मकानमें लगे हैं। सर्व पंचोंने कहा कि घर इसका है और असली सेठ ताकता रहगया। जब वह खूब परेशान होगया। तब साधु

घर से निकल कर सेठ से बोले कि कहो सेठजी कैसी तवीयत है? सेठ हाथ जोड़ कर पैरों में पड़ गया। सेठ लोगों का तो प्रभाव तब तक है, जब तक धन है; अपनी गद्दी है और जब वह अपनी गद्दी पर नहीं है तो गरीब से भी वेकार है। तब साधू बोले कि धर्म में चित दोगे, राम नाम लोगे। सेठ ने कहा कि छ घन्टा धर्म में दूंगा तब सेठ के रूप को बदल कर बोले जावो, अब घर जावो।

निदान की व्यर्थता :—भैया जिन के लिए आप तृष्णा करते हैं वे जीव भिन्न जीव हैं। वे तुम्हारे साथी नहीं हैं, उनकी आशा करना व्यर्थ है। यह बच्चा मेरा है बुढ़ापे का सहारा है। इसकी हमें आशा है। अरे क्या पता—बुढ़ापा होने पर लड़के का क्या दिमाग बनेगा? उसको कोई कैसे कह सकता है। यदि लड़के परेशान करने वाले निकले तो "लड़के नहीं होते तो बुढ़ापा सुखी रहता" ऐसे सोचेंगे जो लड़के अपने अज्ञान से ख़ुद गर्जी से बूढ़े को सताते हैं। उस लड़के के होने से उसका क्या फायदा है? यदि पुण्य का उदय है, एक नहीं दसों आदमी जो कि हमारे नहीं हैं वे भी सेवा करेंगे और पुण्य का उदय हमारा ठीक नहीं है तो हमारा ही लड़का हमारे लिए ही दुःख का कारण वन जायेगा? भाई कहां चित्त लगाते हो परमेष्ठियों की शरण ग्रहण करो आत्मादेव का शरण ग्रहण करो, यही जैनेन्द्र शासन में वताया हुआ धर्म ही तुम्हारा सच्चा मददगार होगा, अन्य किसी की आशा न करो। अपने स्वरूप में अपनी आशा करो। आत्मा का विश्वास करो। यह एक आत्मा लोक के सव पदार्थों से निराला शुद्ध चैतन्य प्रकाश मात्र है, स्वयं आनन्द का पुंज है। यह अपना उपयोग अपने आपके स्वरूप में रहता है तो रंच भी कष्ट नहीं है। और यह आत्मा अपने धर्म भाव से अलग है तो यदि वैभव भी मिल जाय तो भी शांति नहीं हो सकती है। वैभव से शांति नहीं मिला करती। अगर शांति के योग्य परिणाम है तो शांति मिला करती है।

जैसा उपादान तैसा निर्माण :—भैया कोई शांति का ढङ्ग भी वनावे और अशांति विषय कषाय का उपादान है तो शांति का जामा कव तक पहन सकता है। एक सेठ के तीन लड़के थे और वे तीनों तोतले थे अन्य नगर के घराने में भीं तीन लड़कियाँ थी तो वहां से एक नाई आया लड़के देखने। तो सेठ जी ने अपनी गद्दी वड़ीं सजा धजा कर लगाई और कमरे का खूब शृंगार किया। उसने बच्चों को समझा दिया कि आपको जरा भी नहीं वोलना है, चुपचाप शाँति पूर्वक बैठे रहना है। नाई तीनों को देखकर

बोला—वाह ये तो बड़े गुणवान पुत्र हैं, बड़े ही सुन्दर हैं बड़े ही कांतिवान हैं, इनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है तब उनमें से एक लड़के से रहा न गया अपनी प्रशंसा सुनकर बोल उठा—हूं अभी टण्डन मण्डन तो लगा ही नहीं है। दूसरा लड़का बोलता है कि अवे डड्डा ने का कही थी। और तीसरे लड़के ने कहा टुप टुप। नाई ने परख लिया कि तीनों लड़के तोतले हैं। तो कोई काम बनावट कर करो तो वह कब तक चल सकेगा। एक सर्दी जुकाम वाले को खूब नहलाकर गद्दी पर बैठा दिया तो क्या उसके नाक आना बन्द हो जायेगा। धर्मका जामा पहनकर ऊपरसे शान्ति सुखकी मुद्रा बनावो तो क्या ? अन्तरमें तो अशान्ति ही है।

स्वाधीन और हितकारी प्रयोग :—भैया ! स्वाध्याय करो। इसके करते रहने से जो भीतरमें अज्ञान, मोह हो गया है वह ज्ञानके प्रभाव से मिट जायेगा। कर्म बन्धन तो ज्ञानभाव से ही मिटे हैं। तृष्णा करो ज्ञान संपादन की, धन संचयकी नहीं और भी देखो धनके संचयके लिए कितना भी श्रम करो, आपके श्रमसे धन संचय नहीं होगा। पुण्यका उदय आदि साधन होगा तो मिल जायेगा और आत्मज्ञानार्थ यदि कुछ प्रयत्न करो तो आपको ज्ञान नियमसे मिल जायेगा। धनके मिलनेकी स्थिति निश्चित नहीं हैं। किन्तु ज्ञानके लिए यह यत्न करेगा तो ज्ञानकी प्राप्ति होना निश्चित है। सो भैया जो अपने हाथकी वात है, उसमें तो उद्यम नहीं करता और जो अपने हाथ की वात नहीं है उसमें रात दिन चिन्तित रहता है।

सम्यक्त्वना वाधक अनन्तानुवन्धी कषाय:—सम्यक्तत्व का वाधक अनन्तानुवन्धी क्रोध माया मान लोभ है। अनांन्तानुवन्धी का क्रोध वह है जिन्हें धर्म प्रसंगमें भी क्रोध आवे। अनन्तानुवन्धी मान वह है जिससे उपवाससे आदि धर्मके कार्यो को करते हुए घमण्ड आवे। व्रत अनांतनुवन्धी माया वह है जो धर्मके काममें भी मायाचारी करें और अनन्तानुवंधी लोभ वह है जो धर्मका काम सामने आये तो भी व्यय नहीं किया जा सके। गृहस्थीके काममें क्रोध मान माया लोभ आए तो उसके सम्यक्त्व नष्ट नहीं भी होता है। पर धर्ममें क्रोध, मान, माया लोभ आए तो सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

अन्तर्दर्शनका एक उदाहरण :—भगवान श्री रामचंद्रजीके जब वे ग्रहस्थ थे उनपर कितने कठिन संकट आए। राज्याभिषेकके समय वनवास हुआ, सीताकी खोजके वारेमें पक्षियोंसे पूछ ताछ करते हुए बनमें भटके। भाई लक्ष्मणके मरण होनेपर ६ माह तक भ्रमे, पर सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ परधर्मके प्रसंगमें क्रोध मान माया लोभ आए तो वहां सम्यक्त्व नहीं रह

पायगा। धर्मवही है जिसमें अपनी शुद्ध आत्माका स्मरण हो। धर्मके काम करतेहुए आप सब लोग ऐसा उपयोग करें कि हमें अपने ज्ञान स्वरूप आत्म देवकी याद, स्मृति रहे। अपनी आत्मासे विकल्प हटाओ और अपने आत्म देव के स्मरण में रहो। यहीनिश्चय धर्मका पालन है।

कुछ आगे पीछेकी भी सोच :—भैया यह आत्म दृष्टि कब मिलेगी, जब ज्ञानकी प्राप्तिके लिये और ज्ञानको बढानेके लिएस्वार्थका त्याग करोगे। इससे दूर रहो, सत्संग में समय व्यतीत करो कुछ तो उदासीनता करो इस घर वैभव से। ममत्वमोह में तनिक भी नहीं रमना चाहिए। आपको तो वैभव भी क्या मिला ? चक्रवती तीर्थंकर अथवा आदि महापुरुषोंके वैभवको तो याद करो कितना महान् वैभव था। फिर भी उन्होंने गृहस्थीमें सुख नहीं माना, समस्त परिग्रह का त्याग किया और अपनी अंतरात्मा से अनुराग किया। कितने भव व्यतीत हो गये। हम आप सब कितनीबार सेठ, राजा हुए होंगे। उसी सारी सम्पदाको छोड़कर नए नए जन्म लेते चले आए हैं। उन सब बातोंको भूल गए। आज जो कुछ मिला है उसमें ही ममत्व करने लगे। भैया, मोहको हटाओ तभी शांतिका मार्ग मिलेगा।

साधुका परमेष्ठित्व—मुनि अवस्था ऐसी उत्कृष्ट अवस्था है कि उसे परमेष्ठीका रूप दिया गया है। साधु एक परमेष्ठी होता है। यह परमेष्ठी क्यों कहलाता है कि रागद्वेष रहित जो आत्माका ज्ञान बना है उस ज्ञानमें उसका निवास होता है। ज्ञानमें निवास तबही हो सकता है जब जीवको ज्ञान स्वभावके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं रुचे। जब उपयोग में ज्ञान ही ज्ञान रहेगा तो ज्ञान का निवास हो सकता है। जिनके रागद्वेष बने उनका ज्ञानमें निवास नहीं होता, क्यों नहीं हो पाता ? उनको सैकड़ों बखेड़े लगे हैं। उन्हें सम्भालना, उनमें भी चित्त देना पडता है। साधुका ज्ञानभाव में निवास बहुत समय तक हो सकता है। क्योंकि साधुके पास सूक्ष्म से पर-द्रव्य का सम्बन्ध नहीं होता। यदि साधु के पास तिल तुस मात्र भी परद्रव्य का सम्बन्ध होगा तो उसकी साधुता नहीं रह सकती। साधु समताका पुंज कहलाता है। उन्हें किसी भी प्रकार का परद्रव्य रहा तो उनमें समता नही ठहर सकती। राग होगा या द्वेष होगा। रंचमात्र भी परद्रव्य का सम्बन्ध समता के भंग का कारण है। इस कारण सूक्ष्म भी परद्रव्य का सम्बन्ध निर्दोषता का बाधक है, इसही शिक्षा को इस गाथामें उपदिष्ट करते हैं।

भत्ते वा खमणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्मि वा णिवद्धं णेच्छदि समणम्मि विकथम्हि ॥२१५॥

बोला—वाह ये तो बड़े गुणवान पुत्र है, बड़े ही सुन्दर हैं बड़े ही कांतिवान हैं, इनकी महिमा का कौन वर्णन कर सकता है तब उनमें से एक लड़के से रहा न गया अपनी प्रशंसा सुनकर बोल उठा—हूं अभी टण्डन मण्डन तो लगा ही नहीं है। दूसरा लड़का बोलता है कि अबे डड्डा ने का कही थी। और तीसरे लड़के ने कहा टुप टुप। नाई ने परख लिया कि तीनों लड़के तोतले हैं। तो कोई काम बनावट कर करो तो वह कब तक चल सकेगा। एक सर्दी जुकाम वाले को खूब नहलाकर गद्दी पर बैठा दिया तो क्या उसके नाक आना बन्द हो जायेगा। धर्मका जामा पहनकर ऊपरसे शान्ति सुखकी मुद्रा बनावो तो क्या ? अन्तरमें तो अशान्ति ही है।

स्वाधीन और हितकारी प्रयोग :—भैया ! स्वाध्याय करो। इसके करते रहने से जो भीतरमें अज्ञान, मोह हो गया है वह ज्ञानके प्रभाव से मिट जायेगा। कर्म बन्धन तो ज्ञानभाव से ही मिटे हैं। तृष्णा करो ज्ञान संपादन की, धन संचयकी नहीं और भी देखो धनके संचयके लिए कितना भी श्रम करो, आपके श्रमसे धन संचय नहीं होगा। पुण्यका उदय आदि साधन होगा तो मिल जायेगा और आत्मज्ञानार्थ यदि कुछ प्रयत्न करो तो आपको ज्ञान नियमसे मिल जायेगा। धनके मिलनेकी स्थिति निश्चित नहीं हैं। किन्तु ज्ञानके लिए यह यत्न करेगा तो ज्ञानकी प्राप्ति होना निश्चित है। सो भैया जो अपने हाथकी बात है, उसमें तो उद्यम नहीं करता और जो अपने हाथ की बात नहीं है उसमें रात दिन चिन्तित रहता है।

सम्यक्त्वना बाधक अनन्तानुबन्धी कषाय:—सम्यक्तत्व का बाधक अनन्तानुबन्धी क्रोध माया मान लोभ है। अनांन्तानुबन्धी का क्रोध वह है जिन्हें धर्म प्रसंगमें भी क्रोध आवे। अनन्तानुबन्धी मान वह है जिससे उपवाससे आदि धर्मके कार्यो को करते हुए घमण्ड आवे। व्रत अनांतनुबन्धी माया वह है जो धर्मके काममें भी मायाचारी करें और अनन्तानुबंधी लोभ वह है जो धर्मका काम सामने आये तो भी व्यय नहीं किया जा सके। गृहस्थीके काममें क्रोध मान माया लोभ आए तो उसके सम्यक्त्व नष्ट नहीं भी होता है। पर धर्ममें क्रोध, मान, माया लोभ आए तो सम्यक्त्व नष्ट हो जाता है।

अन्तर्ज्ञानका एक उदाहरण :—भगवान श्री रामचंद्रजीके जब वे ग्रहस्थ थे उनपर कितने कठिन संकट आए। राज्याभिषेकके समय वनवास हुआ, सीताकी खोजके बारेमें पक्षियोंसे पूछ ताछ करते हुए बनमें भटके। भाई लक्ष्मणके मरण होनेपर ६ माह तक भ्रमे, पर सम्यक्त्व नष्ट नहीं हुआ परधर्मके प्रसंगमें क्रोध मान माया लोभ आए तो वहां सम्यक्त्व नहीं रह

करते। बड़े विचार से कि कितना लंघन कराना चाहिये, कराया जाता है। जिस प्रकार रोगीको लंघन कराते हैं उसी प्रकार यह संसार रोगका रोगी है। मोक्ष, सुखके अभिलाषी साधु संत संसार रोगसे निपटनेके लिए अनशन नामका तप करता है पर वह जानता है कि हमको कितना अनशन करना चाहिए जिसमें से उखड़ते हुए विषय कषाय बिल्कुल दबजायें। इस आत्मामें वासना नहीं रहे और शरीर भी विरुद्ध नहीं हो जाय। इन दोनों बातोंका ख्याल करके साधु जन अनशन करते हैं उन्हें जैसे भोजनमें ममता नहीं है उसी प्रकार उन्हें अनशन में भी ममता नहीं है। जब वे इस बातको समझते हैं तब कल्याण भाव से भोजन करते हैं और जब जब उचित समझते हैं कल्याण भावसे अनशन करते हैं। उन्हें न भोजनमें ममता है, न अनशनमें ममता है।

आवासमें साधुकी निरीहता :—वे मुमुक्षुविहार भी किया करते, गुफा आदि एकांत स्थानमें निवास भी किया करते हैं पर उन्हें न तो निवासमें ममता है और न विहारमें ममता है कैसी प्रबल साधना है साधुकी, वे अपने ज्ञान स्वभावमें ही नियंत्रित रहते हैं। उनकी न भोजनमें ममता है, न अनशनमें ममता है, न गुफा आदि में निवास करनेमें ममता है और न विहारके कार्योंमें ममता है और हो रहे हैं सब काम। ममता किसी में नहीं है। वे गुफाओं की जगहोंमें क्यों निवास करते हैं। पर्वत और वृक्षोंकी खोलों में क्यों निवास करते हैं। वे रागद्वेष रहित, योगकी चंचलतासे रहित शुद्ध जो ज्ञान मात्र कारण परमात्म द्रव्य है, आत्म तत्त्व है उस आत्म तत्त्वकी स्थितिको चाहता है। ये विकल्प भाव बड़े दुखके होते हैं भैया। वास्तवमें किसी प्रकार का दुख नहीं है पर वह भ्रम कर रहा, मोह करता हुआ कल्पना बनाए रहता है और उसे अनेक क्लेश होते हैं। जैसा आत्माका सहज स्वभाव है उस प्रकार उपयोग यदि बनाएं तो इनको कोई क्लेश नहीं है। वे अपने उपयोग को शुद्ध चाहते हैं। ज्ञाता द्रष्टा रहना चाहते हैं उन्हें रागद्वेष बिल्कुल पसंद ही नहीं तो रागद्वेष रहित हुआ हुए शुद्ध ज्ञान-स्वभावमें उपयोग बना रहे इस सिद्धिके लिए वह पर्वतकी गुफाओं आदि एकांत स्थानमें निवास करते हैं। इससे वे अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव की सिद्धि चाहते हैं। उनको इस निवासमें ममता नहीं है। ममता तब है जब ये बाह्य कार्य उसके उद्देश्य बन जायें। साधु संतके उद्देश्य तो शुद्ध उपयोगकी सिद्धि है। गुफाओंमें रहकर भी उनका लक्ष्य अपनी आत्म सिद्धि है। सो उन्हें पर्वतकी कन्दराओं के निवासमें भी ममता नहीं।

जो आत्महित का अभिलाषी साधू संत है। वह किसी भी विषय में राग को नहीं चाहता, ममत्वपूर्वक सम्बन्ध को नहीं चाहता।

भोजन में साधुकी निरीहिता—भोजन भी साधू पुरुष लेता है, पर केवल इसलिए लेता है कि शरीर बना रहे। शरीर बना रहे, इतना वह क्यो चाहता है इसलिए चाहता है कि शरीर का बना रहना कुछ समय तक श्रामण्य परिणामका सहकारी कारण है। शरीर होगा तो अधर्मप्रवृत्तिवाला मन द्वारा अधर्म से हटकर कुछ धर्म मे प्रवृत्ति कर सकता है। निश्चय से तो शरीर से धर्मप्रवृत्ति का सम्बन्ध नहीं हैं। शरीर रहो या नहीं रहो, आत्मा का धर्म तो आत्मा के साथ है। फिर भी जब यह आत्मा बहुत निम्न दशा में है। विषय कषाय की तरंग इसमे जब चाहें उठजाती हैं, ऐसी स्थिति में उन विषय भोगोसे दूर होने के लिए प्रथम तो मनकी शुद्ध-सत्वके लक्ष्य के लिए करनी पड़ती है और उन तप, संयमव्रतो के करने में यह मन जोकि शरीर का अङ्ग है सहकारी कारण है। शरीर निर्बल है, रोग से पीड़ित है, खांसी बुखार हुआ है तो कैसी दशा होजाती हैं वहां धर्म के लिए उत्साह भी भंग होजाता हैं। सो शरीर रहे इसके लिए वे भोजन करते हैं, पर उनकी दृष्टि भोजन में नहीं रहती है। दिन मे एक-बार निर्दोष भोजन होगया।

अनशन करते हुए साधुकी निरीहता :—साधुको रोज रोज भोजन चाहिए ऐसा नहीं प्रतीत होता तब वह अनशन भी करता है। अनशन वह इसलिए करता है कि शुद्ध आत्म द्रव्यमें रागद्वेष रहित उपयोग विश्राम को प्राप्त करें यानी शुद्ध ज्ञान स्वभावमें उपयोग रम जाय। सो जैसा आगममें बताया है उस विधिके अनुसार न तो शक्ति छिपा करके और न शक्तिसे अधिक करके वे उपवास करते हैं। वे अनशन करते हुए यह भी ख्याल रखते हैं कि इस तरहकी उपेक्षासे अनशनकी अति करना भी उचित नहीं है, जिसमें शरीरको वृत्ति विरुद्ध होजाय। यदि इन्द्रिय अत्यंत शिथिल हो गई, चलनेफिरनेकी भी योग्यता नहीं रही तो समझो कि फिर धर्म, संयम, व्रत, तप किस तरह कर सकता है। वह अनशन भी करता है पर अनशनमें ममता होजाए ऐसा अनशन नहीं। जैसे किसी रोगीको लंघन कराते हैं। रोगी अच्छा हो जाय इसलिए लंघनकी जाती है अब जितने लंघनसे रोगी अच्छा होता है और शरीरमें शक्ति बढ़ने की स्थिति आ जाती है तब लंघन बन्द कर देते हैं। इसी लिये तो लंघन करते हैं। जो बिना मियाद करते जायें लंघन इस तरह तो नहीं

करते। बड़े विचार से कि कितना लंघन कराना चाहिये, कराया जाता है। जिस प्रकार रोगीको लंघन कराते हैं उसी प्रकार यह संसार रोगका रोगी है। मोक्ष, सुखके अभिलाषी साधु संत संसार रोगसे निपटनेके लिए अनशन नामका तप करता है पर वह जानता है कि हमको कितना अनशन करना चाहिए जिसमें से उखड़ते हुए विषय कषाय बिल्कुल दबजायें। इस आत्मामें वासना नहो रहे और शरीर भी विरुद्ध नहीं हो जाय। इन दोनों वातोंका ख्याल करके साधु जन अनशन करते हैं उन्हें जैसे भोजनमें ममता नहीं है उसी प्रकार उन्हें अनशन में भी ममता नहीं है। जब वे इस बातको समझने हैं तब कल्याण भाव से भोजन करते हैं और जब जब उचित समझते हैं कल्याण भावसे अनशन करते हैं। उन्हें न भोजनमें ममता है, न अनशनमें ममता है।

आवासमें साधुकी निरीहता :—वे मुमुक्षु विहार भी किया करते, गुफा आदि एकांत स्थानमें निवास भी किया करते हैं पर उन्हें न तो निवासमें ममता है और न विहारमें ममता है कैसी प्रबल साधना है साधुकी, वे अपने ज्ञान स्वभावमें ही नियंत्रित रहते हैं। उनकी न भोजनमें ममता है, न अनशनमें ममता है, न गुफा आदि में निवास करनेमें ममता है और न विहारके कार्योंमें ममता है और हो रहे है सब काम। ममता किसी में नहीं है। वे गुफाओं की जगहोंमें क्यों निवास करते हैं। पर्वत और वृक्षोंकी खोलों में क्यों निवास करते हैं। वे रागद्वेष रहित, योगकी चंचलतासे रहित शुद्ध जो ज्ञान मात्र कारण परमात्म द्रव्य है, आत्म तत्त्व है उस आत्म तत्त्वकी स्थितिको चाहता है। ये विकल्प भाव बड़े दुखके होते हैं भैया। वास्तवमें किसी प्रकार का दुख नहीं है पर वह भ्रम कर रहा, मोह करता हुआ कल्पना बनाए रहता है और उसे अनेक क्लेश होते हैं। जैसा आत्माका सहज स्वभाव है उस प्रकार उपयोग यदि बनाएं तो इनको कोई क्लेश नहीं है। वे अपने उपयोग को शुद्ध चाहते हैं। ज्ञाता दृष्टा रहना चाहते हैं उन्हें रागद्वेष बिल्कुल पसंद ही नहीं तो रागद्वेप रहित हुआ हुए शुद्ध ज्ञान स्वभावमें उपयोग बना रहे इस सिद्धिके लिए वह पर्वतकी गुफाओं आदि एकांत स्थानमें निवास करते हैं। इससे वे अपने शुद्ध ज्ञान स्वभाव की सिद्धि चाहते हैं। उनको इस निवासमें ममता नहीं है। ममता तब है जब ये बाह्य काय उसके उद्देश्य बन जायें। साधु संतके उद्देश्य तो शुद्ध उपयोगकी सिद्धि है। गुफाओंमें रहकर भी उनका लक्ष्य अपनी आत्म सिद्धि है। सो उन्हें पर्वतकी कन्दराओं के निवासमें भी ममता नहीं।

विहारमें साधुकी निरीहता :—साधुके विहारमे भी ममता नहीं। वे विहार क्यों करते है ? उस प्रकारसे मेरे आत्माकी सिद्धि बने और शरीरकी अनुकूलता रहे। उसके कारण ढूढ़नेके लिए व रागद्वेष रहित स्थिति साधने के लिये वे विहारका आरम्भ करते हैं। इसलिए उन्हें विहार के कार्योंमें भी ममता नहीं है। यों उनको न भोजनमें ममता है, न अनशनमें ममता है न किसी स्थानके निवासमें ममता है, और न विहारमें ममता है। ममताका सम्बन्ध उन्हें रंच भी इष्ट नहीं है। इस कारण वे रंच भी परिग्रहका सम्बन्ध नहीं रखते ।

अन्य उपधिमें साधुकी निरीहताकी भूमिकामें आहारनिरीहताका पुनः दर्शन—अब आगे यह बताएंगे कि उन्हें अन्य किसी उपाधिमें भी ममता नही है। साधु जन किसी भी वस्तुमें ममता नहीं रखते, आहार करते हुए भी आहार में ममता नहीं है ऐसा निर्मल स्पष्ट ज्ञान है कि आवश्यकताके कारण निर्दोष प्रासुक आहार भी करते जा रहे हैं फिर भी उसमें ममता नही है। ये बातें कितने ज्ञान बलकी हैं कि भोजन करते हुए भी भोजनमें ममता नही है। भोजन करना पड़ता है शरीर के रखनेके लिए, शरीर रखना है, कुछ समय तक संयमकी साधनाके लिए। उनका आत्म तत्त्व में इतना स्पष्ट चिंतन है कि शुद्ध जानन मात्र जिसका कार्य है, ऐसा ज्ञान स्वरूपमय अपने आपको वे निहारते रहतें हैं।

अन्य उपधि की निरीहता की भूमिका में अनशन वृत्तिका पुनः दर्शन :—उन साधूजनो को अनसन में भी ममता नहीं है जो कोई ज्ञान बल मे हीन है। धर्म को रूढ़ि मानकर चलता है वह अनसन करते हुए और यह गिनते हुए हमारे दो उपवास हो गए और तृतीय उपवास और करलें। उपवास का मोह करते हैं। पर साधू जन अनसन भी करते हैं पर उसमें भी ममता नहीं है। वे जानते है कि भोजन करना मेरा स्वभाव नहीं है। और न भोजन का त्याग करना मेरा स्वभाव है। मेरा स्वभाव तो मात्र जानना देखना है। वे अनसन करते हैं निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के लिए। भोजन का भी विकल्प न उठे इस उत्सुकता के कारण उनका अनसन हुआ हैं। अनसन करने के लिए अनसन नहीं हैं किन्तु निर्विकल्प समाधि की सिद्धि के लिए अनसन है। अनसन से लाभ भी बहुत हैं एक तो इन्द्रियों का दर्प नष्ट हो जाता है अपने विषय की ओर दौड़ती हुई इन्द्रियोंका मद भी नष्ट हो जाता है। इन्द्रिय का मद ऐसा गहन अंधकार है कि इस मद में अपने जीवत्व की सम्भाल नहीं रहती है। सो निर्विकल्प समाधि मात्र

की सिद्धि के लिए अनसन तप करते हैं साधू, किन्तु उनके उस अनसन में भी ममता नहीं है और करलें, मेरे कर्मो का विशेष क्षय होगा, ऐसी वृत्ति नहीं रखते। वे जानते हैं कि कर्म के क्षय का कारण शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति है, अनसन नहीं। अनसन इन्द्रियों के मद को नाश करने का कारण है। इन्द्रियों का मद नाश होगा तो निर्विकल्प समाधि की सिद्धि होगी।

साधु की आवास निरीहता का पुनः स्मरण :—पर्वत की गुफा इत्यादि स्थानों में वे साधूजन निवास करते हैं। फिर भी गुफा के निवास में उनको ममता नहीं है। उन्हें गुफा वगैरह कुछ नहीं दीखता है अर्थात् उनके लक्ष्य में नहीं है, लक्ष्य में तो केवल आत्मा है, सो आत्मा की समता साधना का ही भाव है। रहते हैं गुफाओं में किन्तु अज्ञानीजनों को महात्मा संतों के गुफा निवास को देखकर मोह होता है कि मैं भी ऐसी गुफा में रहा करूं, पर साधूजनों को उस निवास में भी ममता नही है। ज्ञानी और अज्ञानियों के लक्ष्य में अन्तर है।

साधू की विहार निरीहता का पुनः स्मरण :—ज्ञानी जन विहार करते हैं तो रागद्वेष से बचे रहने की स्थिति के लिए विहार करते हैं। थोड़ा विहार है, ग्रामान्तर का विहार है, प्रत्येक विहार मे उनकी शुद्ध आत्मा की भावना रहती है और शुद्ध आत्मा की भावना में बाधा न आए, इस प्रयोजन के लिए उनका विहार होता है पर अज्ञानी जन क्या सोचते हैं। विहार करें, नए नए देश मिलेंगे, नई-नई जगह मिलेंगी, नए-नए आदमी मिलेंगे। यह ममता हो गई पर ज्ञानी जनों के विहार में ऐसी कोई ममता नहीं है। अपने आपको सुरक्षित रखने के लिए उनका विहार होता है।

देह उपाधि मे साधू की निरीहता :—अब साधू के पास रह क्या गया, गृह का भी त्याग हो गया, वैभव कुछ रखा नहीं, पैसा वस्त्र भी नहीं है, कुछ भी साधन नही है फिर क्या चीज और रह गई एक देह रह गई यदि इस देहका त्याग हो सकता तो इसको भी वे त्याग देते। उन्हें तो अपने कैवल्य स्वरूपमे रुचि है। अपने स्वरूपके अतिरिक्त अन्य पदार्थो को रंच भी नहीं चाहता। यह देह मात्र उपाधि रह गया किन्तु यह शरीर अभी शुद्धोपयोग की भावनामें सहकारी कारण बना है। शरीर सहकारी नही है। आत्मा ही शुद्ध आत्माकी भावना करता है पर ऐसे प्रसंगमें जबकि मन विषय और कषायोंमें दौड़ लगानेके लिए तैयार हैं, ऐसे प्रसंगमें इस मनको विषय कषायों से हटानेकी और विषय कषाय आसानी से हट सकें, इसके लिए शुद्ध आत्म स्वरूपके चिंतन की आवश्यकता है और यह सब बात मनके

निमित्तसे अभी होती हैं और मन है शरीरका अंग, इसलिए अभी शरीर का बना रहना आवश्यक है। इससे कुछ ऊँची स्थिति हो जाय तो शरीर आवश्यक नहीं है। पर जब तक हमारी छोटी स्थिति चल रही है। अशुभ वृत्ति दूर करनेके लिये तब तक यह शरीर आवश्यक है। अच्छा अब दूसरी बात विचारो शरीर छोड़ा कैसे जाय ? यह तो आत्माके साथ चिपका है। जबरदस्ती छोड़ो तो हत्या का दोप है। संक्लेश, परिणाम हो जाय, अगला भव खराब हो जाय। यों शरीरके छोड़नेमें कुछ लाभ भी नहीं है। इस कारण एक शरीर परिग्रह रह गया सो साधुके देहमें भी परम उपेक्षा रहती है।

ज्ञान, संयम व शुद्धिके उपकरणमें साधुकी निरीहता :—बाह्यमें साधुके अब ज्ञान संयम और शुद्धिके उपकरण रह गये हैं। ज्ञानका उपकरण पुस्तक है। संयम का उपकरण पीछी है। शुद्धिका उपकरण कमण्डल है। यह भी छूटे जा सकते हैं, कोई ले जाय तो ले जाए पर वह शरीर की भांति तो नहीं कि छोड़ा ही नहीं जा सकता। अपनी धुनिमें रहेगा तो इन उपकरणों की उपाधियोंमें भी उनको ममता नहीं है।

शिष्यों व विकथावोंमे साधुके ममताका अभाव :—इसी प्रकार अपने संघके शिष्योंमें और विकथाओंमें भी साधु जनों को ममता नही है। एक आत्म कल्याण की ऐसी गहरी धुन बनी है कि जैसे कोई खुद गर्ज पुरुष अपने काम में जगा रहता है, दूसरे के काम की परवाह नहीं करता। इसी तरह वे साधु जन अपनी आत्म-भावना में तो जगे रहते हैं किन्तु अपने पीछी कमण्डल, शिष्य आदि किन्हीं मे भी उनकी ममता नहीं रहती है। साधू जनोंकी यह चर्चा है कि वे किसी भी प्रकार की ममता में नही फंसते। जो ज्ञानी पुरुष होते हैं, वे अपने समागममें आए हुए पुरुषोंमें भी मोह नही रखते हैं और मन बहलाने वाली कथाओं में और वचनों मे भी मोह नहीं रखते। ऐसे भी वचन हैं, जो आत्महित कारक तत्त्वका संकेत करते हैं उन वचनोंसे लाभ तो उठा लेते हैं किन्तु उन वचनोंमें भी ममता नहीं है।

साधुकी आन्तरिक प्रतीति :—साधुको दृढ़ प्रतीति है कि मेरा शरण मात्र वह है जो मेरे में मेरा ध्रुव है। अध्रुव वस्तुमें उसे उपादेय नहीं है। सर्व समागम अध्रुव है। सर्व वाचनालय अध्रुव है। अध्रुव परिणतियोंमें ज्ञानीकी रुचि नहीं होती। इनमें दिमाग मारनेसे उपयोग देनेसे तो लाभ कुछ नहीं है। वे अपने सहज स्वरूपका ही ध्यान बनाए रहते हैं, उसका ही लक्ष्य बनाए रहते हैं किसी अन्य जगह उनका उपयोग टिकता ही नहीं। जैसे एक

जहाज किनारे पर था। उस जहाज की चोटी पर एक चिड़िया बैठ गई, वह जहाज आगे बढ़ गया। समुद्रके बीचमें पहुँच गया। अब जहाज की चोटी पर बैठी चिड़िया किस ओर जाय। उसको किसी ओर आश्रय नहीं मिलता, उड़कर वह किसी भी ओर जाती है लेकिन उसको आश्रय कहीं नहीं रहा, फिर लौट कर उसी जहाजकी चोटी पर आ जाती है। ज्ञानी पुरुष का यह उपयोग किस ओर जाय, कौनसा पदार्थ सार है। धन, वैभव, प्रतिष्ठा, पोजीशन कौन सा पदार्थसार है जिसमें वे उपयोग को स्थिर कर सकें। जीवोंको सबको समान समझ चुका है। बाह्यमें, अन्य किसी जगह आदि में इस ज्ञानी का टिकाव नहीं है और जब टिकना चाहता है तो अपने आपके स्वरूपके दर्शनमें टिकना चाहता है। यह अनादि, अनंत, अहेतुक ज्ञान सार सर्वस्व ज्ञानस्वभाव है।

निजमें विराट विश्वका दर्शन :—भैया ! अपने में ही मुझे इस समस्त वैभवका दर्शन होता है। जैसा कई लोग कहते है कि अर्जुन आदिको कृष्ण-जीने अपने विराट् स्वरूपको दिखाया। यह इस ज्ञानीके अन्तरात्माके प्रभुने इसे एक विराट दर्शन दिया। जिसके दर्शन कर लेने के बाद अब उसका किसी बाहरी जगह में टिकाव नहीं होता सो आखिर प्रभुके स्वरूपको निहारता है। अन्य विषय साधनोंकी चर्चा तो बाहर ही है। जो उसके व्यव हार में शरण हैं ऐसे देव और गुरुके ज्ञानमें अनुरागी होकर भी उन देव गुरुके ज्ञानमें टिकाव न होकर उनके गुणोंके स्वरूपके जाननके उपाय द्वारा, अपने स्वरूपको देखकर अपने स्वरुपमें टिकावको चाहता है। ऐसा ज्ञानी पुरुष भीतरमे किसीसे ममता नहीं रखता।

ऊधमकी विदाई :—जैसे कोई ऊधम करे और उसको छुट्टी दे दो कि जितना ऊधम करना चाहो ऊधम करलो तो फिर उस ऊधममें उत्सुकता नहीं रहती। इस मोह, द्वेष, रागको करने वाले मनको छुट्टी दे दी जाय कि तू मन भरके मोह रागद्वेष करले तो विवेक समझाता जाता है कि किसमें मोह करें। कुछ भी तो मोहके योग्य नही है। कुछ तो अपनी आत्माका साधन करें। संसारमें भटकते हुए अनन्त काल व्यतीत कर डाले, कैसे व्यतीत हुए ? सब लोग जानते हैं किन्तु अपनेमें हित खोजता हुआ अगर चिंतन करे तो एक ठेस उत्पन्न हो। चर्चा और बात बातमे कहा जाता है कि हम सब निगोदमें थे तो एक सैकिन्डमें २३ बार जन्म मरण किया। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु प्रत्येक वनस्पति हुए और इनमें कूटे गए, छेदे गए, जलाये गए। यह सब बात अपनेमें खोज करते हुए देखें तो ऐसी भावना

बन सकेगी कि इन देखने वाले रोगी जनोंमें जो मोह, मद, रागद्वेष जिनसे कलंकित है, खुद शिथिल होने लगेंगे।

बाह्य प्रसार की क्लेशकारिता :—भैया जन्म मरण के झंझटों में भटकते हुए इन पुरुषोंमें अपनी पोजीशन क्या दिखाते हो। ये सब मरण कर जायेंगे। इस अशरण पुरुषोंसे कुछ असार शब्दों को सुनना चाहता है कि कोई यह कह दे कि ये सेठजी बड़े ऊंचे पुरुष हैं, यह बड़े धनी हैं इतने के लिए तो तृष्णा लगी। खाने पीने की किसको कमी है। जिस उदय में यह मानव शरीर बना। वही उदय मानव शरीर को बनाये रहने का साधन जुटायगा, कमी किस को है। अपने में व्यतीत हुई वेदनाओं को देखकर उन बातों को विचारो कि त्रस हुए, कीड़े-मकोड़े बने, उस भव में उन पर, लोग जूते पहिनकर चले जाते हैं, संक्लेश में मरते हैं। बताओ इनका दुख प्रकट है। रीछ अपने मालिक के बन्धन में चल देता है, विवश है। कोई पशु मालिक की इच्छा के अनुकूल नहीं हुआ तो उसका मालिक इतना मारता है, लताड़ता है, हैरान कर देता है कि वह बेचारा पशु बन्धन वश हुआ सिवाय उसे सहने के और क्या करेगा ? अगर कुछ करेगा तो फिर मार पड़ेगी। पशु में तो थोड़ी सी कोई बात हुई कि वहां पशु पर डंडे बर्सने लगे, यह सब करनी का फल है।

जीव दया का मूल तद्वत् निज दुःख की संभावना :—किसी दुखी पुरुष को देखकर जिसका पेट सड़ रहा है, गल रहा है, देखकर हमें दया आती है, किन्तु आती है यह जानकर कि ये सब जीव मेरे समान हैं तो भीतर में सबके यही है कि मैं ऐसा होऊंगा तो क्या गुजरेगी ? ऐसा मन में सम्बन्ध आ जाता हैं जिसके कारण तेज वेदना हो जाती है। महात्मा संत हैं उनको दया उस प्रकार की नहीं आती है इस ढंग से कि इस विचारे आत्मा को अपनें अन्दर में बसा हुआ, कारण, परमात्मा को ज्ञात नहीं हुआ जिस अज्ञान के कारण ऐसा दुःखित रहता है। यह आत्मा अपनी वृत्ति को बदल अपने अन्दर में दृष्टि करलें।

ज्ञानी के दया की पद्धति :—ज्ञानानन्द निधान ध्रुव अनादि अनंत अहेतुक चैतन्य स्वभावमय यह मैं हूं ऐसा पहिचान लें तो उसके सारे सङ्कट दूर हो जायें, जब कि अज्ञानी वेदना से वेदना को मिलाता हुआ दया करता है, तो ज्ञानी आत्मा अपने स्वभाव के समान निरखकर ज्ञान वृत्ति के लिए दया करता है। ज्ञानी और अज्ञानी की दया में भी बहुत अन्तर है। हम अपने स्वभाव का उपयोग बनाएं जिसके कारण से शांति

का मार्ग मिले। आत्म दया के अर्थ इतना ज्ञान करना ही पड़ता है कि मेरी आत्मा को यह जो कुछ भी समागम है चाहे स्त्री है, चाहे पुत्र है, धन है, वैभव है वे सब मेरे हित रूप नहीं हैं, मेरे हित के आधार नहीं हैं प्रत्युत खोटी कल्पनाओं का आश्रयभूत होने से दुर्गति के कारण हैं।

अन्तर्ज्ञान का प्रकाश :—अन्तर से ज्ञान होने पर यह बुद्धि जगेगी कि हमें उनमें नहीं लगना चाहिए, हम उनसे हटे हुए रहें। ऐसी बुद्धि में हम अपना शरण ढूंढ़ सकेंगे जब हम प्रत्येक वस्तु को ही प्रयोग में लाते हैं, मेरा विकल्प पर पदार्थों में ही फंसा रहता है तो ऐसी स्थिति में हम अपने प्रभू को कैसे ढूंढ़ सकते हैं। यह निज प्रभू बड़ा हठीला है, निराला है, यदि यह देखलें कि इस उपयोग ने एक अरण मात्र में भी राग किया है तो यह रूठ जायेगा। यह इसको दर्शन तक भी न देगा। जैसे घर का लड़का, श्रेष्ठ पुण्यवान थोड़ी सी अपने से विमुखता समझ लेगा तो वह उनसे रूठ जायेगा। यदि यह उपयोग कुछ भी इस स्वरूप प्रभु की ओर झुके फिर जब उसको भी दीखेगा कि इसने मेरे से अलग अन्य किसी भी परद्रव्य में बुद्धि रुचि हित की दृष्टि नहीं रखी। एक सर्वस्व लगन पूर्वक मेरी ओर झुका है तो यह प्रभू प्रसन्न होता है, प्रभू निर्मल होता है।

अपना निरीक्षण :—भैया अब अपने जीवन में देख लिया जाय कि हम किन-किन पदार्थों में आसक्त है, झुके हैं, लीन हैं, लगे हैं। आवश्यक जीवन के निभाव के लिए करने पड़ते हैं, यह बात तो है और, किन्तु अंतरंग से परमें इस तरह की यह वासना बनाए है कि जब तक भैया हैं, सब कुछ है मेरा यह बच्चा सब कुछ है, यदि ऐसी दृष्टि बन गई है तो हम प्रभू के दर्शन के पात्र बन नहीं सकते, हमें जगत में ठोकरें खाना ही पड़ेंगी। भैया यह बहुत दुर्लभ जीवन है। इस दुर्लभ जीवन को पाकर यदि हम अपनी उन्नति के काम नहीं कर सकते और इस कूड़ा करकट परद्रव्य में ही अपने उपयोग को न्योछावार कर दिये जा रहे हैं, तो मरना तो पड़ेगा ही। मरण के बाद इसकी कोई मायाचारी या करतूत नहीं चल सकती कि मैं अब कीड़ा नहीं बनूंगा ? जैसा परिणाम किया है उसके अनुसार बनना ही पड़ेगा। इस जीवन में तो कुछ पुण्य कार्य किये हैं नहीं, अपराध कितने ही कर लिए, धन को भी नहीं छोड़ा, धन बल का गलत उपयोग किया, कलुषित हृदय होकर भी ऐसी बनावटें कीं कि अपनी पोजीशन बनी रहे। यद्यपि उस पोजीशन में सार नहीं है और फिर भी लगे उस दृष्टि को बनाने।

पापोदय में मनमानी हठकी विफलता :—भैया कुछ ! भी करलें, किन्तु मरण के बाद एक समय भी हमारी यह हठ नहीं चल सकती कि हमने तो दो इन्द्रिय जाति का वन्धन किया और कुछ अपना बुद्धि धन, इज्जत, पोजीशन सर्व कुछ मिल जुलकर भी यह यह हठ करलें कि भाई हम कीड़े तो नहीं वनेंगे। भैया, उदय अनुकूल था सो अब तक तो दुनियां को धोके में डाल लिया किन्तु मरण के बाद धोखे को नहीं रखा जा सकता सो जब तक जीवन है, कठिन बुढ़ापा नहीं है, रोग नहीं है, तब तक भी कुछ जल्दी हित कर सकता है तो कर ले अन्यथा यह आयु तो नदीके वेगकी तरह वह रही है, निकल जायेगी, जीवन समाप्त हो जायेगा। यदि असंज्ञी होगया तो कल्याण का कोई अवसर नहीं मिलेगा। अतः मनके प्रवाहमें न वह जावो, आत्मदया करो, भीतरमें अपनी श्रद्धा रखो, परिवारके मोह को दूर करो।

निजकी विविक्तता :—भैया गृहवासी ये ४—६ प्राणी भी मुझसे इतने जुदे हैं, जितने जुदे है और सारे जीव। श्रद्धामें गृहस्थ साधूसे कम नहीं होगा। गृहस्थके पूर्णश्रुत ज्ञान नहीं है, परमावधि सर्वावधि नहीं है, मनपर्यवज्ञाननहीं हैं, चारित्र नहीं है। गृहस्थ इमसे तो कम है,पर श्रद्धामें साधुके पूर्ण बराबर है। श्रद्धामें तो सर्व पर भावोंसे, निराला, सहज, ज्ञानमात्र, अपने आपको देखता है। भैया, अपने को कल्याण करना है पर कल्याण गुप्त है, कल्याण का उपाय गुप्त कल्याण को किन्हीं बनावटी चीजोंसे बनाना चाहे तो नहीं बन सकता। गुप्त बात को गुप्त होकर करना पड़ता है और करें तो सन्मार्ग मिलता है।

साधुकी निर्ममत्व वृत्ति :—यहां यह बतलाते हैं कि साधुके पास कौन कौन सा परद्रव्य रहता है और जो उनके पास परद्रव्य रहता है उसमें उनका ममत्व नहीं है। समय पर भोजन है, भोजन बिना शरीरकी स्थिति नहीं रहती सो अपने कल्याणके लिए उस समय शरीरकी स्थिति आवश्यक है तो भोजन भी लेता है पर भोजनमें भी ममत्व नहीं है जैसे कहते हैं ना कि कोई खानेके लिये जीते हैं तो कोई जीनेके लिये खाते हैं। संत जन आवश्यक जीनेके लिये खाता है। साधुजनोंके अनसनोंका भी एक बड़ा प्रसंग आता है उपवास। परन्तु वे उपवासमें भी ममता नहीं रखते। मोही तो अनसन करके मरे भी जा रहे हैं फिर भी यह लालसा लगी है कि एक अनसन तो और कर लें, तेला अनशन कहलाने लगेगा। विवेकी पुरुषोंकी यह वृत्ति रहती है कि उचित है तो अनशन किया और उचित है

तो भोजन किया, उनको निवासमें भी ममता नहीं है। वे अच्छी जगह रहते हैं, शमसानमें रहते हैं एकान्तमें, गुफामें रहते हैं फिर भी उनको निवासमें ममता नहीं है। विहार में नाना देश मिलते हैं और तरह तरहके मनुष्य मिलते हैं पर उनका किसी समागममें ममता नहीं है और न उन्हें विहार में ममता है। इस प्रकार उनके पास अब उपाधि रहगया तो शरीर पीछी, कमण्डल शास्त्र चार चीज रह गई सो इन चारों में भी साधुके ममत्व नहीं हैं।

शरीरके प्रति समता भाव :—शरीर तो छोड़ा ही नहीं जा सकता वह तो अप्रतिषिद्ध है सो उसे यों समझे रहते हैं कि शरीर है, यह छूटता तो है नहीं। हम वर्तमानमें इसके निमित्तसे कितने बड़े विकल्प में हैं, कीचड़में है, हमें विकल्पोंसे छूटना है बहुत से चिंतन और ध्यानका काम करते हैं और अभी ऐसी स्थिति तो है नही कि मनको निमित्त नही बनाए और ज्ञान भावसे ही ज्ञानको करते रहें, ऐसी स्थिति तो है नहीं किन्तु अभी तो इन इन्द्रियों और मनके निमित्तसे बहुत विकट संकट की स्थितियां हैं। ऐसी स्थितिमें हमें इन्द्रिय और मन को अच्छी जगह झुकाना है। सो शरीर आवश्यक है, यह श्रामण्य परिणाम का सहकारी कारण है। इस कारण यह शरीर अभी छोड़नेके लिए नहीं है। फिर भी इस शरीरमें उसको कोई प्रकारकी ममता नहीं है, इस प्रकार शास्त्र, कमण्डल, पीछीमें भी ममता नहीं हैं।

शिष्य और वचनोंमें भी ममताका अभाव :—अब अन्य दो चीजका वर्णन आ रहा है कि साथमें रहने वाले साधुओंमें भी ममता नहीं है और बराबरी में जो बातचीत होती है उसमें भी ममता नहीं है। साथ में जो साधू जन हैं वे कथंचित् परिचित हैं किन्तु उन साधुओं में भी कोई आसक्ति का तो सम्बन्ध है नहीं, सम्बन्ध है तो बोध्य बोधक भाव का सम्बन्ध है। यानी कोई किसी से समझ रहा है, कोई किसी को समझा रहा है। इतना मात्र सम्बन्ध है और सम्बन्ध क्याहै। एक त्याग मार्ग है जैसे कि हमारी त्याग मार्ग की वृत्ति है। उस प्रकार एक दूसरे से समझता है, एक दूसरे को समझाता है। बस समझने और समझाने का सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध परिचय को कारण बनता है। फिर भी उनमें ममता नहीं है, राग निबद्ध नहीं है।

सुकथा में ममता का अभाव :—भैया जो परस्पर बात होती है, बात छोड़कर आत्म व्यवथा में पहुंच जाता है। जो शुद्ध आत्मा तत्त्व का विरोधी

न हो, जो शुद्ध आत्म द्रव्य की संगति करे वह तो सुकथा है और जो आत्म स्वरूप का विरोधी बने वह सब विकथा है। साधु जन को विकथाओं और वचनालापों में तो रुचि ही क्या हो। सुकथा के वचनों में भी ममता नहीं है। वह शुद्ध पुद्गलों के भाषा वर्णना का परिणमन से सम्वलित अवस्था में हमारा जो उपयोग है चैतन्य की भीट है, इसमें वड़ा चित्रण होता है, छाया आती है। वे शुद्ध आत्म द्रव्य का विरोधी हैं। वचन ज्यादा वोलना भला नहीं है, जितना कम वोले और जितना कम सुने उतनी ही शान्ति की पात्रता है। ज्यादा वोलने में शांति का भंग होता है। चाहे वह अपने आपका प्रेमी क्यों न हो उससे भी ज्यादा वोलो तो शांति नहीं रहती है। साधुजन विकथाओं में भी उनके विकल्पों से अपने चैतन्य भूमि को चित्रित नहीं करने देते। यह श्रमण तो ज्ञान घन में रहता है, वाहर में कहां रहेगा ? यह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की उपासना में रहता है। इस तरह यतिजन में सभी सूक्ष्म परद्रव्यों का भी सम्वन्ध नहीं होता।

परद्रव्य का सम्वन्ध आपत्ति का कारण :—यदि यतियों में थोड़ा सा परद्रव्य का सम्वन्ध हो जाय तो वह सम्वन्ध धीरे-धीरे श्रामण्य को उखाड़ देगा। एक साधू सन्यासी था। उसकी लंगोटी को एक चूहा खा जाया करता। इससे उस साधू ने एक विल्ली पाल ली कि उसके डर से चूहे नहीं आवें, तो एक लंगोटी की ममता से एक विल्ली पाल ली और उस विल्ली के लिए दूध भी चाहिए तो गाय पाल ली और गाय की देख रेख के लिए एक दासी भी रख ली। यह विल्ली गाय और दासी इतने परिग्रह बन गए। दुर्दैव से साधू का दासी से सम्वन्ध हो गया सो दासी के वाल वच्चे गायके वछड़े विल्लीके विलोटे इतना संग होगया। अव उसे जाना था दूसरे गांव, तो उसके साथ में गाय, विल्ली, वच्चे और दासी भी सव गए। रास्ते में पड़ी एक नदी। उस नदी में से वे निकलने लगे तव ही वाढ़ आ गई और वहने लगे तो साधू को वच्चा, विल्ली, गाय, दासी सवने घेर लिया तो साधू भी डूवने लगा तो साधू ने सोचा कि यह सव आफत एक लंगोटी के पीछे हुई तव साधू लंगोटी को निकालकर सवका मोह हटा कर पार हो गया। और वे भी अपने आप पार हो गए। देखो एक लंगोटी के सम्वन्ध ने भी व्रत और संयम को भङ्ग कर दिया। इसलिए प्रारम्भ में ही सूक्ष्म परद्रव्य का सम्वन्ध भी न रखो।

शिथिलताके पनपनेका एक दृष्टान्त :—गुरूजीने वतलाया था कि एक

सन्यासी था वह दो चार घर से खाली ग्राटा मांग लिया करता था, सूखी रोटी खाकर मस्त रहता था। एक दिन ग्रहस्थने ग्राग्रह किया कि इसके साथ थोड़ा सा ग्रचार भी लेलो, ग्रहस्थ ने वहुत मनाया कि महाराज थोड़ा नीवू ले लीजिए तो उस दिन उसने नीवू के ग्रचारसे खाया ग्रौर दूसरे दिन ग्रचारसे मोह कर लिया। एक दिन फिर एक ने कहा कि जरा घी ले लो तो घी भी ले लिया, एक ने कहा कि जरा साग ले लो तो साग भी ले लिया ग्रौर एक ने कहा कि जरा फल ले लो ग्रौर फल भी ले लिए। फिर साधुकी कुटीमें फलोंके ढेरोंके ढेर लगे। इस वृत्तिसे उसका मोह लग गया। कैसाही सूक्ष्म हो परद्रिव्यका सम्वन्ध निषेध है।

साधुकी परमार्थरुचि—जो ज्ञानी संत, साधू होते हैं वे सिवाय एक निज परमात्मद्रव्यके ग्रन्यत्र किसीको भी उपयोगमें नहीं लगाता। भैया योग्य ग्राहार तो शास्त्रविहित भी है योग्य, शुद्ध निर्दोष ग्राहारसे भी ममता नहीं करते। वे जानते हैं कि मेरा तो निराहार स्वरूप है। केवल ज्ञाता दृष्टा रहना कैसा भी विकल्प न होना मेरा कार्य है। साधू शुद्ध ज्ञान, वर्तना में संतुष्ट रहना यह मेरा पुरुषार्थ है। मैं स्वभावमय हूं व शरीर भी साथ लगा है। वर्तमानकी कचाईकी स्थितिमें उसकी रक्षा करना कुछ समय तक ग्रावश्यक समझा जारहा है तो इसके वनाए रहनेके लिए वे ग्राहारको उठते हैं, विधिपूर्वक निर्दोष ग्राहार लेते है। उसमें भी उन्हें खेद होता है। इस प्रकार ग्रन्य सव ग्रावश्यक प्रवृत्ति का भी लक्ष्य नहीं होता है। ग्रौर तो क्या, साधु जन तो रत्नत्रयकी मूर्ति हैं। वे तो कल्याणमय हैं, तत्त्वकी चर्चाके स्थान हैं।

ग्रनुकूल सहवासियों में भी ममता का ग्रभाव :—ज्ञानी साधु के साथ ग्रनेक ज्ञानी पुरुष रहते हैं, साधुजन रहते हैं किन्तु उनमें भी श्रमण के ममता परिणाम नहीं है, कैसी हो ममता ? जव जान लिया कि प्रत्येक जीव स्वतंत्र सत् है किसीका किसीमें कैसा स्वामित्व भी नहीं है। फिर मोहही क्या। मोह तो ग्रज्ञान में होता है ग्रभी हम सव, ग्राप सब वैठे हैं क्या कोई दुखी है ? कोई दुख नहीं है ग्रपने तनहा वैठे हैं, ग्रपनी ग्रकेली ग्रात्मा में सव ग्रकेले हैं न। क्या खेद, कोई भी कष्ट है ? ग्रकेले ही हैं, ग्रकेले का ही ध्यान लगा लो विलक्षण ग्रानंद है। पर यह उपयोग सही बात में तो रहा नहीं, जो झूंठी थोथी वातें है वाह्य दृष्टि में उलझकर उनमें पहुँचते हैं ग्रौर ग्रपने ग्राप दुखी होते हैं। संघ में ग्रनेकों ज्ञानी पुरुष साथ रहते हैं। उनसे बरावर वात्सल्य भी किया जाता है, प्रेम का व्यवहार भी चल रहा है, एक दूसरे की सेवा भी करते हैं तिस पर भी साधु पुरुष की किसी भी जीव में ममता नहीं

न हो, जो शुद्ध आत्म द्रव्य की संगति करे वह तो सुकथा है और जो आत्म स्वरूप का विरोधी बने वह सब विकथा है। साधु जन को विकथाओं और वचनालापों में तो रुचि ही क्या हो। सुकथा के वचनों में भी ममता नहीं है। वह शुद्ध पुद्गलों के भाषा वर्णना का परिणमन से सम्बलित अवस्था में हमारा जो उपयोग है चैतन्य की भीट है, इसमें बड़ा चित्रण होता है, छाया आती है। वे शुद्ध आत्म द्रव्य का विरोधी हैं। वचन ज्यादा बोलना भला नहीं है, जितना कम बोले और जितना कम सुने उतनी ही शान्ति की पात्रता है। ज्यादा बोलने में शांति का भंग होता है। चाहे वह अपने आपका प्रेमी क्यों न हो उससे भी ज्यादा बोलो तो शांति नहीं रहती है। साधुजन विकथाओं में भी उनके विकल्पों से अपने चैतन्य भूमि को चित्रित नहीं करने देते। यह श्रमण तो ज्ञान घन में रहता है, बाहर में कहां रहेगा ? यह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वभाव की उपासना में रहता है। इस तरह यतिजन में सभी सूक्ष्म परद्रव्यों का भी सम्बन्ध नहीं होता।

परद्रव्य का सम्बन्ध आपत्ति का कारण :—यदि यतियों में थोड़ा सा परद्रव्य का सम्बन्ध हो जाय तो वह सम्बन्ध धीरे-धीरे श्रामण्य को उखाड़ देगा। एक साधू सन्यासी था। उसकी लंगोटी को एक चूहा खा जाया करता। इससे उस साधू ने एक बिल्ली पाल ली कि उसके डर से चूहे नहीं आवें, तो एक लंगोटी की ममता से एक बिल्ली पाल ली और उस बिल्ली के लिए दूध भी चाहिए तो गाय पाल ली और गाय की देख रेख के लिए एक दासी भी रख ली। यह बिल्ली गाय और दासी इतने परिग्रह बन गए। दुर्दैव से साधू का दासी से सम्बन्ध हो गया सो दासी के बाल बच्चे गायके बछड़े बिल्लीके बिलोटे इतना संग होगया। अब उसे जाना था दूसरे गांव, तो उसके साथ में गाय, बिल्ली, बच्चे और दासी भी सब गए। रास्ते में पड़ी एक नदी। उस नदी में से वे निकलने लगे तब ही बाढ़ आ गई और बहने लगे तो साधू को बच्चा, बिल्ली, गाय, दासी सबने घेर लिया तो साधू भी डूबने लगा तो साधू ने सोचा कि यह सब आफत एक लंगोटी के पीछे हुई तब साधू लंगोटी को निकालकर सबका मोह हटा कर पार हो गया। और वे भी अपने आप पार हो गए। देखो एक लंगोटी के सम्बन्ध ने भी व्रत और संयम को भङ्ग कर दिया। इसलिए प्रारम्भ में ही सूक्ष्म परद्रव्य का सम्बन्ध भी न रखो।

शिथिलताके पनपनेका एक दृष्टान्त :—गुरूजीने बतलाया था कि एक

सन्यासी था वह दो चार घर से खाली आटा मांग लिया करता था, सूखी रोटी खाकर मस्त रहता था। एक दिन ग्रहस्थने आग्रह किया कि इसके साथ थोड़ा सा अचार भी लेलो, ग्रहस्थ ने बहुत मनाया कि महाराज थोड़ा नीबू ले लीजिए तो उस दिन उसने नीबू के अचारसे खाया और दूसरे दिन अचारसे मोह कर लिया। एक दिन फिर एक ने कहा कि जरा घी ले लो तो घी भी ले लिया, एक ने कहा कि जरा सांग ले लो तो साग भी ले लिया और एक ने कहा कि जरा फल ले लो और फल भी ले लिए। फिर साधुकी कुटीमें फलोंके ढेरोंके ढे र लगे। इस वृत्तिसे उसका मोह लग गया। कैसाही सूक्ष्म हो परिद्रव्यका सम्बन्ध निषेध है।

साधुकी परमार्थरुचि—जो ज्ञानी संत, साधू होते हैं वे सिवाय एक निज परमात्मद्रव्यके अन्यत्र किसीको भी उपयोगमें नहीं लगाता। भैया योग्य आहार तो शास्त्रविहित भी है योग्य, शुद्ध निर्दोष आहारसे भी ममता नहीं करते। वे जानते हैं कि मेरा तो निराहार स्वरूप है। केवल ज्ञाता दृष्टा रहना कैसा भी विकल्प न होना मेरा कार्य है। साधू शुद्ध ज्ञान, वर्तना में संतुष्ट रहना यह मेरा पुरुषार्थ है। मैं स्वभावमय हूं व शरीर भी साथ लगा है। वर्तमानकी कचाईकी स्थितिमें उसकी रक्षा करना कुछ समय तक आवश्यक समझा जारहा है तो इसके बनाए रहनेके लिए वे आहारको उठते हैं, विधिपूर्वक निर्दोष आहार लेते है। उसमें भी उन्हें खेद होता है। इस प्रकार अन्य सब आवश्यक प्रवृत्ति का भी लक्ष्य नहीं होता है। और तो क्या, साधु जन तो रत्नत्रयकी मूर्ति हैं। वे तो कल्याणमय हैं, तत्त्वकी चर्चाके स्थान हैं।

अनुकूल सहवासियों में भी ममता का अभाव :—ज्ञानी साधु के साथ अनेक ज्ञानी पुरुष रहते हैं, साधुजन रहते हैं किन्तु उनमें भी श्रमण के ममता परिणाम नहीं है, कैसी हो ममता ? जब जान लिया कि प्रत्येक जीव स्वतंत्र सत् है किसीका किसीमें कैसा स्वामित्व भी नहीं है। फिर मोहही क्या। मोह तो अज्ञान में होता है अभी हम सब, आप सब बैठे हैं क्या कोई दुखी है ? कोई दुख नहीं है अपने तनहा वैठे हैं, अपनी अकेली आत्मा में सब अकेले हैं न। क्या खेद, कोई भी कष्ट है ? अकेले ही हैं, अकेले का ही ध्यान लगा लो विलक्षण आनंद है। पर यह उपयोग सही बात में तो रहा नहीं, जो झूंठी थोथी बातें है वाह्य दृष्टि में उलझकर उनमें पहुँचते हैं और अपने आप दुखी होते हैं। संघ में अनेकों ज्ञानी पुरुष साथ रहते हैं। उनसे बराबर वात्सल्य भी किया जाता है, प्रेम का व्यवहार भी चल रहा है, एक दूसरे की सेवा भी करते हैं तिस पर भी साधु पुरुष को किसी भी जीव में ममता नहीं

है। देखो साधु समागम अच्छा है, साधु अपने मार्ग में लगा है। इसके कारण दूसरे का भी बड़ा उपकार है। सब कुछ जानता हुआ भी साधु पुरुष अपने साथी में भी ममता नहीं करते।

वात के पक्ष की साधु में असंभावना :—जिनके गुणों के विचार से अपूर्व पुण्य बंध होता है जो अपने ही समान शील संयम के धारक हैं, ऐसे ही साधूजनों मे भी ममत्व भाव साधू का नहीं है फिर तो विकथाऐं व राग पढ़ने वाले शृंगार रस आदि की जो अनेक विकथाए हैं जो समाधि को भङ्ग करने वाले हैं उन विकथाओं से साधू लगे ही क्या? जो सत्य कथा हो रही है, जो धर्म वचन हो रहा है उनमें भी जो वे रमते नहीं है उन वचनों से तो अपना उपकार की वात कर लेता है परन्तु उन वचनों में ममता नहीं है। तत्त्व चर्चा चल रही है और कोई वात साधू सत्य कह रहा है पर किसी अन्य को वात समझ में नहीं आती। समझ में नहीं आती तो उसे अपनी वात का फील नहीं है कि तुम मेरी वात क्यों नहीं मानते अथवा कोई वात न माने तो उसे वात मानने का राग नहीं है, ऐसा निर्लेप केवल आत्महित के लिए ही उद्यमी साधू संत पुरुष की अलौकिक वृत्ति होती है।

आगमानुकूल क्रिया में भी ममता का अभाव :—आगम विरुद्ध आहार और विहार तो कोई साधू करता ही नहीं, आगम के अनुकूल योग्य आहार विहार करे तो उसमें भी ममत्व भाव साधू को नहीं होता।

परकृत वन्दनादि में नीरसता का परिणाम :—वन्दना, स्तवन करते हुए भी साधू यह जानता है कि यह वन्दना स्तवन रूप कार्य मेरी आत्मा का स्वभाव नहीं है इसमें और बढ़कर आगे की वात हैं कि वह प्रभू की भक्ति करता है और भक्ति के परिणाम से हटकर आत्म की ओर झुके रहते हैं। इससे बढ़कर और सावधानी क्या हो सकती है। यों उन्हें परद्रव्य से न्यारा परभाव से न्यारा चैतन्य स्वरूप मात्र अपने आत्म तत्त्व में अनुभूति होती है। ऐसे ज्ञानी पुरुष किसी भी पर भाव में रम नहीं सकते। मोक्ष पाने वाले पुरुषों को केवल एक स्वभाव ही रुचता है उन्हें और कुछ नहीं रुचता है, न दीखता है। वे अपने शुद्ध स्वरूप के रसिक होते हैं।

परद्रव्य की हेयता :—भैया वाह्य पर पदार्थों के सँग की बात देखो कैसे-कैसे प्रोग्राम बड़े बनालें और कुछ वाह्य संयम भी कर लें तो भी उपधि के संग मे विकल्प टूट नहीं सकता सो उन वाह्य पदार्थों को तो

हटाना ही पड़ेगा। जैसे जैसे जिन्दगी बढ़ती जाती है, उलझनें भी बढ़ती जाती हैं, सोचा होगा अब मैं १०-५ वर्षों पहिले कि अब मैं, ५-६ महीने में ही सबसे निवृत्त हो जाऊंगा। और अपने को जो हित होगा उसी में लगेंगे ऐसा सोचा था ना। ५ वर्ष पहिले १० वर्ष पहिले। अब ५-१० वर्ष गुजरने के बाद क्या हालत है कि सोचा तो आत्म ध्यान का था मैं निर्विकल्प चैतन्य स्वरूप की उपासना करूंगा, किन्तु अब केवल तृष्णा ! तृष्णा !! तृष्णा !!! साथ रह गई। भैया कुछ नहीं रहेगा साथ, पर तृष्णा के भाव के कारण इसका उभय जीवन बिगड़ जायेगा। इसलिए ममता को त्यागें।

ममता की व्यर्थता :—व्यर्थ की यह ममता है मेरा तो कुछ है नहीं और जबरदस्ती से मानता है जैसे कोई पर स्त्री वेश्या किसी की हुई तो है नहीं, पर माननेके लिए अपने आप कोई कामी कोशिश कर रहा है कि मेरी है, उसके होने की हैं नहीं तब विडम्बना उसके लगी रहती हैं। इसी तरह परद्रव्य तीन काल में भी इसके होने तो है नहीं कुछ, पर जबरदस्ती से मानने लग रहा है जिसको मानता है कि मेरा है इसके कारण चोटें लग रही हैं, क्लेश हो जाता है, बहुत से बन्धन में फंसे हैं फिर भी अपने माने बिना यह राजी ही नहीं होता। वे अलग हट रहे हैं और तुम जबरदस्ती अपना मान रहे हो।। सर्व प्रकार से परद्रव्य का प्राप्ति सम्बन्ध का साथ त्यागना ही चाहिए।

हितके उपाय की सबके लिये एक रुपता:—जैसे मनुष्य का जन्म एक समान है, चाहे ईसाई हो, मुसलमान हो, जैन हो, वैष्णव हो और मरण भी एक समान और सुख दुख का भोगना भी एक समान है। इसी तरह शान्ति पाने का मार्ग भी एक ही है। यह नहीं है कि कोई दूसरे उपाय से मोक्ष पावेगा और हमें दूसरे मार्ग से मिलेगा। मोक्ष का मार्ग एक ही है वह श्रामण्य समता परिणमन में रहना, राग द्वेष नहीं होना, ज्ञाताद्रष्टा रहना एक यह शुद्ध परिणाम ही मोक्ष का कारण है सो इस अपने हित को साधना के लिए अपने सब कुछ भी न्योछावर करें परन्तु अपने हित की प्राप्ति करले

स्वहित के लिये सफल सन्यास के संकोचकी अकरणीयता:—भैया नीति कहते हैं कि अपने गाँव में रहने से यदि देश का अहित होता है तो घर त्याग दे। दूसरे के हित के लिए गाँव और नगर भी त्याग दिया जाता है पर अपने हित के लिए नीति शास्त्र में बताया है कि सब कुछ भी त्याग दे और अपना हित होता हैं तो उसमें संतोष हो। अपने लक्ष्य के लिए तीर्थंकरों ने

भी समस्त वैभव का त्याग कर दिया। अपने एकत्व का ध्यान रखने वाले साधु पुरुष सूक्ष्म भी परद्रव्य में ममता परिणमन को नहीं करते उन सब से निवृत्त होकर एक अपने शुद्ध चैतन्यमात्र की भावना में रहता है।

शान्तिका कारण समीचीन श्रद्धा :—सम्यक्दर्शन के बिना जीव के शान्ति नहीं मिल सकती। कारण यह है कि अशांति तो हमने आप ही पर में प्रेम करके उत्पन्न की है, जो पदार्थ अपने नहीं हैं, उसे अपना मानकर तो आकुलता ही बनाई जा सकेगी। हम चाहेंगे कि अमुक पदार्थ या अमुक जीव मेरी इच्छा के अनुकूल अपना ही परिणमन करे, किन्तु अन्य पदार्थों के परिणमन का अपनी इच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं है। हम इच्छा किए जाए वह हमारा विकार है पर जैसे इच्छा की वहां परका कुछ बन जाय तो इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इच्छा के अनुकूल जब कोई बात नहीं मिलती हैं तो उन्हें आकुलता होती है। मुनिजन परमेष्ठी इच्छा से बिलकुल परे हैं। ये मुनिजन परमेष्ठी कहलाते है, कुछ भी उनको चाह नहीं है। वे अपने सहज स्वरूप को निरख कर सदा प्रसन्न रहते हैं जिसके चित्त में यह बुद्धि लगी है कि हमें अमुक काम करने को पड़ा है, उसको आकुलता होगी। जिसका यह निर्णय है कि मेरे को कोई भी बाह्य पदार्थ कुछ भी करने को नहीं पड़ा है उसको आकुलता नहीं रहेगी। हम जितना ज्ञान और आनंद पाते हैं वह अपने ही आश्रय से पाते है।

मेरी परिणतियोंका मुझमें स्रोतपना :—मुझे, न ज्ञान देने वाला कोई दूसरा है, न आनंद देने वाला कोई दूसरा है। अन्य जन हमारे अपूर्ण ज्ञान में और विकारी आनंद में भले ही निमित्त बन जांय पर जो कुछ मेरे में प्रकट होता है वह मेरे में ही मेरे से होता है। इन्द्रिय सुख भी इससे प्रकट होता है, भोगके साधनों से प्रकट नहीं होता याने वे भी अपने आपकी आनंद शक्ति के विकारी परिणमन से प्रकट होते हैं।

सुखका आधार कृतकृत्यता का भाव :—प्रत्येक सुख इस भाव में आधारित हैं कि अब मुझे करने को काम नहीं रहा। एक मकान बनवाया और मकान मेरा बन चुका है, बड़ा संतोष होता है, आनंद होता है वह आनंद मकान से नहीं होता है किन्तु मकान बन चुकने पर एक भाव यह बनता है कि अब मेरे को मकान बनवाने का काम नहीं रहा, इस भाव से आनंद आता है। बड़े ध्यान से इस विषय पर विचार करना चाहिए कि दुकान पर बैठे हैं और जैसी आशा की उसके अनुकूल आय हो गई तो दुकान से बड़े संतोष के साथ उठता है। वह संतोष और आनंद किसी धन पैसे से उछलकर नहीं हुआ,

किन्तु अब मेरेको काम करने को नहीं रहा है, ऐसा जो भाव आता है उस भाव से उसे आनंद मिलता है।

सुखके आधारभूत भावपर एकदृष्टान्त.—जैसे किसी मित्र का पत्र आजाय कि मैं कल सुबह १० बजे वाली अमुक गाड़ी से गुजर रहा हूं और तुम स्टेशन आकर मिल जाओ। इस पत्र के पढ़ने के वाद उसको आकुलता हो गई कि मुझे मित्र से मिलना है, मेरेपर अभी मिलने का काम पड़ा है वह अपने सब कार्यो को जल्दी जल्दी करता है और स्टेशन पर आध घंटे पहले पहुँच जाता है और जाकर पूछता है कि आज ट्रेन लेट तो नहीं है आज वह गाड़ी के लेट का समय भी पूछ रहा है आज गाड़ी पर भी दया आगई। गाड़ी १०मिनट लेट हो गई मालूम होने पर उसकी वेचैनी इतनी बढ़गई कि १० मिनट पूरे होते ही जव गाड़ी स्टेशन परआई तो गाड़ी के डिब्बे को बड़ी तेजी से देखने लगा कि कौन से डिब्बे में मिलेगा मेरा मित्र और वह डिब्बा भी उसको मिल गया तो अब गाड़ीमें अपने मित्रसे मिलता है और दो मिनट बाद देखता है कि कहीं हरी झंडी तो नहीं होगई गाड़ी छूट न जाय अरे वह सुख मित्र से मिला है ना, तो मित्र से ही मिलता रहे ना, मित्र के साथ में ही ट्रेन में चला जाय न, किन्तु ऐसा नहीं करता, क्यों नहीं करता। जो सुख उसे मित्र के मिलने से हुआ वास्तव में वह मित्र के मिलने से नहीं था, किन्तु मित्रसे मिलने का काम पड़ा है इस भाव से आकुलता हुई उस आकुलता को मेटने के लिए यह यत्न किया मित्र के मिलने के बाद यह भाव हो गया कि अब मुझे यह काम नहीं रहा। जितना भी सुख होता है वह इस भाव से सुख होता है कि मुझको अव काम करने को नहीं रहा।

सुखाभास में भी कृतकृत्यता के आंशिक भाव का प्रसादः—हीन ज्ञान व हीनसुख वाले जो कामके होनेके बाद यह भाव कर पाते हैं कि अव मेरे करने को काम नहीं रहा उन्हें भी कृतकृत्यता के अनुभवका सुख मिला। भैया, इच्छानुसार पर पदार्थो का काम नही होता है तो यह चिन्ता और शल्य भाव ही रहता है।, किन्तु ज्ञानी संत जो वस्तु स्वरूप को समझते हैं, पर पदार्थ सब परस्पर जुदे हैं। किसी पदार्थ का अस्तित्व किसी दूसरे पदार्थ में मिला हुआ नहीं। प्रत्येक स्वतंत्र अपने स्वयं अस्तित्व में है। कोई किसी का कुछ परिणमन नहीं करता, सर्व स्वतंत्र पदार्थ हैं। मैं भी किसी दूसरे का कुछ परिणमन नहीं करता, कर ही नही सकता, कभी किया ही नहीं आगे किया भी न जा सकेगा।

प्रसन्नता का हेतु वस्तु का यथार्थ अवगमः—ज्ञानी को वस्तुस्वातन्त्र्यका

स्पष्ट बोध है। इस श्रद्धा के कारण ज्ञानी अतंरंग मे प्रसन्न रहता है। अप्रसन्न वह रहा करता है जिसके चित्त मे यह भाव बसा है कि मेरे को तो अभी करने के लिए अमुक काम पड़ा है। कृतकृत्यता का भाव ही आनंद का कारण है। मैं कर चुका जो मुझे करना था। क्या कर चुका समझ चुका कि सर्व पदार्थ स्वतंत्र हैं किसी भी पदार्थ का अन्य में प्रवेश नहीं है। ऐसा ही मैं निराला अपने आप में बसने वाला हूं, कि मेरा इस दुनिया में करने के लिये कुछ काम नहीं रहा, इसे कहते है सत्य श्रद्धा, यद्यपि किसी पदार्थ का किसी पदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, फिर भी पदार्थों में ऐसी अलौकिक शक्ति है कि अन्य को निमित्तमात्र पाकर स्वयं परिणमते रहा करते हैं।

निमित्त नैमैत्तिक भाव होने पर भी वस्तु का एकत्व सुरक्षित :—— जीव और पुदगल में विभावशक्ति है जिससे अन्य पदार्थो को निमित्त मात्र पाकर अपनी योग्यता के अनुकूल अपना विभाव परिणमन किया करते हैं।। जैसे दो बालक हैं। दोनों २०—२० हाथ पर खड़े हुए हैं। एक बालक अपनी उंगली मटकाता हुआ उसे चिड़ाता है और २० हाथ पर खड़ा हुआ बालक उसको देखकर दुखी होता है, चिड़ता है। उस मार्ग से दो पुरुष गुजरे। पहला पुरुष कहता है उस चिड़ाने वाले से, तू व्यर्थ मे ही उसको क्यों परेशान करता है, तू उसे क्यों चिड़ाता है, दुखी करता है। तो वह जवाब देता है। कि मैं इसको विल्कुल परेशान नही करता। मेरा हाथ है, मटकाता ,हूं मेरी जीभ है, चलाता हूं । मैं उसको कुछ भी परेशान नहीं करता। चिड़ाने वाले से कि भैया क्यों विकल्प करता है ? वह तो तुझ से दूर है और अपने ही हाथ पैर पसार रहा है अरे तुम क्यों अपना सम्बन्ध मानकर उसमें उपयोग रखकर दुःखी होते हो ? जैसे यह चिड़ने वाला अपनी कल्पना को ही बना रहा है इसलिए दुखी हो रहा हैं। चिड़ाने वाला उस दूसरे बालक में कुछ नही करता।.दूसरे बालक की चेष्टा उस बालक में रह कर समाप्त हो जाती है। फिर भी चिड़ने वाले की कल्पना का विषयभूत वह बालक है, इसको आश्चर्य भूत बनाकर अपनी स्वयं कल्पना बनाता है कि वह दुखी होने लगता है इस प्रकार जगत के ऐसे सभी विकृति पदार्थ की बात है.।

पदार्थोंकी स्वतन्त्रता—प्रत्येक पदार्थ अपने स्वतन्त्र परिणमनसे परिणमते है। कोई पदार्थ किसी अन्य पदार्थकी शक्तिको लेकर नहीं परिणमता है वहां निमित्त है पर। क्योंकि, विभाव रूप परिणमनमें कोई उपाधि निमित्त

होती है तब उपादान में विकार बनता है। यदि विकार परिणमन भावत उपाधिके सानिध्य बिना होजाय तो फिर कोई पदार्थ शुद्ध नहीं रह सकेगा। जब चाहे स्वभावतः अशुद्ध बन बैठेगा। सो विषयकषाय परिणमन दूसरे पदार्थका निमित्त पाकर होता है। फिर भी देखो कि विकार रूप परिणमने वाले ये जीवआदि पदार्थ अपनी ही शक्तिके परिणमनसे परिणमते हैं अन्यकी शक्ति से नहीं, ऐसी अवान्तरसत्ताका ज्ञान रखनेवाले ज्ञानी संत पुरुष को जो कि चारित्र, मोह आदिके क्षयोपशम के अनुसार अपने परिणमन को प्रेक्टीकल (Practical) बना रहा है उनकी यह श्रद्धा है कि मेरे भीतर में तो सहज चैतन्य भाव ही है यद्यपि प्राथमिक दोषमें विकल्प होते हैं। काम करने का भाव होता है, व्यवहारमें काम करता भी है किन्तु अन्दर में यह पवित्र श्रद्धा बनी हुई है कि सर्वत्र हम अपने दर्शन, ज्ञान चारित्र आनंद इत्यादि शक्तियों के परिणमनसे ही परिणाम रहे हैं, अन्य के गुणों में नहीं परिणमते।

शान्तिका कारण भ्रमविनाश व ज्ञानप्रकाश—भैया, शुद्ध ज्ञान बिना अपने को शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। बाह्यपदार्थों में, मात्र कल्पनासे मिले हुए बाह्यपदार्थोंमें, कितना उपयोग दिया, श्रम किया कितने विकल्प बनाए, पर किन्हीं विकल्पोंसे कोई सिद्धि हुई ! अभी तक सत्य शान्ति प्राप्त हुई नहीं। मिथ्या दर्शनके परिणमनमें शान्ति आ नहीं सकती। जैसे कुछ अंधेरे उजाले में एक रस्सी पड़ी हुई है, उस टेड़ी मेड़ी लम्बी रस्सी देखकर यह—भ्रम बन जाय कि यह सांप है इस भ्रम में' इस कल्पना में आशंका होती है, घबराहट होजाती है, डर लगने लगता है, लोगोंको पुकारने लगता है, पर कुछ थोड़ी देरबाद वह सोचने लगता है कि आखिर जाने तो सही कि यह सांप कौनसी जातिका है। कुछ हिम्मत बनाकर आगे बढ़ा, उसे देखा तो मालूम हुआ कि यह तो जरा भी सांस नहीं लेता, हिलता, झुलता भी नहीं है। उसने और हिम्मतकी और आगे चलकर देखा तो स्पष्ट समझमें आगया कि यह—सांप नहीं है, रस्सी है। इस समझके आते ही उसकी घबराहट, आकुलता उसी समय समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार जबतक बाह्यपदार्थों को अपना मानने का भ्रम है तबतक आकुलता है।

वस्तुकी यथार्थ निरखका परिणाम—ज्ञानी पुरुष वस्तु स्वरूपकी सत्य कसौटी से पदार्थोंको यह देखता है कि सर्व पदार्थ अपनी अपनी शक्तिमें रहा करते हैं। तब सब इस प्रकार स्वतंत्र अस्तित्वमय ज्ञात होने लगते हैं। चाहे विकारी अवस्था में भी क्यों न हो। उस विकारमें भी इस जीवके

द्वारा इसी जीवको अकेले को ही किया गया। यह विकार अन्य पदार्थमें मिलकर परिणमत नहीं हुआ। यों ही स्वयंको निहारते ही यह सब दुर्बलता समाप्त हो जाती हैं भले ही चारित्र, मोहके उदयमें होनेवाले रागद्वेषकी विह्वलता है किन्तु अन्दरमें अज्ञान न होने से भूले भटके हुए की तरह विह्वल नहीं है। अपनेको शान्ति चाहते हो तो भैया, शांतिका उपाय सम्यक दर्शन है। हम वस्तु स्वरूपको जानें तो हमारी अशान्तियाँ दूर हो सकती हैं।

छेद क्या कहलाता है अर्थात् संयमका दोष क्या होता हैं। इस बात को श्री कुंदकुंदाचार्यजी इस २१६वीं गाथामें बताते है।

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकालं हिंसा सा संततत्ति मदा ॥२१६॥

प्रमादका परिणाम—सोनेमें बैठनेमें, खड़े होनेमें, चलनेमें आदि अनेक कार्योंमें जो अयत्नाचार रहता है सो ही हिंसा हैं। हिंसा स्वयमकी एक परिणति है। किसी परजीवका मरण हो गया तो उस पर जो गुजरा वह तो उस जीवकी परिणति हैं। और यह जिसकी असावधानी है इसका प्रमाद है यह इसकी परिणति है। इसे जो हिंसा लगी वह दूसरे के प्राण जानेसे नहीं लगी, किन्तु इसका उपयोग स्वयं अशुद्ध बना इससे हिंसा लगी। भैया, दूसरे जीवके प्राणघातमें हम निमित्त बनते जायें और हमारा उपयोग शुद्ध रहा करे ऐसा होता नहीं है। किन्तु कदाचित् किसी श्रमणके ऐसा प्रसंग हो जाय कि उनके शरीरके निमित्तसे जीवघात हो जाय और उपयोग उनका शुद्ध रहा आए तो वहां उन्हें हिंसा नहीं लगती। छेद अशुद्ध उपयोग है, कारण कि उस अशुद्ध उपयोगने शुद्ध उपयोग छेद कर दिया, समता परिणामनका घात कर दिया, इस कारण अशुद्ध उपयोग ही हिंसा है। यह अज्ञानी जीव नित्य अपने शुद्ध चैतन्य प्राणकी हिंसा करता रहता है।

हिंसा परिणमन और अहिंसा परिणमन—भैया! दो ही तो परिणमन हैं—हिंसा और अहिंसा। अहिंसा परिणमन मोक्षमार्ग व मोक्ष है और हिंसा परिणमन जगत जाल है। यदि श्रमणके यत्नाचार नहीं हैं तो अयत्नाचारकी प्रवृत्तिमें अशुद्ध उपयोगका सम्बन्ध है यदि अशुद्ध उपयोग न होता तो उसका अयत्नाचार न होता। आत्माकी ओर दृष्टि नहीं है, असावधानी है तो उसके श्रामण्यचर्या नहीं है। अयत्नाचारकी चर्या हैं तो अशुद्ध उपयोग होनेसे हिंसा होती ही है। भैया, लोकेषणाका परिणाम भी बड़ी हिंसा है। लोगोंसे परिचय हुआ, उनमें श्रेष्ठ कहलायेजानेकी मति जगी,

आकुलताका पिण्ड बनगया।

लोकेषणामें मलीमसता—लोकेषणा बड़ा पाप है। प्रभूके पास गये पूजा के लिए और उसके मन यह भाव आजाय कि मैं उन सब समुदायके बीचमें बड़े सुरीले कंठसे बोलूं कि इसमें अच्छा कहलानेलगूं। ये दर्शक लोग आये हुए हैं उनको देखकर अच्छे बनजाएँ यह भी हिंसा पाप है। कहां तो आप भगवान की मूर्तिके सामने खड़े हैं और कहां देखनेवालों की दृष्टिमें मैं अच्छा भक्त समझा जाऊँ, ऐसी हमारी अटपटी बातें होती हैं जिनसे कि वह पाप कमा रहा है।

स्वरक्षाके प्रयोजनमें सन्मान अपमानकी गौणता—एक कहानी है कि एक साधू और उसका शिष्य था। वे एक छोटी पहाड़ीपर ठहरे हुए थे। जरासी दूरपर देखा कि एक राजा सजधज के साथ मेरे पास आरहा है। उसने सोचा कि जब राजा मेरे दर्शन करने आया तो सामान्य लोगोंका ताँता ही बन जायगा। फिर सोचा कि ऐसी कोई बात बनाऊं जिसको देखकर राजा का दिल हट जाय। साधूने अपने शिष्यको समझाया कि देख बेटा राजा साहब आरहे हैं इसलिए मैं तुझसे कहूंगा कि तूने मुझे रोटी क्यों नहीं दी। दो ही क्यों दी ? तू कहना कि तुमने कल ही तो १०-१५ खा लीं थी। इस बात से राजा हमपर आकर्षित न होगा और यों ही लौट जायगा। जब राजा आया तो गुरुने शिष्य से कहा कि तूने कितनी रोटी खाई तो उसने कहा कि दस खाईं। क्योंबे तूने मुझको दो ही रोटी क्यों दी ? तुमने कल ही तो दस पन्द्रह रोटी खायीं थी। राजा पीठ फेरकर कहता हुआ चला गया कि यह महात्मा कुछ नहीं, ये तो रोटियों पर लड़ रहे हैं। गुरु ने शिष्य से कहा कि ले ! अपना तो काम बन गया कि राजाका मेरी ओर झुकाव नहीं रहा।। दृष्टि की बात है ऐसा करो यह मैं नियमकी बात नहीं बता रहा पर इसकी इतनी उत्सुकता आत्मकल्याणमें है कि अपनी रक्षाके-लिए लोगों से पिण्ड छुड़ाने के लिए भी पसंद किया। अपनी प्रकृति के अनुसार इतनी बात न करो, किन्तु अपनेमें योंतो दृढ़ रहो कि लोग कुछ क्या, सारे लोग भी चिल्लाएं तो भी मेरा बिगाड़ नहीं होगा, मेरा बिगाड़ मिथ्या दर्शन और अज्ञान से होगा।

अपनी हिंसा—भैया अपने में अज्ञान भाव है, विपरीत श्रद्धा है, अनाचार है तो हम स्वयं अपनी हिंसा करने के लिए जा रहे हैं, हम दूसरों की हिंसा तो कैसे भी नहीं कर सकते। यदि कोई अभी लोगों के सामने किसी कीड़ेको पकड़कर मार दे, तो क्या उसकी हिंसा की ? उसने अपनी हिंसा की

विकल्प नहीं हो रहा हो। भैया जो पुरुष शुद्ध होता है वह बड़ा कड़क होता है भली बात पर हट जाय, अयोग्य कुछ हो वहां से हट जाय ऐसा कड़क होता हैं। यह शुद्ध ज्ञायक प्रभु भी इतना कड़क है कि यह देखले कि इसका अन्य द्रव्य पदार्थों में राग हैं तो यह प्रभु उसके पास फटकता नहीं है, ऐसा कड़क है यह प्रभु इतना कृपालु है, इतना विरद स्वभाव है कि २४ घंटा यह यहां ही विराजता है कि यह थोड़ा भी मेरी ओर निहारले तो उसको मेरे विरद भाव का पता चल जाए। पर यह थोड़ा सा भी तो नहीं निहारता है मेरी ओर ? वह दबा है तिरोहित है। यही तो हिंसा अपनी की जा रही है।

भूल मे आकर्षण—दूसरा पाप यह है कि भूल में आकर्षित हो रहे हैं। ये भी सब बड़े अनर्थ हैं जो ऐसेविकल्प बन रहे हैं कि मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी बड़ी पोजीशन है। ये सारे ख्याल ही ख्याल हैं इन विकल्पों में लगना अपने प्रभु पर बड़ा अन्याय करना है। ज्ञानी संत सत्पथ पर दृढ़ होता है। वह दृढ़ संकल्पी है कि सारा जहॉन उसे बुरा कहे तो कहो मैं यदि अपने ज्ञायक प्रभु की दृष्टि में रहता हूं तो मैं तो निर्दोष हूं, बड़ा आनंद मग्न हूं मुझे क्या परवाह है दूसरे निन्दा करें, दृष्टि बुरी करे, चाहे गुण गायें, चाहे निन्दा करें उससे मेरा हित अहित नही है। निज ज्ञायक स्वभाव से विमुख होनेमें अहित है और अपनेमें स्थित होनेमें हित हैं। इतना कठिन कार्य यह कर सकता है।

गुप्त पुरुषार्थ—भैया, यह गुप्तसे गुप्त पुरुषार्थ होजाय तो हम अपने स्वभाव के दर्शन का अवसर प्राप्त करें। महात्माजन से भी निश्छल वात्सल्य पूर्वक रहें। कल्याणार्थीकी दृष्टि इतनी निर्मल होती है कि प्रत्येक पदार्थ निरपराध व स्वतन्त्र दृष्टिगत होता है। इस पदार्थका काम, तो, इसही पदार्थमें समाप्त है। यह ज्ञान न हो तो आपकी कही हुई बात उल्टी लगे। यदि अविकार स्वरूपके परिचयका वातावरण बनता हैं तो अपनी बात उल्टी लगने लगेगी, वह अन्तरमें सावधान रहेगा कि यह बात मेरी नहीं है। तन, मन, धन, वचन ये चारों विनशीक हैं। उनमें ज्ञानीके ममता नहीं है और अपने आपके ध्रुवस्वरूपके अनुसार है, रुचि है। यह वृत्ति कोई कर डालता है तो वह मोक्षमार्गी है और निकट समयमें मोक्षमें चलाजाता है।

मूलच्छेदः— भैया हम कीड़े मकोड़े बनने के यत्न में पड़ते चले जारहे हैं सो यह ही तो छेद है। अशुद्ध उपयोग होनेसे शुद्ध उपयोगका छेद हो गया। ज्ञानी शुभ उपयोग में अपना कल्याण नहीं मानता पर शुभ उपयोग में रहना पड़ता है। इसके विना गुजारा नहीं है। करे क्या ? दृष्टि में तो शुद्ध उपयोग ही है। अपनी आत्मा का जो सहज विभाव है उस स्वभाव से

और अपने हिंसाके परिणमनके आवेशमें उसमें ऐसी योग वृत्ति हुई कि उसके अनुकूल शरीर की बात इस प्रकार चली कि उसकी चेष्टानुसार अंग चल उठे और अंग चलनेका निमित्त पाकर उस कीड़ापर दबाव पड़ा, उस कीड़ेका दबाव उस कीड़े में ही पड़ा वह भी परिणति उस कीड़े की है, उसका निमित्त पाकर उसका स्वयं मरण हो गया। उस कीड़े ने संक्लेश किया यह उसने अपने आपकी हिंसा कर डाली। घातक के अज्ञान परिणमन हुआ, पाप दृष्टि बनी, क्रोध भर गया तो उसने यह अपनी ही हिंसा की। हम विह्वल बनकर, बहुत विकार बनाकर, खोटे आचार के भाव बनाकर अपनी ही हिंसा किया करते है। उस हिंसा के बदले में वर्तमान में भी संक्लेश मिलता है और आगे भी संसार न संक्लेश मिलेगा।

सत्संग की उपासना— धन्य है वह सत्संग, धन्य है वह क्षण जिसमें सज्ज्ञान और सदाचार का मिलन रहता है और खोटे आचार विचार की पराङ्मुखता रहती है वह समय धन्य है और बाकी तो अनादि परम्परामें खोटे भाव में ही समय बिताते आये है। देखो उपाधिका प्रभाव कि हम खोटी बात जल्दी जल्दी करते जायेंगे और अच्छे काम में देर में चलेंगे। पर भैया खोटे काम से पार तो नहीं पड़ेगी। यह नरजीवन बड़ा अनुपम मिला है। अन्य पशु पक्षी कीड़े मकोड़े के भवों को तो देखो। वे न तो हित की बात बता सकते हैं और न समझ सकते है। यह नर जीवन कितना प्रबल है दूसरे के भाव समझ सकता है और अपने भाव बता सकता है। इतनी सहूलियत किसी अन्य भव में नहीं है। ये मक्खियां भिनभिना रही हैं वे क्या व्यवहार कर सकती है। जो संज्ञी जीव हैं पशु पक्षी उन सबको भी तो यह सहूलियत नहीं है कि एक दूसरे से अपने भाव का आदान प्रदान कर सके। ऐसा अनुपम जीवन मिला तब भी लोग प्रायः चर्चा करते हैं तृष्णा की, वैभव को रोते हैं। अरे भैया जिसके पास जितना मौजूदा धन मिला है वह जरूरत से चौगुना है पर तृष्णा, करते हैं आपके पास जितना धन है यदि इसका चौथाई होता तो क्या आप अपना पेट नहीं पालते। पर मेरे पास तो कुछ भी नहीं है, बहुत कम है और चाहिए और चाहिए, तृष्णा में लगे हैं। वह आत्म-हित की क्या सुधि करे जिसको जड़ पदार्थों में तृष्णा लग गई, पर पदार्थ में मोह लग गया वह आत्म-हित नहीं कर सकता है। आत्महित का प्रथम साधक उपाय सत्संग है।

निजकी परमार्थ हिंसा—यह-शुद्ध ज्ञायक प्रभु उस उपयोगमें विराजमान होता है जिस उपयोग में इस शुद्ध ज्ञायक प्रभु के अतिरिक्त अन्य किसी को

विकल्प नहीं हो रहा हो। भैया जो पुरुष शुद्ध होता है वह बड़ा कड़क होता है भली बात पर हट जाय, अयोग्य कुछ हो वहां से हट जाय ऐसा कड़क होता हैं। यह शुद्ध ज्ञायक प्रभु भी इतना कड़क है कि यह देखले कि इसका अन्य द्रव्य पदार्थों में राग हैं तो यह प्रभु उसके पास फटकता नहीं है, ऐसा कड़क है यह प्रभु इतना कृपालु है, इतना विरद स्वभाव है कि २४ घंटा यह यहां ही विराजता है कि यह थोड़ा भी मेरी ओर निहारले तो उसको मेरे विरद भाव का पता चल जाए। पर यह थोड़ा सा भी तो नहीं निहारता है मेरी ओर ? वह दबा है तिरोहित है। यही तो हिंसा अपनी की जा रही है।

भूल मे आकर्षण—दूसरा पाप यह है कि भूल में आकर्पित हो रहे हैं। ये भी सब बड़े अनर्थ हैं जो ऐसेविकल्प बन रहे है कि मेरी प्रतिष्ठा है, मेरी बड़ी पोजीशन है। ये सारे ख्याल ही ख्याल हैं इन विकल्पों में लगना अपने प्रभु पर बड़ा अन्याय करना है। ज्ञानी संत सत्पथ पर दृढ़ होता है। वह दृढ़ संकल्पी है कि सारा जहॉन उसे बुरा कहे तो कहो मैं यदि अपने ज्ञायक प्रभु की दृप्टि में रहता हूं तो मैं तो निर्दोष हूं, बड़ा आनंद मग्न हूं मुझे क्या परवाह है दूसरे निन्दा करें, दृष्टि बुरी करे, चाहे गुण गायें, चाहे निन्दा करें उससे मेरा हित अहित नही है। निज ज्ञायक स्वभाव से विमुख होनेमें अहित है और अपनेमें स्थित होनेमें हित हैं। इतना कठिन कार्य यह कर सकता है।

गुप्त पुरुषार्थ—भैया, यह गुप्तसे गुप्त पुरुषार्थ होजाय तो हम अपने स्वभाव के दर्शन का अवसर प्राप्त करें। महात्माजन से भी निश्छल वात्सल्य पूर्वक रहें। कल्याणार्थीकी दृष्टि इतनी निर्मल होती है कि प्रत्येक पदार्थ निरपराध व स्वतन्त्र दृष्टिगत होता है। इस पदार्थका काम, तो, इसही पदार्थमें समाप्त है। यह ज्ञान न हो तो आपकी कही हुई बात उल्टी लगे। यदि अविकार स्वरूपके परिचयका वातावरण बनता है तो अपनी बात उल्टी लगने लगेगी, वह अन्तरमें सावधान रहेगा कि यह बात मेरी नहीं है। तन, मन, धन, वचन ये चारों विनशीक हैं। उनमें ज्ञानीके ममता नहीं है और अपने आपके ध्रुवस्वरूपके अनुसार है, रुचि है। यह वृत्ति कोई कर डालता है तो वह मोक्षमार्गी है और निकट समयमें मोक्षमें चलाजाता है।

मूलच्छेदः— भैया हम कीड़े मकोड़े बनने के यत्न में पड़ते चले जारहे हैं सो यह ही तो छेद है। अशुद्ध उपयोग होनेसे शुद्ध उपयोगका छेद हो गया। ज्ञानी शुभ उपयोग में अपना कल्याण नहीं मानता पर शुभ उपयोग में रहना पड़ता है। इसके बिना गुजारा नहीं है। करे क्या ? दृष्टि में तो शुद्ध उपयोग ही है। अपनी आत्मा का जो सहज बिभाव है उस स्वभाव से

चिग जाना और वाह्य पदार्थ में अपने उपयोग को लगादेना यही हिंसा है यही मूलच्छेद है। हिंसा और अहिंसा का उत्कृष्ट स्वभाव जैन सिद्धातों में पाया जाता है तव अहिंसा के लिये आज कल भी सब लोग यह कहते हैं कि अहिंसा तो जैनियों की है यद्यपि जैनी लोग अहिंसा का पालन न करें पर अहिंसाका यथार्थ स्वरूप जैन सिद्धांतमें वताया जाता है। अपने चैतन्य स्वरूप की दृष्टि न होना और विषय कषायोंमें उपयोगका लगना इसीको परमार्थसे हिंसा कहते हैं। जिसकी ऐसी प्रमाद भरी चर्या होगी उसकी सोने, उठने बैठने, इत्यादि कार्योंमें भी सावधानी नहीं होगी इस कारण यह सब परमार्थ से हिंसा होती है। उक्त प्रकार सामान्य रूप से हिंसा के दोषों का वर्णन कर अब स्पष्टरूप से यह वताया जायेगा कि वह छेद, भंग, दोष अंतरंग और वहिरंग के भेद में दो प्रकार का है।

मरदु व जिवदु व जीवो अयादाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि वंधो हिंसामेत्तेण समिदीसु ॥२१७॥

अयत्नाचारीके हिंसाका नियम:—जीव मरे अथवा जीवित रहे लेकिन अयत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करनेवाले पुरुष को हिंसा लग ही गई। जैसे कोई किसीका वुरा विचार करे, चाहे उसका वुरा हो अथवा न हो, किन्तु उसको तो पाप वन्ध होही गया। परन्तु जो समतियों में प्रयत्नशील है ऐसे श्रमण से कदाचित् कायचेष्टासे परजीव की जान भी चली जाय तो भी वंध नहीं होता क्योंकि कर्मवंध का निमित्त है कषाय, किसी जीवमें कषाय भाव होगा तो कर्म वन्ध होगा। कषाय भाव नहीं है तो कर्म वन्ध भी नहीं है। शरीर से वाह्य पर प्राणी का घात हो जाय लेकिन इस साधू के कषाय भाव तो है नहीं, तो वंध नहीं हो सकता, बंध होता है मिथ्यात्व और कषाय से।

अयत्नाचारमें अन्तरङ्ग छेद:—अंतरंगछेद तो अशुद्धोपयोग है और दूसरे प्राणियों का प्राण व्यपरोपण हो जाय, यह वहिरंग छेद है। दूसरे प्राणियों के प्राण का घात हो अथवा न हो लेकिन अयत्नाचार यदि हो गया तो अशुद्धोपयोग तो होही गया। दूसरे जीव भी मेरे ही जीव के समानहैं ऐसा जब ध्यान है तो चलनेमें, उठनेमें, वैठनेमें, सोनेमें जीव की रक्षा का भाव जरूर रहता है। मेरी अंतरंग दृष्टि हट गई, जीव स्वरूप की दृष्टि न रही तो मूल में यही हिंसा है। अयत्नाचार अशुद्धोपयोगका अविन्नभावी है। यदि अयत्नाचार है तो वहां अशुद्धोपयोग में सद्भावहै। अशुद्धोपयोग है वहां हिंसा अवश्य है किन्तु जिन श्रमणों में प्रयत्नाचार है उनके अशुद्धोपयोग नहीं है तो दूसरे प्राणियों के प्राण का घात होनेपर भी वंध नहीं होता। इस युक्ति

से यही निर्णीत होता है कि अंतरंग छेद के अभावमें वहिरंग छेद कर्म वंध नहीं करता तो भी वहिरंग छेद के परवाह नहीं करने पर अन्तरंग भाव भी शिथिल होता जायेगा इसलिए अपने अंतरंग को निर्मल और मजबूत बनाने के लिए यह आवश्यक है कि वहिरंग छेद की भी परवाह करे शरीरकृत दोष भी न होने पायें। वहिरंग दोष से तो अंतरंगदोष बनेगा और अंतरंग दोष से कर्म का बन्ध होगा इसलिए वह दोष भी त्यागने के योग्य है।

परमार्थहिंसासे दूर रहनेका सन्देश:—भैया हिंसा जो करे उसकी होती है दूसरे की हिंसा की नहीं जासकती जो बुरा भाव करता है उसकी हिंसा है। प्राणी जो मर रहा है यदि वह बुरा भाव करता हुआ मर रहा है तो उसकी हिंसा हो गई। कोई प्राणी दूसरे कीहिंसा नहीं करता खुद, खुद ही की हिंसा करता है और खुद की हिंसा में कर्मका वंध होता, जन्म मरण की परिपाटी चलती है। इस कारण अपने परिणामों में सदा सावधानी रखनी चाहिए। परिणामों की उत्कृष्ट सावधानी यह है कि अपने उपयोग में निज आत्मा के सहज स्वभाव, ज्ञान स्वभाव की दृष्टि व ज्ञान रहना चाहिए। मैं क्या हूं? इसका यथार्थ आवगम उसकीदृष्टि में बना रहना चाहिए।

ध्रुव निजतत्त्वकी प्रीतिमें हित:—अभी कहा जाय कि हम तुमको एक दिन का राजा वना देते है और वाद को तुम्हें इस देश से भी निकाल दिया जायेगा तो वह चाहता है कि ऐसा राज्य बिल्कुल स्वीकार नहीं है जो एक दिनको दुनियाँमें उच्च कहलाये और फिर अधम वनना पड़े। वह तो चाहता है कि जो सदा चलता रहे वही मैं रहूं। हमारी तो यह छोटीसी पसेरट की दुकान ही अच्छी है, हम वह रहना चाहते हैं जो सदा रह सकते हैं। तो इस अन्तरमें भी इस युक्तिको लगाते जावें। हम मनुष्य नहीं हैं। मनुष्य सदा नहीं रहता, कुछ वर्षके लिए यह मनुष्य है इसके वाद यह नहीं रहेगा। जो सदा नहीं रहे, वह मैं नहीं हूं। जो सदा रहे, मैं वह हूं। मैं वह क्या हूं? जो सदा रहता है? ज्ञान स्वभाव, चैतन्य भाव, परमपावन स्वभाव, शुद्ध प्रतिभास मात्र वस्तु मैं हूं। यह मेरी दृष्टिमें रहा तो मैंअपनी दया करता रहता हूं और अपने सत्य स्वभावको भूलकर किन्हीं वाह्य पदार्थकेसुखकी आशा करूं तो यही मैं अपना अहित कर रहा हूं। अपना अहित होना ही अपनी हिंसा है। किसी भी प्राणी को मेरे द्वारा कष्ट न पहुँचे ऐसी भावना ही इस मनुष्य का श्रृंगार है।

अज्ञानके साथमें पुण्यकी भयंकरता:—भैया यह आत्मा केवल परिणाम ही तो करता है परिणाम के अतिरिक्त और कुछ कर ही नहीं सकता। जीव के पुण्य का उदय है और साथमें अज्ञान लगा है उनको वह पुण्य उनके लिए

खतरा है, धोखा है, विनाशकारी है'। पुण्य दुश्मन है उनको जिनके अज्ञान लगा है। नीति शास्त्र में कहा है कि :—

यौवनं धनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता।
एकैकमाप्यनर्थापि किन्तु यत्र चतुष्टयम् ॥

जवानी, धन, सम्पदा और प्रभुत्व इन ४ चीजों में और अज्ञान में कोई भी एक हो तो वह अनर्थकारी है फिर जहां चारों हों उसके अनर्थका क्या कहना ? जवानी जीव के अनर्थ का कारण है। उसे विकार और सम्भोग के साधनों के लिये दूसरों को सताने की सूझेगी कोई दुखी हो, अपना सुख चाहिए। उसको कोई बाधा हुई तो उसको यह सहन नहीं कर सकता क्योकि उसके पास जवानी है। जवानी है वह अनर्थ के लिए है। धन सम्पदा है तो वह भी जीव का अनर्थ करती है। धन को दौलत कहते हैं इसको दो लातें होती है। एक आते समय पर यह दौलत छाती पर लात मारती है तो दौलत वालेकी छाती गर्वसे रहती है, मानमें दूसरेको कुछ नही समझना है और यह दौलत जाते समय पीठपर लात मारती है तो वेचारेकी कमर झुक गई कि ऐसे धनी वना जाता है तो यह धन सम्पदा भी जीव का अनर्थ करने वाली है। प्रभुत्व, मालिकाई सब में अपना बोल वाला चलाना यह भी अनर्थ करनेवाली चीज है। जिससे स्नेह है उसपर कृपा यह करदेगा जिस पर स्नेह नही है, उसपर कृपा नही करेगा तो यह प्रभुत्व भी अनर्थ के लिए है और अज्ञान में कुछ भी विवेक नहीं रहता सो यह अनर्थ के लिए तो है ही। अज्ञान से खुद खुद का बुरा कर लेता है तो इन चारों मे से एक एक भी है तो भी अनर्थ का कारण है। फिर जिसमे ये चारों हों तो अनर्थ का तो ठिकाना ही क्या ? सारी बातें पुण्य का ठाट यदि अज्ञानी जीव को मिला है तो वे उसको बर्बाद कर जायेंगे।

ज्ञानी जीवका पुण्य पाप दोनों के फल में साहस :—ज्ञानी जीव को तो पुण्य का उदय भी विचलित नहीं करता और पाप का भी उदय विचलित नहीं करता है। गजकुमार मुनि के ऊपर कोयले की अंगीठी जले तो यह क्या कम अनर्थ है, और क्या यह मुनिके पाप का उदय नहीं है, यह पुण्य के उदय की बात है क्या ? सुकुमालजी के देह को गीदड़ियों ने खाया तो क्या सुकुमाल का पुण्य का उदय था? सुकोशल मुनिराज को शेरनी ने खाया क्या उसको पाप का उदय नहीं कहेंगे ? पाप का उदय था किन्तु ज्ञानी पुरुष को पापका उदय भी विचलित नही कर सकता और पुण्यका उदय भी विचलित नहीं कर सकता। अज्ञानी जन को तो पाप का उदय विचलित कर ही देता

है। और उन्हें पुण्य का उदय भी विचलित कर देता है। ज्ञानबल ही एक महाबल है। उस बल के कारण ज्ञानी प्रसन्न रहता है। अपनी दृष्टि के लक्ष्य से भी विचलित नहीं होता ऐसी दृष्टि बनाओ कि परिवार में और वैभव में ममता न जाय। निर्मोह होकर अपने आपके स्वरूप का ध्यान रखो जिससे यह दुर्लभ मानव जीवन सफल हो।

विकाश व विनाशका हेतु अहिंसा व हिंसा :—जीवका ज्ञान स्वभाव प्रकट हो सकता है अहिंसा द्वारा ही और जिनको ज्ञान का विगाड़ होता है वह हिंसाके द्वारा ही होता है। अहिंसा राग, द्वेषके न उत्पन्न होने को कहते हैं। राग द्वेष के उत्पन्न होने को हिंसा कहते हैं। जीव स्वयं हिंसा करता है, कर्मका उदय उसमें निमित्त मात्र है। कर्म का और विकार परिणमन का परस्पर में निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है। कर्मजड़ है, उनमें कोई बुद्धि नहीं है। जड़ पदार्थसे किसी धोके का सम्वन्ध नहीं वनता। धोखा किसी को दिया जा सकने वाला है व धोका दे सकने वाला है तो वह एक विकारी चेतन है। घड़ी में चाबी भर दी। घड़ी के ठीक पुर्जे हैं तो वह अपने आप चलती रहती है, तुम्हें खबर हो या न हो। जड़ पदार्थ में कैसी योग्यता वाला उपादान कैसे निमित्त को पाकर कैसा परिणमन करता है वह बराबर की स्थिति में इस प्रकार परिणम जाता है। कर्म तो जड़ पदार्थ है। जीव के मिथ्यात्व और कषायभाव का निमित्त पाकर ये कार्माण वर्गणायें कर्म रूप हो जाती हैं। उनके उदयका निमित्त पाकर फिर कषायादिभाव होजाते हैं। वे विकारी भाव सब हिंसा ही हैं। यावत् मात्र विकार है, वह सब जीव के शुद्ध चैतन्य प्राण का घात करता है जब हिंसा परिणाम होता है। तो कर्म बंध नियम से होता है।

भाव से हिंसा व अहिंसा का निर्णय :—जिसके हिंसा परिणाम है और बाहर में कोई जीव मरे या न मरे उसके तो कर्म बंध हो ही जाता है। जिसके हिंसा का परिणाम नहीं है और वाह्य में कोई कुन्थु जीव मर भी जाय तो उसके कर्म का वंध तत्कृत नहीं होता? जिसका परिणाम हिंसा का नहीं, उसको लोक ने भी अपराधी नहीं बताया। परिणाम जिसका हिंसा रूप है उसको सभी अपराधी कहते है। एक डाक्टर है किसी रोगी का आपरेशन करता है, करता है निरोग होने के लिए पर कदाचित् उस आपरेशन से रोगी की मृत्यु हो जाय तो न तो सरकार ने और न प्रजा जनों ने डाक्टर को अपराधी वताया। हां, यदि कोई डाक्टर कुछ जानता ही नहीं है और इलाज करने के लिए वैठ जाय तो उसको सरकार अपराधी कहती

है, उसका चालान होता है। डाक्टरी पास किए विना, सर्टीफिकेट लिए विना रोगी का इलाज करता है तो उसके ऊपर मुकद्दमा चलाया जाता है। जब तुमको इस विषय का ज्ञान नही है तो तुमने उस वेचारे रोगी को क्यों सताया। अज्ञान परिणाम के अनुसार उसका अपराध माना गया है।

एक साधू महाराज चले जा रहे हैं। ईर्यासमिति पूर्वक उस प्रसंग में कोई जीव अचानक गुजर जाय तो साधुके कर्म बंधन नही होता और लौकिक जन घर को चलता है, घर से मंदिर आता है, जूता पहनकर आता है, आगे की जमीन को नहीं देखा करता, ऐसी स्थिति में कोई जीव न भी मरे तो भी उस को कर्म का बंध होता है, क्योंकि उसके कोई यत्नाचार नहीं है, उसकी आत्मा सावधान नहीं है। कोई यदि जीव की हिंसा करता है तो देखने वाले बीसों पुरुष उसकी हिंसा का समर्थन करते हैं, तो यद्यपि बीसों पुरुषों ने उस जीव को हत्या नहीं की लेकिन हिंसा से पाप कर्म का बंधन बराबर हो जायगा। ऐसी अनेक घटनाऐं समझ लो कि हिंसा का परिणाम है तो कर्म को बंध होता है और हिंसा का परिणाम नहीं है तो उसका बंध नहीं होता।

हिंसा विभाव की अनुसारिणी—यहाँ तो हिंसा राग द्वेष भाव को बताया गया है। रागद्वेष परिणाम जबतक है तबतक उसकी हिंसा है और हिंसा से कर्म का बंध बराबर चल रहा है। हम बंध की वाह्य प्रवृत्ति में लगे नहीं हों, सोते में हों, पूजा के समय में हों, सामायिक में हों तो भी राग द्वेष में जितना अन्दर चलता है उसके अनुसार कर्म बन्ध होता है। स्वानुभव के काल में ज्ञान स्वभाव हूं, ज्ञान मात्र हूं ऐसा अनुभवन के समय में भी यद्यपि राग द्वेष का उपयोग नही हो रहा किन्तु अंदर में अबुद्धि पूर्वक जिस पदमें रागद्वेषका परिणमन हो रहा हो तो जबतक रागद्वेष है, तबतक बराबर बंधन चलता रहता है हमारे अंदर कर्म बंध बन रहा है लेकिन यदि ज्ञान का उपयोग करें, प्रज्ञा का सदुपयोग करें तो अल्पभूमिका में भो हमारा विकट बंधन नहीं रहता किन्तु अल्प कर्म बंध रहेगा। तात्पर्य यह है कि राग द्वेष तनिक भी नही होना चाहिए क्योकि पता नहीं कि यह राग द्वेष कब कितना बढ जाय। बढ़ जानेपर सम्भव है कि ऐसी स्थिति बना दें कि सम्यक्त्व भी नष्ट हो जाय मिथ्यात्व आ जाय। इस कारण चरणानुयोग में रागद्वेषके प्रसंग को दूर ही करना बताया गया है।

रागद्वेष से पृथक रहने की सर्वत्र आवश्यकता—परस्पर की बात चीत के दौरान में या धर्म चर्चा के प्रसंग मे यदि रागद्वेष बनता है तो आचार्य जन बताया करते हैं कि उस समय धर्म चर्चा को भी छोड़ दे। रागद्वेष जिसमें

होने लगते हैं, वहाँ वह धर्म चर्चा नहीं रहती बल्कि पर्याय बुद्धि का नाच होने लगता है। जगत में क्या सन्मान ? और क्या अपमान ? ये दोनों ही मोह की बुद्धियां हैं। पर्याय बुद्धिमें सन्मान प्रतिष्ठा और अपमान में जो जो कुछ हो वे सब पाप माने जाते हैं। मानलें हमारा इस भारतवर्ष में नहीं जन्म होता तो ३४३ घनराज प्रमाण लोकमें किसी भी जगह हमारा जन्म होता हैं ता। मेरे लिए यह परिचित मनुष्य कुछ नहीं है तब वहाँ तो कोई विकल्प पैदा ही नहीं होते। इस छोटे से ऐरिया मानलें कि हम यहाँ है ही नहीं, लोक में न जाने किस जगह पर पैदा है तो लोक में हमारा यहाँ का कुछ नहीं है, जीवन के बाद कुछ है ही नही।

विकल्प ही हिंसा व क्लेश—दो मित्र हैं। परस्पर बड़ी मित्रताके परिणाम हैं उनमें से एक मित्र गुजर गया तो यह बतलाओ कि टोटे में गुजरने वाला मित्र रहा अथवा जिंदा रहने वाला मित्र। जिंदा रहने वाला मित्र टोटे में रहा। गुजरने वालेको तो यह कोई विकल्प ही नहीं रहा, गुजरने वाले को कुछ टोटा नहीं है। टोटा तो जिन्दा रहने वाले को है। वह वियोगजन्य दुःखसे दुखी है। सब समझाते हैं किन्तु उसकी समझ में ही नहीं आता। सो भैया ! इस सब समागमके प्रसंग में बहुत सी बातें हो रही हैं, बहुतसे व्यवहार चलरहे है, किन्तु इस व्यवहार के प्रसंग में विकल्प करनेवाला टोटे में ही है चाहे हमारे विकल्पके अनुकूल बहुत सा बैभव भी सामने आ जाय तो भी वह टोटे मे रहा क्योंकि अंदरमें तो विकल्प और कर्म बंधन, यें सब बराबर रहे। जैसे ज्ञानी संत को विकल्प नहीं सताते हैं। उसके लिए पर पदार्थ रहा तो क्या या नहीं रहा तो क्या, उसकी सब समृद्धि है। तो विकल्प ही हिंसा है और विकल्प नहीं है तो अहिंसा है।

रागका राग महान् अपराध—भैया अब सोचलें कि हम और आप इस जन जीवन के रात दिन में कितनी हिंसा करते चले जाते और तिस पर भी खेद की बात तो यह हैं कि अपने को विवेकपूर्ण पथ के पथिक मानते जाते हैं। गलती भी करो और उस गलती को सही मार्ग समझो। यह तो डबल अपराध है कि राग में पड़ता है और रागको अपनी भूल नहीं मानता है। यह ही बडा अपराध है। रागतो चारित्र मोहकृत विकार है। किन्तु राग से राग करना दर्शन मोहकृत विकार है। धन्य है वे सम्यग्दृष्टि आत्मा जिनसे राग होता भी जाता है फिरभी वे राग से हटे हुए बने रहते हैं। यह बड़े अंतरंग महान पुरूषार्थ का काम है। रागभी हो रहा है और राग से हटा हुआ रहता है। क्या ऐसा हुआ नही है ?

भाववृत्तिके कुछ दृष्टान्त—कैदी चक्की पीस रहा है किन्तु उस कैदी में चक्की पीसने का भाव नहीं लग रहा। ऐसा है न कि कुछ वर्ष की व्याही हुई लड़की विवाहिता अपने पिता के घरसे जाती हुई रो रही है पर उसका रोने में भाव नहीं है। एक बहुत संकटों मे फँसा हुआ व्यक्ति किन्तु ख्याल से उसमें संकट अधिक बस जाँयगे सो कहीं दिमाग खराब नहीं हो जाय इस भावसे जो जबरदस्ती कुछ हँस भी रहा है यों कि चलो विषाद, विषाद, में रहेगा तो इससे दिमाग खराब हो जायेगा तो किसी कला के प्रसंग में जबर दस्ती हँसने का काम भी बनाता है पर हँसने का भाव नहीं है। एक पुरुष रूढ़िवश धर्म के काम को भी कर रहा है, पूजा करता है पर उस रुढ़िधर्म वाले का धर्म कार्य मे भाव नहीं है। पर ज्ञानी पुरुष वीतराग प्रभुके स्वरूप को निहार कर अपने सतमेंआत्मसंतोष से भर जाता है। जब समय बहुत हो गया, १० बज गए और कार्यक्रम अन्य जगह का है, पर उसको कार्यक्रम में मंदिर छोड़कर जाना पड़ रहा है पर मंदिर छोड़ कर जानेका भाव नहीं है। कितनी ही घटनाँए ऐसी हैं कि करना पड़ता है पर करने का भाव नहीं है। किसी मरे पुरुष के घरमें आने वाली स्त्रियाँ स्टेशन से रोती हुई मकान पर आती हैं और घर में बहुत रुदन करती हैं पर अधिकांश सम्भव है कि उन्हें रोना पड़ता है पर रोनेका भाव नहीं है। सम्यग्दृष्टि जीवको कर्मोदय वश विकल्पों आदि अनेकों झंझटों में पड़ना पड़ता है पर उसको किसी झंझटों में पड़ने का भाव नहीं है।

ज्ञान व विभावका अन्तर्युद्ध—कैसी रस्साकसी का काम है कि औपाधिक परिणाम तो उस रस्से को अपनी ओर खींच रहा है व अन्दर का ज्ञान परिणाम उस रस्सा को अपनी ओर खींच रहा है। अपने अपने ही भीतर में प्रत्येक के काम चल रहे हैं, द्वंद चल रहे हैं। अज्ञान के विकारका विकल्प अपना ऊधम मचा रहा है और ज्ञान अपने अन्दर में परिस्थितियों के माफिक अपनी रक्षा का प्रोग्राम बनाता है बात तो सब यह है कि सम्यक्त्व हुए विना इस जीव का भला नही हो सकता। सर्व पदार्थों से निराला अपना स्वरुप मात्र जाने कि सहज शक्तियों से इसका निर्माण होता है निर्माण कभी नहीं हुआ, यहतो अनादिसे सत् है) किन्तु यह साहित्यिक एक शैली है। सो सर्वअन्य पदार्थोंसेनिराले सहज शुद्ध ज्ञायक स्वभाव मात्र अपने आपका जबतक परिचयनहीं है तब तक जीवको शांति नहीं प्राप्त हो सकती।

आत्मतत्त्व की पारिणामिकता—इस आत्म स्वभाव को पारिणामिक भाव कहते हैं। परिणामिक भाव का अर्थ यह है कि जिसके अन्तरमें परिण-

मन चलता है किन्तु वह वहां एक का एक है 'परिणामः प्रयोजनं यस्य सः पारिणामिकः।' कितनी अनोखी बात है कि यह पारिणामिक शब्द परिणमन की पुष्टि करता है फिर भी स्वयं परिणमन रूप नहीं है। परिणाम प्रयोजन की जो शक्ति लिएहै उसे परिणामिक भाव कहते हैं। ऐसा सर्व पदार्थोंमें है। मेरा मैं ही अनादि, अनन्त ज्ञायक, नित्य प्रकाशमान जो सहज चित् स्वरूप है उस स्वरूप को अपना मानें और पूर्ण श्रद्धा में पूर्ण भीतर में सबसे न्यारा समझ लें ऐसे अपने एकत्व का परिचय है . उसने सत्य शिव सुन्दर तत्व पा-लिया। अहो अब बाहर में करना ही क्या है और अन्तर में किया ही क्या जाता है जो है वह होता रहता है।

संयमके दोषोंकी शुद्धिकी विधि—संयमके दो प्रकारके दोष होते हैं। एक तो वहिरंग दोप और एक अंतरंग दोप। वहिरंग दोप वह कहलाता है कि परिणाममें कषाय नहीं है और शरीरकी चेष्टासे कोई संयम में दोष आगया। जैसे कि साधुजनोंमें कषाय भाव नहीं है और चलतेमें कोई प्राणी मर जाय तो कोई दोष नहीं है। और अंतरंगदोप वह कहलाता है कि जहां कपायकृतमे दोपभाव है, व चाहे द्रव्य संयमका दोष ही नहीं हो। तो वहि-रंग दोपसे वड़ा दोप अंतरंगदोष है। वहिरंगदोप की शुद्धि आलोचना भरमें होती है। गुरुसे निवेदन करदिया, व दोषका प्रायश्चित होगया, तो वह शुद्ध होगया। पर अंतरङ्गदोष लगजाय तो गुरुसे निवेदन भी करना पड़ता और गुरुदेव द्वारा जो दण्ड, तप आदि मिलता है उसे भी लेना पड़ता है। वहिरंग दोपसे कर्मवंध नहीं वताया और अंतरङ्गदोषसे कर्मवंध वताया है तो फिर क्या वहिरङ्गदोप का पालन करना चाहिए? नहीं, वहिरङ्गदोष यदि न हटाया जाय तो वहिरङ्गदोषमेंसे फिर अंतरङ्गदोप होने लगेगा और अंतरङ्ग दोपका कर्मवंध हो जायगा। तो वहिरङ्गदोप अंतरङ्गदोपका कारण है इस कारण वहिरङ्गदोष भी हटाना चाहिए।

परिणामवैचित्र्य—भैया, अंतरङ्ग छेद तो सर्वथा ही निषिद्ध है। परि-णामोंकी मलीनता ही समस्त अनर्थोंकी जड़ है। एक कोई कथानक है कि एक साधु महाराज का अपूर्व भक्त श्रावक ने भगवानके समवशरणमें पहुँच कर एक प्रश्न किया कि अमुक मुनिराजका भविष्य क्या होगा तो वताया गया कि अब उस एक मिनटमें उनके ऐसे परिणाम थे कि उसमें आयु बंधन होता तो सातवें नरकमें जाता और अब उसके ऐसे परिणाम है कि इस समय आयुवन्ध हो तो उच्च स्वर्गका इन्द्र वने। परिणामों की गति विचित्र है। जितना भी बन्धन है वह जीवके भावका वन्धन है। अपनेमें

परिणामकी निर्मलता करनेके लिए बहुतसा सादा सुगम उपाय आचार्योंने बताया है कि हम कायको संयतकर, आंखोंको बन्दकर, मनकी दौड़ समाप्त कर अपने अंतरङ्गमें अपना शुद्ध ज्ञान स्वभाव देखें।

तत्त्वज्ञान और समदर्शिता—जिस जीवने अपने ज्ञान स्वभावका परिचय किया है वह समस्त जीवमें भी ज्ञान स्वभावरूपमें उनको तकता है। अन्य कोई देखता है इस शरीर पर्यायको, किन्तु ज्ञानीपुरुष स्वयंमें एक ज्ञायक अचल, ध्रुव, ज्ञायकस्वभावको देखता है। उस स्वभाव दृष्टिमें सर्व जीवोंमें भी उस प्रभुताकी श्रद्धा करता है। फिर वह ज्ञानीसंत जब कोई चेष्टा करता है तो वह बड़ी सावधानीसे यत्नाचारके कार्योंको करता है, वह समझता है कि मेरे यत्नाचारके कारण यदि किसी जीवमें संकट संक्लेश होता है, मरण होता है तो उससे जो अवस्था पायेगा इससे भी निचली अवस्था मिलेगी। यह बड़ा अनर्थ होगा।

हिंसानिर्णयविषयक प्रश्न—यहां एक प्रश्न है कि बतलाओ जीव शरीर से अलग है या मिले हुआ प्राणशरीरसे अलग है या मिला हुआ जीवप्राणसे अलग है या मिला हुआ? प्राण जीवसे अलग है तो एक शंका होगी कि जब प्राण जीवसे अलग है तो प्राणका घात क्यों होगा। प्राणका वियोग करदिया तो उसमें हिंसा नहीं लगनी चाहिए, क्योंकि प्राण अलग है। यदि प्राण जीवमें तन्मय है तो भी जीवका घात नहीं होगा क्योंकि जीव अमर है सो प्राण भी अमर होगा? (प्रश्नकर्त्ता कहता जारहा है) इसके अतिरिक्त एक बात यह है कि कोई प्राणी यदि मर गया—तो फिर वह नया शरीर पालेगा फिर हिंसा क्या हुई? क्या तथ्य है।

हिंसानिर्णयविषयक प्रश्नका उत्तर—उत्तर, उसमें तथ्य यह है कि प्राण कथंचित्त भिन्न है और कथंचित्त अभिन्न है इस सिद्धांतसे पहिले प्रश्नके पहिले भागका समाधान होजाता है। द्वितीय भागका प्रश्न यह था कि जीव मर गया तो मरकर वह दूसरा शरीर पालेगा। उसका नुकसान क्या हुआ? नुकसान उसका यह हुआ कि यदि वे हमारे आश्रयके कारण मरते हैं तो मरते समय संक्लेश तो उनको होगा सो उनका संक्लेशमें मरण होगा तो अभी जिस अवस्थामें वे जीव हैं उससे भी अधम नीची अवस्थामें वे पहुँचेंगे। यह तो उनकी वास्तविक हिंसा हुई ना।

दो इन्द्रिय जीव हैं। यदि वे संक्लेशमें मरते हैं, तड़फकर मरते हैं तो उस दो इन्द्रियसे नीचेके भवमे उत्पन्न होते हैं। कोई जीव तड़फ तड़फकर, अगर मर गया तो वह व्यवहार हिंसा हुई और परमार्थसे उस जीवकी हिंसा

यह हुई कि बेचारा विभेदसे निकल कर अन्य व्यवहारराशिमें आकर मोक्ष-गतिको प्राप्त करनेके अनुकूल बन रहा था और अब वह मोक्षमार्गके लायक नहीं रहा। फिरसे वह निम्नगतिमें पहुँच गया। निगोदमें तो एक श्वासमें अठारह बार जन्म मरणका नियम है। यह है उन जीवोंकी परमार्थ हिंसा।

आश्रेय और अनाश्रेय—हम लोग विषय कषायोंमें रमते हैं और मौज मारते हैं, खुश होते हैं पर यह नहीं देखते कि हम मोक्ष मार्गकी गतिको नष्ट कर रहे हैं। शांतिके मार्गमें विघ्न कर रहे हैं। भले ही दुनियाँ जाने यों नहीं यो। यदि हम अपने ज्ञायक स्वरूपकी उपासनामें रहते हैं तो हमें उन्नतिका पथ शीघ्र मिलेगा। यह यूरोपवाले भी जान जायें कि इसकी बड़ी प्रतिष्ठा और पोजीशन है पर आत्माके इस सहज ज्ञायक स्वरूपमें हमें रुचि होती है तो शांति रह सकती है, अन्यथा नहीं। इस ज्ञायक स्वरूप निज भगवानके आश्रयसे ही इस संसार रूपी समुद्रसे मुक्ति हो सकती है। इसलिए बताया है कि यह वैभव छिन जाय, कहीं भी जाय, किसी भी अव-स्थाको प्राप्त होवे तो भी यह मेरा परिग्रह नहीं है, मेरा तो, एकमात्र ज्ञान-स्वभाव है। अपनेमें ज्ञानस्वभाव मात्र निरख रहा तो यह वह कला है कि जिस कलामें विषय शत्रुओंके हम आधीन नहीं होते हैं। हम अपने एक भावसे चिगते हैं तो नानाविषय सताते हैं।

आत्माके षट शत्रुओंके विजयका उपाय—यहां दुख यही है कि हम पर मोह, काम, क्रोध, मान, माया लोभ इन ६ शत्रुओंका आक्रमण होता है जब हम अपने स्वभाव स्वरूपकी दृष्टि मजबूत न करेंगे तो इन ६ शत्रुओंका मुझ पर प्रहार होगा ही। इनके विजयके लिए हम हर जगह, घरमें, मंदिर में, किसी भी जगह हों हमें ऐसी आदत बनानी चाहिए कि जिस किसीके सामने हमें शुद्ध चैतन्य प्रभुका दर्शन हो अर्थात् शरीरमें अन्तःप्रकाशमान ज्ञानमात्र आत्माका स्मरण रहा करे। इस स्मरणके अंदर अपने सहज स्वरूपका स्मरण है ऐसा ही तो स्वभाव मेरा है। मैं वह हूं जो है भगवान, जो मैं हूं वह है भगवान। ऐसा कहनेमें पर्याय वाला मैं नहीं लो, किन्तु स्वभाव वाला मैं लो। जो मैं हूं वह भगवान है, जो भगवान है वह मैं हूं मुझमें और भगवानमें बस पर्यायका अन्तर है। पर्याय ऊपरी चीज कहलाता है और स्वभाव भीतरी चीज कहलाता है। पर्यायको ऊपरी चीज कहो क्योंकि वह नष्ट होती है। तो मुझमें और भगवान्में केवल एक ही ऊपरी अन्तर है कि भगवान तो विराग हैं और यहां रागवितान है। पर वह ऊपरी अंतर हैं। मेरा स्वभाव वही है। मेरा द्रव्य वही है जो प्रभु है।

फिर कबसे यह अन्तर हो गया है अभी तो बहुत समय तक, अनन्तकालतक तो हम और प्रभु साथी थे ना। हम और ये प्रभु सभी तो इस लोकमें जन्म मरण कर रहे थे। ऐसा द्रव्य तो हमारा और प्रभुका एक है। उस स्वभाव को दृष्टिमें लेकर इन्द्रिय विजयकरके इन छह शत्रुओंपर विजय प्राप्त करो।

आर, पार व उपाय—मोहविजय, इन्द्रियविजय, कषायविजयके उपाय से प्रभुका ज्ञान व दर्शन पूर्ण विकाशमें आगया है। हम अभी उस उपयोगमें आ नहीं पाये। यदि आयें तो वही अवस्था हमारी हो जायेगी। उसके उपायमें परिणमनके लिए सबसे पहिली सीढ़ी स्वभाव दृष्टि है और स्वभाव दृष्टि आनेकेलिए भी उपाय है स्वभाव परिचय, स्वभाव परिचय होनेके लिए उपाय है भेदविज्ञान—और भेदविज्ञान पानेका उपाय है कि प्रत्येक पदार्थको यों निरखना कि सभी पदार्थ उत्पादव्यय ध्रौव्यात्मक हैं। स्वयं पदार्थ अपने आपमें उत्पाद व्यय और ध्रौव्यकारी सहित हैं। प्रत्येक पदार्थ उत्पन्न होता है, अर्थात् नवीन पर्यायरूपमें बनाता है तो वह अपनी परिणतिसे बनता है दूसरेके परिणामोंको लेकर नहीं बनता। प्रत्येक पदार्थको नवीन पर्यायकी प्राप्ति होती है वह अपनी ही पूर्व परिणतिको विलीन करके होती है। इसी उत्पाद व्ययके प्रसादसे पदार्थमें ध्रौव्य रहता है, तो ध्रुव भी अपने स्वरूपमें रहता है। जब सर्व पदार्थोंका ऐसाही स्वरूप है तो कौन पदार्थ मेरा हो सकता है। इस दृष्टिसे मोहका विनाश होता है फिर संसारसे पार होता है।

सामयिकभावमें गति व प्रगतिः—जिसने मोहका नाश किया वह चारित्र में बढ़ता है तो किस प्रकार का चारित्र पालता है ? वह सामायिक संयममें रहता है। सामयिक संयमसे यदि चिग जाय तो वह छेदोपस्थावना का पालन करता है। सामायिकसंयमका अर्थ है निर्विकल्प अखण्ड स्वभावमें ज्ञायकस्व-भावका दर्शन करता हुआ राग द्वेष से रहित होना। यह है उत्सर्ग स्वरूप इसमें न रह सके तो भिन्न भिन्न २८ मूल गुण हैं उनको पालन करे, उसका नाम छेदोपस्थावना है और उन २८ मूल गुणों के पालन में भी दोष है। तो आलोचना प्रतिक्रमण करता है। यह भी छेदोपस्थावना है। छेदोपस्था-वना के दो अर्थ है। ये दो अर्थ नहीं हो तो जो यह बताया है कि सातवें, आठवें व नवमें गुण स्थानमें भी छेदोपस्थावना है सो यह साधु प्रतिक्रमण नहीं करता, आलोचना नहीं करता वहाँ क्या छेदोपस्थावना है ? वहाँ भी छेदोपस्था बताया है कि जब विविक्त स्वभावमें न लगा रहकर-मूलसे जब धीरे धीरे चिगता है तो समताका छेद हो गया और फिर सामायिकभावमें

लगता है तो उसकी यह उस्थापना है। तो अभेद स्वभाव में उपयोगी होने का नाम सामायिक है और उह उपयोगसे चिग गया तो वह उसप्रकारका छेद हो गया। जितना भी राग मे आए निजसे पृथक जितना वह रागमें आता है उतना तो वह छेद होता है उससे हटकर निज में गया तो सामायिक है।

अयत्नाचारीकी सर्वदा निजकी हिंसा—जो मुनि अयत्नाचार में चलता है तो उसके अशुद्ध उपयोग चल रहा है और चूंकि अशुद्ध उपयोग चल रहा है सो वहाँ इन छः प्रकार के जीवों के प्राणों का घात का कारण चल रहा है। इसकारण अयत्नाचारी जीव हिंसक है। रागकी उत्पत्तिको हिंसा और रागकी अनुत्पत्तिको अहिंसा कहते हैं। विभावमें परमार्गतः सर्वत्र अपनी हिंसा है। कोई प्राणी दूसरे प्राणी की हिंसा नहीं करता वलिक अपनी ही हिंसा करता है। कोई दया कर सकता है तो अपने ऊपर ही कर सकता है। कोई हिंसा कर सकता है तो वह अपनी ही हिंसा कर सकता है दूसरे की न तो कोई हिंसा करता है और न दया करता है।

रति अरतिका प्रयोग भी स्वयंपर संभव—दूसरे पर यह जीव न यह प्रेम करता है और न दुश्मनी करताहै। प्रेम मेरा परिणमन है और पदार्थ पर प्रेम करने वाला वस्तुतः अपने आप पर प्रेम का परिणमन कर रहा है दूसरे पर प्रेम परिणमन नहीं कर सकता पर प्रेम के परिणमन की पद्धति ही यह है कि किसी न किसी पर पदार्थ का उपयोग करें, आश्रय करें। इससे प्रेम परिणामन बनता है जिस किसी पदार्थका आश्रय करके प्रेम परिणमन हुआ तो चूंकि उस पदार्थ का विपयभूत करके प्रेम हुआ ना, इसलिए एक दम यह दृष्टि हो जाती है कि इसने इस पदार्थ से प्रेम किया पर वाह्य पदार्थ में कोई भी जीव प्रेम नहीं कर सकता अपने आप में ही प्रेम का विकल्प करता हुआ अपना परिणमन करता है। परमार्थ से यह जीव अपना ही हिंसक है।

एकत्वनिश्चयगता व सोपाधिता का प्रभाव—कोई पदार्थ अकेला रहे तो उसमें कोई विगाड़ व झगड़ा नहीं रहता। कितने आप के साथ में विगाड़ झगड़े खड़े हैं, कितने वंधन में पड़े हैं और कितने ही विकार परिणामन चल रहे हैं, उल्टी उल्टी बातें सूझ रही हैं। यह सव इस वातको सवूत करता है कि हम अव अकेले नहीं हैं। अकेले होते तो शुद्ध निर्दोष आनंद मग्न होते पर यह जो दशा है यह सूचित करता है कि उपाधि इसके साथ है। वह उपाधि क्या है? वह वड़ी सूक्ष्म है, छेदी नहीं जा सकती, पकड़ी नहीं जा सकती और हाथ से पकड़ कर हटाई भी नहीं जा सकती। वह उपाधि है करनी तथा

कार्माण वर्गणायें भी विस्रसोपचयरूप अनन्त इसके साथ हैं। जो अनेक कर्म रूप बनने की तैयारी में हैं। उन वेचारों के मन नहीं है, ज्ञान नहीं है वे जान जान कर नहीं वनते किसी जगह होअटपटी बात हो जाती है, भूल हो जाती है तो स्वयं कर्म बन जाते हैं कर्मो में जान नहीं हैं। ये कार्माण वर्गणायं तो आत्मा के मिथ्यात्व और कषाय का निमित्त पाकर बंध जाते हैं इसलिए कोई गड़बड़ नहीं हो पाती क्योंकि कर्म बंध का कारण है मिथ्यात्व कषाय।

छेद व छेदक्षयोपाय—मोह और कषाय का आत्मा में होना यह तो है अंतरंग छेद, अंतरंग दोष और शरीर की कोई चेष्टा हो जाय उसमें द्रव्य-संयम का घात हो जाय वह है वहिरंगछेद। वहिरंगछेद अतरंगछेद का कारण है। दोनों छेद हों तो अन्तरंगछेद का दोष है क्योंकि कषाय भी अंतर में है और शरीर की चेष्टा संयम छेद की है तो वह अंतरंग छेद ही है, छेद भी है। अंतरंग छेद विना बहरंग दोष हो जाय तो उसका दोष कम है गुरु से आलोचना कर दी इतने में ही शुद्धि हो जाती पर अंतरंग दोष हो जाय, बुरा विचार हो जाय, विकार परिणमन हो जाय तो उस दोष की शुद्धि केवल आलोचना नहीं है प्रतिक्रमण करना पड़ेगा, तप करना पड़ेगा, दण्ड लेना पड़ेगा, प्रायश्चित भी करना होगा। इसलिए आचार्य महाराज कहते हैं कि अंतरंग दोष सर्वथा निषेध के योग्य ही है क्योंकि वह कर्म बंध का कारक है। वहरंग दोष भी निषेध के योग्य है क्योंकि वहिरंग दोष अंतरंग दोष का कारण हो जायेगा। इस कारण जो साधुजन यत्नाचार से नहीं रहते और अयत्नाचार से रहते हैं तो अयत्नाचार अंतरंग छेद का अविनाभावी है। अयत्नाचार की परिणति में अशुद्धउपयोग है वही हिंसा है। हिंसा हम अपने आपकी करते, दूसरों की हिंसा हम नहीं करते, हैं क्योंकि परमार्थ से देखें तो जो कुछ करतें हैं अपने में ही परिणमन करते हैं, हिंसा वस्तुतः रागादिक की उत्पत्ति है। रागादिक की उत्पत्ति होनेसे खुद के चैतन्य प्राणका घात होता है। इसलिए अयत्नाचार का निषेध किया गया है।

कर्मदाहिनी चिनगारी अष्टप्रवचन मातृका :—समिति व गुप्तिरूप अष्ट प्रवचन मातृके ज्ञान और आचरणसे महाव्रत सिद्ध होता है इतना ही ज्ञान विशद रखनेवाले साधूजन इसही आचरणकी प्राप्ति से कर्मका क्षय करके सिद्ध बन जाते हैं। बादमें तो पूर्ण श्रुतज्ञान–भी हो जाता है और फिर केवलज्ञान भी हो जाता है। मगर वह चिनगारी अष्टप्रवचन मातृका हुई है जिससे कि कर्मक्षय हुआ है इसमें केवल वाहरका आचरण नहीं लेना कि इस तरहसे वैठना, उठना, खाना, चलना, मनको वस करना, बचन न बोलना

काय चेष्टा न करना इतना ही नहीं है किन्तु उसका बोध सोव्पास्तिक है ऐसा क्यों करना चाहिए ? इस क्यों का जो उत्तर है वही ज्ञान चिनगारी है। जो यत्नाचारसे रहता है उनके अशुद्ध उपयोग नहीं है फिर पर प्रत्ययक भी वंध कैसे हो, क्योंकि वंधका निमित्त अशुद्धोपयोग तो रहा नही जिसका निमित्त पाकर कर्म वंध होता है।

निलेपता—वंधका कारण भूत अशुद्धोपयोग जिसके नहीं है, वह जल में डूवे कमलकी तरह या कमलपत्रकी तरह-निर्लेप ही रहता है। कमलपत्रके चारों ओर भले ही पानी है किन्तु कमलपत्र में पानी का अंश भी नहीं है। उसके उपयोग में जव कषाय नही है तव कषायवाला वड़ा वंध कैसे हो ? जैसे अनुभव होता है तो चौथे, पांचवें, छटवे, सातवे में आदि गुण स्थानोंमें होता है वहाँ भी रागद्वेप प्रकृतिका उदय है, सो रागद्वेष आत्मभूमिकामें होते हैं परन्तु उपयोगमें उस समय कषाय नही है इसका कारण उपयोगकृत कपायवाला वंध नहीं होता—जैसे स्वानुभव एक दो सैकिंडको है वहां राग-द्वेप प्रकृतिका उदय भी तो है उसका परिणमन भी क्या आत्मामें नहीं होता ? होता है किन्तु उपयोग उसे ग्रहण नही करता। उसका उपयोग शुद्ध ज्ञानमात्र सहज स्वभावमें है। उपयोगने कषायको नहीं पकड़ा और कषाय होरहा इसमें इतना वड़ा अंतर हो जाता है जिससे यह भी कह दिया गया कि उसका स्वानुभाव के समय कोई कपाय नहीं है कषाय होरहा है, परिण-मन होकर चला गया।

अन्तरङ्ग व वहिरङ्ग, दोप टालनेकी प्रेरणा :—जो यत्नाचारी ज्ञानीसंत हैं उनके अशुद्धोपयोगका अभाव है सो वंध नही है। सर्वथा निर्वंध है ऐसा तो नहीं है किन्तु अयत्नाचारमें उपयोगकृत जो वंध होता है वह वंध नहीं है। जो अशुद्धोपयोग नहीं करता, अपने परिणाम मलिन नहीं वनाता फिर भी उसके १०वें गुणस्थान तक तो वन्ध चलता है न, चलता है। परन्तु परिणाम में मलिनताके कारण जो वंध है वह खतरा से भरा हुआ है इसलिए अंतरंग दोप सर्वथा प्रतिपेध्य है। तो सर्व प्रकारके अशुद्धोपयोग जो अंतरंग दोप हैं वे टालने योग्य हैं और जिन जिन प्रकारोंसे अंतरङ्ग दोप वनें, उनके वननेके वाह्यकारणप्रवृत्तिनामक छेद वहिरङ्गदोष है जैसे दूसरे जीवकी हिंसा होगई अथवा किसीका यथा तथा प्रवर्तन हो गया तो वह वहिरंगदोप है वह भी त्यागने योग्य है। वहिरंग दोपका तो यह खतरा है कि वह अंतरंग दोपका कारण वन पड़ेगा और अंतरंग दोपमे साक्षात् ऐसी खरावी है कि कर्मका तुरन्त वंध हो जाता है। आप एकान्तमें वैठे जो समझ रहे हो, कोई नहीं

जान रहा है, जैसी चाहो प्रवृत्ति बनाएं पर कर्ममें तो बनने बनानेकी आवश्यकता नहीं है जहाँ परिणाम मलिन हुआ तुरन्त बंध हुआ। इसलिए सदा अपने परिणामोंकी निर्मलताके लिए अपना यत्नाचार करें। इसतरह अंतरङ्ग दोष और बहिरंगदोष दोनों ही टालकर अपने आपको संयम और व्रतमें रहनेका यत्न करो।

अब श्री कुन्दकुन्दाचार्य यह बतलाते हैं कि जीव की द्रव्य हिंसा होने पर बन्ध हो या न हो दोनों बातें संभव हैं, किन्तु उपाधि के रखने पर तो नियम से बन्ध होता है इसी कारण श्रमण जनों ने सर्व उपाधि का त्याग किया है।

हवदि व ण हवदि बंधोमदे हि जीवेध कायचेट्ठहि ।
बन्धो धुवमुवधीदो इदि समणा छंडिया सव्वं ॥ २१९ ॥

उपाधि की बन्ध कारणता का समर्थन—इस जीव को संसार में भटकाने के लिए समर्थ मूर्छा भाव है। यह जीव मूर्छा करते हुए बड़ा चैन मानता है किन्तु समस्त दुखों की जड़ एक मूर्छा भाव है। मूर्छा भाव विकट बंध कारण है। द्रव्यहिंसा होने पर भी बंध होता भी है व नहीं भी होता है दोनों ही बातें सम्भव हैं किन्तु परिग्रह के रखने पर बंध नियम से होता है परिग्रह में मूर्छा होने पर वह मिथ्यात्त्व है। जब इसका सत्व ही सबसे जुदा है, तो यह क्यों नहीं ज्ञान में लग जाता ? मैं जो कुछ कर सकूंगा, अपने को कर सकूंगा। बाह्य परिग्रह में मेरा कोई स्वामित्त्व नहीं, दायित्व नही है।

मूर्छा की विडम्बना का एक दृष्टान्त—एक भिखारी १०-१२ जगह से भीख मांगकर अपना पेट भरता था। एक दिन किसी बड़े घर में छाछ मिल गयी। छाछ पीकर उसने मूछों पर हाथ फेरा तो कुछ मक्खन के कण उसके हाथ में लग गये। उसने सोचा। अगर मैं १०-५ घर छाछ रोज पिया करूंगा तो इस प्रकार मूछों में लिपटे हुए मक्खन से कुछ न कुछ घी एकठ्ठा कर लूंगा। सो रोज वही भिखारी १०-५ घर में छाछ पिया करता था। उसने दो तीन वर्ष में सेर दो सेर घी एकठ्ठा कर लिया। जाड़े के दिन थे। अपनी झोंपड़ी में लेटा हुआ था और आग तापता हुआ विचार करने लगा कि कल के दिन इस घी को बेचूंगा और ५-) रुपये हो जाएंगे फिर खोंमचा लगाया करूंगा, फिर बकरी खरीदूंगा, गाय खरीदूंगा फिर भैंस खरीदूंगा, जमीन खरीदकर महल बनावऊँगा। शादी होगी, बच्चे होंगे और बच्चे कहेंगे कि दादा चलो माँ ने रोटी खाने को बुलाया है मैं कहूंगा अभी नहीं आता, फिर

बोलेंगे दादा माँ ने रोटी खाने के लिये बुलाया है, मैं कहूंगा तुम जाओ मैं अभी नहीं आता और फिर कहेगा कि दादा माँ ने बुलाया है तो वह गुस्सा होकर लात फटकारने लगा इस पर उसकी लात डबल में लगी, घी का डबल फूट गया और झोंपड़ी में आग लग गई वह बाहर आकर चिल्लाता है कि मेरा घी गया, स्त्री गई, बैल गये भैंस गाय सब नष्ट हो गये। महल जल गया सब नष्ट हो गया। लोग कहते है कि यह भिखारी क्यों रोता है, इसका क्या बिगड़ गया, लोग पूछने लगे तो उसने सब कुछ हाल सुना दिया। मेरा इस तरह से दो सेर घी चला गया। जो जो मैंने विचार बकरी, घर, भैंस, गाय, वैभव स्त्री आदि सोचे थे अरे वे ! नहीं रहे। उन्होंने कहा कि अरे वह तो तू कल्पना में सोच रहा था। तेरे पास कुछ था ही तो नहीं तो एक विवेकी बोला कि यों ही तो सब पारद्रव्य की सोचते है।

नामका मोह महामूढता—भैया सब अपनी अपनी कल्पना मेंहवाईअड्डे बनाते हैं कि यह मेरा है यह दुकान है, पर हमारी आत्मा का है कुछ नहीं। सबको बड़े संकट है। सब दुखी हैं। परद्रव्यमें लगे हुए हैं। कोई भी पर द्रव्य मेरे साथ साथ न जावेंगे फिर भी यह बडी आत्मीयता है कि उसे नहीं छोड़ सकते उसके अन्तरमें आसक्तिकी बुद्धि लगी है। यदि कुछ परिग्रह कोधर्म हेतु में लगा दिया तो अपना नाम करनेके लिए कि उसमें अपना नाम ही खुदवा दिया तो वह त्याग थोड़ेही है। उसको एवज में एक नामकी बात तो चली उसको इस त्याग का फल नहीं मिला। धन्य हैं वे जन जिन को नाम की कुछ चाह नहीं होती और प्राप्तहुए धनको धर्म हेतु सदुपयोग करते हैं। यह माया मयीजन मुझे कुछ नहीं जाने इसमें मेरा बिगाड़ क्या ? हे आत्मन् ! तेरा तो कोई नाम ही नहीं, जो नाम बोल जाता है वह तू नहीं है। तू तो एक ऐसा चैतन्यात्मक पदार्थ है जो सब है, जो सबका नाम है वही तेरा नाम है। तेरा नाम कोई अलग नहीं। यदि उस चैतन्य वस्तु को एक ज्ञायक कहें तो जितने जीव हैं, यही सबका नाम है, फिर तेरा नाम क्या रहा ? नाम से क्या मोह है ? देखोआत्मामें यह भाव बनालें कि हमारा तो आत्म नाम है। जीव नाम है, ज्ञायक नाम है, इसे कोई लिखवादे। तुम चाहो कि लाला चंद्र प्रसाद लिखे तो यहतेरा नाम नहीं हैं। तू एक चैतन्य वस्तु है, निर्मोह ब्रह्म है पर्यायमें परिग्रह में मूर्छा करना बहुत कटु परिणाम देगा।

जीवनके अन्तिम क्षणोंका उपयोग—भैया देखिए कि कोली, जो कपड़ा बुनता है कपड़ा बुनने के बाद उसको अंत में ४ अंगुल छोरा उसे छोड़ना पड़ता है। पूरे तानासूत में बाना नहीं आता। किन्तु यह मनुष्य अपनी

जिन्दगी के पूरे समयतक मोह की पुरिया पूरता है। १० मिनिटवाद कुछ भी तो नहीं रहेगा किन्तु यह चाहताहै कि उम पोते को मेरे सामने दिखा तो दो कि मेरी छाती ठंडी होजाय। अरे ! १०मिनिट केवाद तो तेरी छाती पूरी ठंडीहोजायेगी। और गमखाले जैसे जैसे सव छोड़कर आगे जाना है। जरा २-४ वर्ष वाद कि उस सवसे निराला मैं ज्ञान मात्र हूं। परिग्रह की तृष्णा का सम्वन्ध तो अनर्थ ही करने वाला है।

परव्यासक्तिकी अनर्थकारिता:—भैया जैसे वच्चेलोग रेतीलो जमीन पर वर्षात के समय घर वनाने का खेल करते हैं। पैर के ऊपर मिट्टी थपथपाकर और धीरे धीरे अपने पैर कोनिकाल लेते हैं। उनका घर वन जाता है उन्हें घर वनानेमें भी देर नहीं लगती और एक लात मारे तो घर मिट गया सो लो, मिटने में भी कुछ देर नहीं लगती। जव घर वनाया तो कुछ खुशी हुई और मिट गया तो जराभी विपाद उनके निर्दोप हृदय में नहीं। हमारा स्पष्ट ज्ञान होना चाहिए कि जगतका जो वैभव आता है वह मेरी जरूरत से तिगुना है जिसके पास जो सम्पत्ति है उसको उसकी जरूरत से दुगना तिगुना है लेकिन तृष्णा लगा रखी है कि जो वैभव मिला है। उसमें भी सुखी नहीं रहना और समझना है कि यह वहुत कम है, मेरी जरूरतंपूर्णही नहीं हो पातीं। कदाचित् अपना आधा धन किसी प्रकार से अलग हो जाय जैसे कोई डाकू किसीको पकड़कर ले जाय तो वहाँ पर वैठे वैठे १० हजार १५ हजार रुपए माँग लें, किसी भी प्रकार आधा द्रव्य निकल जाय तो उसमें भी आपको गुजर करनी पड़ती है या फाँसी लगाकर मर जाना होता है। जैसे और लोगों के आपसेभी कम धन है तो क्या उनकी उस थोड़े धन से गुजर नहीं होती ? होती है।

मनुष्यभवका प्रयोजनधर्मसाधन:—भैया जरा दिल से सोचो यह मनुष्य जीवन धन कमाने के लिए नहीं मिला है। यह जीवन धर्म साधना के लिए मिला है। यह नहीं सोचते तो आपके दुःखी होने के वदले कोई दूसरा दुखी होने नहीं आयेगा। एक राजाथा। जंगलमें गया। एक दिगम्वर साधु मिला। गर्मीके दिनथे। राजा उस साधु केपास जाकर वोला कि महाराज आपको ऊपर से गर्मी लगती है और नीचेसे भी गर्मी लगती है। अगर आप चाहे तो जूते वनवा दूं, कम से कम नीचे से तो गर्मी नहीं लगेगी। साधू वोला अच्छा जूते वनवा देना। पर यहतो वताओ कि अगर जूते वनवादिए तो ऊपर की गर्मी जो सताती है उसका क्या करें। राजा वोला कि वढ़ियाछतरी हम मंगा देगे आपके लिए, फिर साधू वोला कि नीचे जूते हैं, ऊपर छतरी है और

सारा वदन नंगा रहा तो क्या लाभ ? राजा बोला कि मैं रेशमी कपड़े बनवा दूंगा आपके लिए। साधुने कहा कि यह बतलाओ कि जब अच्छे कपड़े और श्रृंगार में रहेंगे तो पैदल चलना नही सुहायेगा। तो राजाने कहा कि आपके लिए एक कार और एक ड्राइवर दूंगा। तब साधूबोला कि इतना होने परभी भक्ति करके हमारे लिए रोटी कौन बनाएगा तब राजा बोलाकि हम आपकी शादी कर देगें, सो आपकीस्त्री खाना बना दिया करेगी। पर राजन् यहतो बतलाओ कि बच्चेहोंगेतो बड़ा खर्च लग जायगा। राजाने कहा कि हम आपको १० गाँव दे देंगे। तब साधु बोला कि बच्चे होंगे शादी भी होगी और आप मुझको १० गांव भी देंगे,खर्चा भी देंगे पर यह तो बतलाओ कि अगर कोई लड़का या दामाद मर गयातो उनकेलिए रोयेगा कौन ? तबराजा बोला किमहाराज और तो सब कुछ कर सकता हूं पर रोना तो तुमको ही पड़ेगा। जिसपर परिग्रह है, जिसको मूर्छा है तो रोना तो उसको ही पड़ेगा।

मूर्छा की मुंदी और असह्य चोट—जैन शासन पाकर भी हम आप रो रहे हैं। इसका कारण यह है कि परिग्रह में मूर्छा लगी है जब तक यह साहस नहीं किया कि मेरे में ज्ञान मात्र मैं ही हूं। अन्य सर्व जो कुछ आयें, आयें, जायें, जायें उदय के अनुकूल जो कुछ होगा उसमें ही हम अपनी व्यवस्था करलेंगे। जितने भी जीव हैं सब एक समान हैं, सबकी भी दृष्टि रखो। मोही जीवने अपना सारा तन, मन धन, वचन सब कुछ इन्ही ४-६ में समर्पित किया है जो घर में इकट्ठे हुए हैं। इनके लिये जितना तन, मन, धन वचन लगा दिया उतना ही जगत के और सब जीवों का ख्याल करते हुए उनमें भी तो कुछ तन मन धन आदि को लगाओ। शत प्रतिशत सब कुछ कुटुम्ब के लिए हो अन्य जीवों के लिए कुछ नहीं हो, यह अज्ञान है विकट मूर्छा है। इसका परिणाम अच्छा नहीं निकलने का। सारी पृथ्वी हमारा कुटुम्ब है। सर्व जीव हमारे समान हैं। व्यवस्था की वजह से अपने कुटुम्ब के पोषण का भार मुझपर है। ठीक है, करें किन्तु कुटुम्ब के भी तो पुण्य है। मैं सब कुछ इन्हीं को समझता हूं और इन्हीं के लिए सब कुछ हो ऐसी जो बुद्धि लग गई है; सो यह तीव्र मोह बड़ा अनर्थ करेगा। जिसे हम गैर समझते हैं वह हमारे अनर्थ के लिये नहीं है किन्तु ये कुटुम्बी रागान्ध होने के निमित्त बन रहे है। करना तो यह था कि कभी कभी सर्व से भिन्न निराला अपने आप को तकते और प्रसन्न रहते पर कर यह बैठा कि जगत के अनंत जीवों में से ये ४-५-६ जीव ही मेरे हैं। इन्हीं में ममता भाव बना बैठा। भैय यह जीवन सदा काल नहीं रहेगा। मरेंगे सब फिर इसके बाद यह मेरा

है, कुछ नहीं रहेगा तो भैया ! परिग्रह संचय के लिए यह मनुष्य जीवन नहीं है किन्तु धर्म साधना के लिए यह मनुष्य का जीवन है।

उपधि के सम्बन्ध की हिंसानियामकता—प्रकरण यह चल रहा है कि परिग्रह का सम्बन्ध-इसके कर्म बंध का निमित्त है। चाहे दूसरे जीव का घात हो जाने पर भी बंध नहीं हो पर परिग्रह का सम्बन्ध है तो कर्म का बंध होता ही है। जैसे कि सावधानी पूर्वक गमन करते हुए में कदाचित दूसरे जीव के प्राण का घात होता है तो उस घात के समय अशुद्ध उपयोग हो या न हो दोनों ही बात हो सकती है तब दोष के लगने में भी दोनों ही बातें है। दोष लगे या नहीं दोनों ही बात हो सकती हैं पर परिग्रह में मूर्छा में ऐसा नहीं है कि कोई परिद्रव्य लगा है और वहाँ कर्म बंध हो भी या नहीं, ऐसी बात नहीं है। परिद्रव्य का सम्बन्ध है तो कर्मबन्ध होवेगा ही।

उपधि सम्बन्धकृत दोष का प्रायश्चित त्याग—अभी आप गृहस्थ हैं, आपका परिद्रव्य बिना काम चलता ही नहीं तो पर द्रव्यका अर्जन करना पड़ता है। सो जो पाप बनता है गृहस्थ को उसपाप से छूटने का उपाय केवल दान बताया है। परिद्रव्य को कमाने में जो पाप हो जाते हैं उसपाप से मुक्त होने का उपाय समंतभद्राचार्य ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में दान ही बताया है। जैसे पानी खून के धोने में समर्थ है उसी प्रकार गृह कार्य से उत्पन्न हुए कर्म से छूटने में दान समर्थ है। और साधू महाराज ने चूँकि सभी परिग्रह का त्याग कर दिया इसलिए वे तो त्याग की मूर्ति हैं। गृहस्थ जन के परिग्रह में उत्पन्न होने वाले पाप को दूर करने का उपाय एक त्याग ही है। सबसे बड़ा संकट तो यही है कि जीव के स्वच्छ ज्ञानमात्र स्वभाव की दृष्टि न रखकर बाह्य परिणाम में फंसा हुआ है तो उन जड़ वैभव में जो बुद्धि फंसी हुई है उससे वह निरंतर व्याकुल रहता है इसलिए भगवान अरंहतदेव से जो कि समता के पुंज है उन्होंने स्वयं ही समस्त उपाधि का त्याग किया था।

धर्मके महत्व की व्यापकता—देखो भगवान के वचन हम क्यों मानते हैं? यदि तीर्थंकर पुरुष का भी हम जैसे रागी जनों की भांति, लिप्सा में, विषयों मेंही मौजसे जीवन व्यतीत होता तो उनके वचनों कोहम क्यों मानते उन्होंने स्वयं सर्व परिग्रह का त्याग किया और वे अपने आप में नित्य प्रकाशमान ज्ञाव स्वभाव में रत हो गये तब हम तीर्थंकर पुरुष की पूजा करते हैं और उनके वचन मानते हैं। अब भी इस संसार में धर्म बुद्धि वाले जीव बहुत मात्रा में पाये जाते है। अब भी यदि कोई किसी समय धर्म पर संकट आ जाय, मन्दिर पर, मूर्ति पर, समाज पर, या शिष्य गुरु पर कोई उपद्रव

आ जाय तो लोग अपने अपने घर छोड़कर और सर्व कुछ खर्च करके भी धर्म के उस उपद्रव को दूर करने के लिए भी तैयार हैं। धर्म का सम्बन्ध इतना ऊँचा सम्बन्ध है कि उस सम्बन्धके कारण परिवार व परिग्रह का भी सम्बन्ध कुछ महत्त्व नहीं रखता। संसार में जीवों को पार लगाने वाला एक मात्र धर्म ही है।

धर्म शरण :—भैया रोज ही तो णमोकारमंत्र बोलने के बाद चत्तारि मंगलं बोलते हैं। उसमें तृतीय उपदण्डक में कहते हैं ना, चत्तारि सरणं पव्वज्जामि इत्यादि मैं चार शरणको प्राप्त होता हूं। चार शरण क्या है? प्रथम शरण अरहंतदेव हैं। मैं अरहंतोंकी शरणको प्राप्त होता हूं। भैया! जो जैन शास्त्र है उसके मूल कर्ता अरहंतदेव है। यदि जिनेन्द्रदेवकी दिव्य-ध्वनिका सुयोग न मिलता तो न वस्तुस्वरूपका पता होता और न हितका मार्ग दीखता। हम सब लोगोंको धर्ममें लगने की प्रेरणा मिली उसका मूल श्रेय श्री अरहंत भगवान हैं। यद्यपि सिद्धभगवान अरहंत भगवानसे भी उत्कृष्ट पद में हैं उनके आठोंकर्म नष्ट हो गये, शरीर भी नहीं, लेकिन उन सिद्धोंका पता सिद्ध नहीं बताते। हमपर श्री जिनेन्द्रदेवका महोपकार है। कारण हम सब सबसे पहिले अरहंतदेवके शरण गए हैं। फिर द्वितीय शरण का स्मरण किया है। मैं सिद्धोंकी शरणको प्राप्त होता हूं। सिद्ध बड़े हैं, मानों ठीक हैं, पर उनसे तो हमारी जिन्दगी में भी भेंट नहीं होगी, यह कैसा है सिद्धभगवान? लोकके अंतमें है वहां कैसे पहुँचें तो उनसे भेंट इस कालमें तो होनेकी नहीं और भेंट तो अभी अरहंतदेवसे भी न होगी। फिर किसकी शरणमें जायें। हमें शरण तो रोज चाहिए। अभी अभी कोई आकुलता होगई तो इस आकुलताकी मुक्ति केलिये इसे अभी शरण चाहिए। कहां जाय किसकी शरण पकड़े जो कि जब चाहें मिलसकें। जिसकी शरण हम बहुतकाल तक रहसकते हैं ऐसी शरण हैं साधू महात्मा। इसप्रकार साधूकी शरणका स्मरण किया है कि मैं साधूकी शरणको प्राप्त होता हूं। फिर चारों प्रकारमें यह सोचकर कि अरहंतदेव भी परद्रव्य हैं। वे भी मेरा हाथ पकड़कर तार न देंगे, सिद्धभगवान भी तार न देंगे, वह कहीं लोकशिखर से उतरकर हाथ पकड़कर तार नहीं देंगे। उनके अमूर्ति ज्ञानानन्द स्वरूपके ध्यानको निमित्त करके पश्चात निर्विकल्प समाधि द्वारा हम तर जावेंगे। यों तो औपचारिक उपकार है ही, किन्तु साक्षात् कोई परद्रव्य मुझे तार नहीं सकता। गुरु भी परद्रव्य हैं वे भी नहीं तार सकते। तब भक्त सोचता है कि केवली भगवान के द्वारा प्रणीत जो धर्म है मैं उसकी शरणको प्राप्त

होता हूं। केवली भगवान द्वारा प्रणीतधर्म क्या है जो अपने आपमें अनादि, अनंता, नित्यप्रकाशमान, ज्ञायक शुद्धज्ञान स्वभावमें इस आत्म वस्तुका स्वभाव है वह धर्म बताया है। मैं अपने इस पवित्र धर्मको शरणको प्राप्त हूं। सो अन्तमें अपने आपकी शुद्ध दृष्टि ही शरण है। भैया! आत्मधर्मका दर्शन ही परमार्थसंयम है इसके विपरीत जो विषय कषायके परिणाम हैं वे सब अंतरङ्गदोष हैं जिन्हें त्यागने योग्य कहा है, त्यागे जाते हैं। उस अन्तरङ्ग दोषसे निवृत्त होनेके लिए पहिले ही से सर्व परिग्रहका त्याग कर देना चाहिए।

पापका बाप:—भैया परिग्रह दोषों की खान है। एक कथानक है। कि बनारससे पढ़कर एक ब्राह्मण विद्वान घर आ गया। शादी उसकी हो गई थी। स्त्री ने उससे प्रश्न किया कि आप हमारी एक शंका का समाधान कर सकेंगे। उसे अपनी विद्वत्ता का घमण्ड था। एक नहीं सब शंकाओं का समाधान किया जायेगा। स्त्रीने एक छोटासा प्रश्न पूछा कि पापका बाप क्या है? अब उसने अपने ग्रंथों को देखा उसे बहुतसे ग्रंथ याद थे लेकिन इस प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं लिखा था। उसने सोचा कि हमारे गुरु ने सब कुछ पढ़ाया लेकिन पापका बाप क्या है? यह नहीं पढ़ाया। वह गुरु के पास जाने लगा कि वही इसका उत्तर देवेंगे। तो रास्ते में एक शहर के निकट संध्या हो गई, अंधेरा सा हो गया तो एक घरके चबूतरे पर सोया। सुबह हुआ तो सुबह ही घरमें से एक स्त्री निकली। वह स्त्री वेश्या थी। उसने हाथजोड़कर कहा कि महाराज! आप यहाँ कैसे? उसने सब वृत्तांत कहा। तब वह बोली आप गुरु के पास पापका बाप क्या है? पूछने जाएंगे सो चले जाना। आपने बड़ी कृपा की, मेरा घर पवित्र किया अब आप भोजन करके जाइयेगा पंडित बोला कि आप कौन हैं? आपकी सेविका एक वेश्या? अररा वेश्याके चबूतरे पर सोया इसीमें बड़ा दोष लग गया। वेश्या बोली कि महाराज मैं आपको २० अशर्फी दे दूंगी सो इसका यज्ञ करके प्रायश्चित करलेना। वह ठहरगया। फिर बोली महाराज जैसी ये ईंट पत्थर हैं। वैसेही अंदर ईंट पत्थर है सो अन्दर चलो न। यज्ञ करके प्रायश्चित् कर लेना मैं आपको २० अशर्फी और दे दूंगी। पंडित घरमें सब सामान लेकर रोटी बनाने लगा तो पानी खींचने लगा तब वेश्या बोली कि डोल को तुम पकड़ लेना मैं अपने हाथसे खींचती हूं। प्रायश्चित्त कर लेना, २० अशर्फी ले लेना। पानी आगया जबरोटी बनाने लगा तो वेश्या बोली आप क्यों कष्ट करते हैं? मैं अपने हाथ से बना दूंगी। पंडित बोला नहीं मुझे बड़ा दोष लग गया,है जो कि

आपने मेरा पानी खींच दिया। आप रोटी न बनाओ मैं ही बनाऊंगा। तब वेश्या बोली कि जैसा आपका हाथ है वैसा ही मेरा हाथ है और जैसा आपका चाम है वैसा ही मेरा चाम है फिर आप क्यों कष्ट करते हैं? इसके प्रायश्चित केलिए २० अशर्फी और ले लेना तब उसने रोटीभी बना दी। जब वह रोटी खाने लगा तब वेश्या बोली कि महाराज आप मेरी अंतिम इच्छाको भी पूरा कर दें, आपको मैं अपने हाथों से रोटी का टुकड़ा खिला दूंगी। पंडित बोला मुझे बड़ा दोष लगेगा। तब वेश्याने कहा कि आप यज्ञकरके प्रायश्चित कर लेना मैं २० अशर्फी और दे दूंगी। तो मुंह में कौर तो रखा नहीं और तमाचा मारा। बेवकूफ! पापका बाप यह है। लगा पाप का बाप पढ़ने।

परिग्रहकी सर्वथा अप्रतिषिद्धता—परिग्रह एक ऐसी चीज है जिसके कारण भाई भाई में, पिता-पुत्रमें बहिन बहिनमें गुरु शिष्य में कलह होता है जहाँ परिग्रह हो जाता है वहाँ ही यह मूर्च्छा अपना नाच दिखाती है। साधू पुरुषोंने यह निश्चय कियाकि सब से पहिले सर्वप्रकार की उपाधि को त्याग करें। सो अन्य श्रमण भी अंतरंग दोष का निषेध करने के लिए यह यत्न शील हैं। सो उस अंतरंग दोषका कारणभूत जो उपाधि है, परिग्रह है इसका ही सबसे पहिले त्याग करना चाहिए।

परमार्थ प्राण घात—जीव का निश्चय प्राण है शुद्ध चैतन्य। आत्मा के अपने आपके अस्तित्व के कारण जो इसका भाव है, स्वरूप है इसमें बंध आना यही इसकी हिंसा है। तो जैसे निश्चय प्राण जीव का शुद्ध चैतन्य स्वरूप है इसप्रकार निश्चय से हिंसा रागादि परिणाम रूप है। किसी भी प्रकार का राग हुआ तो समझो मेरे प्राण का घात हुआ, किन्तु यह मोह में तो राग किया जारहा और उसको अपना समझ रहा है। घर की अच्छी व्यवस्था बनाए, घर के लोगों से बड़ा खुश रहता है, जिनकी जो मांगे हैं उनकी पूर्ति करता है और घर के अतिरिक्त अन्य जीव इसके लिए कीड़े मकोड़े बराबर भी नहीं हैं। इतनी अधिक परिवार की ममता से कैसा खुश हो रहा है और अन्य जीवों की तो शायद जान भी नहीं मानता हो। किन्तु जिसे ये मोहीजन पर जीव समझते हैं, पराया समझते है वही मरकर उसके घर में जन्म ले लेता है तो उसे अपने हाथों में उठाए और छाती से लगाकर बड़ा प्रेम करेगा। देखिएगा क्या हो गया इस बावले को? २ साल पहिले था क्या बर्ताव, उसकी परवाह नहीं करता था और अब क्या हो गया? जो जीव अपने घर वालों को ही सर्वस्व समझते हैं अपना तन है तो घर के लिए, मन

है तो परिवार के लिए, धन है तो इस परिवार के लिए ऐसा जो समझता है और कदाचित धन को खर्च भी करता है, अन्य लोगों के लिए तो अपनी नामवरी चलाने के लिए। ये दोनों के दोनों काम मोह से भरे हुए हैं, सो परमार्थ से यह मोह भाव ही अपनी हिंसा है।

परिग्रह, आग्रह, निग्रह व अनुग्रह—भैया धन का कोई करेगा क्या ? जुड़ता है जो, जुड़ता है, छोड़ना ही तो पड़ेगा। किसी के लिए किसी प्रकार उसका उपयोग ही तो होगा। खुद में तो एक नया पैसा भी प्रवेश नहीं करता। हुआ क्या है ? यदि उपयोग सत पथ में लगा है तबतो आत्मा का उद्धार है और कुपथ में लगा है, मोह रस में ही सना है तो यह दिन गुजार रहा है जैसे संसार के अन्य जीव के दिन गुजर रहे हैं। वैसे इस मनुष्य के भी दिन गुजर रहे हैं। देखो परिग्रह का सम्बन्ध कितना घातक है। आचार्य जन बतलाते हैं कि पर जीव का घात होने पर बंध हो या न हो कोई नियम नहीं है। परन्तु परिग्रह के रखने का परिणाम है तो नियम से कर्म बंध होता है। कोई अपने घर की नहीं सोधे, न देखे और चोर लूटते जा रहे हों तो क्या कर्तव्य है, अरे ! दीपक जलाकर अपने घर को देखो। चोर लूटे क्यों जा रहा है, ज्ञानका दीपक जलाओ। ज्ञान के दीपक जलाने के लिए तप का तैल भरे। तो ज्ञान दीप जलता है। ज्ञान का दीप जलाये और अपने आत्म घर में शुद्धि करे, भ्रम को दूर करे। इस विषय कषायके भावों को हटाए। कर्मजाल नहीं आसके ऐसी सावधानी बनाओ क्यों कि यह ही एक मुख्य बात है।

परिग्रहत्याग के उपदेश की सीमा—आचार्य देव इस गाथा की टीका के अन्त में एक कलश रख रहे हैं।

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्त मेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि।
व्यामोहजालमति दुस्तरमेव नूनं, निश्चतेनस्य वचसामतिदुस्तरेऽपि ॥

जो कुछ कहना चाहिए, वह सब कुछ कहदिया गया श्रमणजनों को इससे अधिक क्या कहें। कहा है मुनिराजजनों के लिए कि काय की चेष्टा से किसी कुन्थु जीव का अचानक घात भी हो जाय तो भी हिंसा हो या नहीं ये दोनों ही सम्भव हैं, पर कोई परिग्रह की मूर्छा होगी या परिग्रह का सम्बन्ध करेगा तो नियम से कर्मबंध होगा। इससे बढ़कर और परिग्रह की उपेक्षा के लिए और क्या उपदेश दिया जा सकता है। जैन शासन में श्रद्धा रखने वाले से हिंसा कोई हो जाय तो बड़ा खेद हो जाता है। एक चींटी भी गुजर जाय तो बहुत देर तक मन में खेद मनाया करता है। हिंसा से दूर रहना चाहिए। हिंसा को सबसे बड़ा पाप समझता है। ठीक है, जरा और मर्म की

भी बात समझलो उस हिंसा में जो भीतर परिणाम हैं वे परिणाम हिंसा हैं इस कारण कार्य की चेष्टा से जीव का बंध भी हो जाय तबभी बंध हो या न हो, किन्तु उपधि रखेगा कोई तो उसके नियम से बन्ध होता है। परिग्रह का रखना इस जीव के अशुद्धोपयोग के बिना नहीं हो सकता। इस कारण उपाधि का सम्बन्ध है, मूर्छा परिणाम हैं तो नियम से बंध होता है। जो कुछ कहना चाहिए था वह सब कुछ कह दिया गया। यदि कोई इससे ही चेतता है तो ठीक है, किन्तु कोई बे दिल का है, निश्चेतन है तो उसके लिए बहुत बहुत वचनोंका विस्तार भी किया जाय तो भी उसके तो मोह जाल हैं, इसका यह मोह जाल अतिदुस्तर है उस जाल से वह निकल नहीं सकता।

इसप्रकारसे गृहस्थ जनोंके लिए प्राप्तव्य शिक्षा—भैया इस प्रकरणमें यह उपदेश दिया जारहा है मुनिजनोंके लिए, लेकिन गृहस्थजनोंको भी इससे यह शिक्षा लेनी चाहिए कि जिस परिग्रहमें लौकिक जन अशक्त हो रहे ऐसा ही परिग्रह जो मेरे घरमें है, मेरे सम्बन्धमें है। वह परिग्रह मेरेलिए क्लेशका ही कारण है इस कारण उस परिग्रहकी चिन्ता नहीं करें। उदय के अनुसार जो आता है आवे और नहीं आता तो मत आये। यह ज्ञानानंद-घन आत्मदेवके मोह लक्ष्मीका लुट्टाक है। और यह मोह मेरी ज्ञाननिधिका लुट्टाक (लुटेरा) है। परिग्रहके सम्बन्धमें हम जितने लिप्त रहते हैं। उसका कुछ भी अंश यदि हम आत्महित लिप्साकी ओर बढावें तो हम वास्तव में धनी कहला सकेंगे। समय भी मेरा आनंदपूर्वक रहेगा और अपने सम्यक्दर्शन, सम्यकज्ञान और सद्आचरण की बात भी रहेगी। अन्यथा मरने पर क्या दुर्गति होगी इससे बचानेवाला कोई नहीं। जिसके पीछे इतनी चिंताएं हैं कि रात दिन श्रम किया, कोई भी बचानेवाला नहीं है। यह सब समागम मुफ्त मिला है और मुफ्त ही जायेगा। आपका विचार परिणाम धनको नहीं कमाता, पूर्व पुण्यके उदयके अनुसार यह प्राप्त है। वर्तमानमें इस धनको नहीं जुटाया जारहा तब मुफ्त ही तो मिला और मुफ्त ही जायेगा।

मुफ्ती समस्त संयोग वियोग पर एक दृष्टान्त—एक चोर था। वह राजा की घुड़साल में चला गया तो वहांसे बहुत सुन्दर बढ़िया घोड़ा चुराकर लेआया। पशुओंके बाजारमें उस घोड़ेको बेचने चलदिया। लोग आए, ग्राहकोंने पूछा कि घोड़ा कितने का देंगे। था तो ४०० का जबाब दिया कि १२०० में। ग्राहक २-४-६-१० चले गये तो ११वें बारमें एक बूढ़ा चोर आया बहुत बड़ी चोरी करनेवाला था। पूछने लगा कि घोड़ा कितने का

दंगे तो बताया १२००) का। वह बूढ़ा चोर झट ताड़ गया क्योंकि चोर चोर को ताड़ सकता है। उसने पूछा कि इसमें क्या खूबी है? वह कहता है कि इसकी चाल बहुत सुन्दर है इसीके १२००) रुपये हैं। उस बूढ़े चोरने कहा कि अच्छा देखें घोड़ेकी चाल कैसी अच्छी है और अच्छी होगी तो १२००) रु० दंगे। उसने अपने हाथका मिट्टीका हुक्का उसे थमा दिया और वह स्वयं उस घोड़ेकी चाल देखने लगा, ऐड़ी मारदी, घोड़ा भगा ले गया। १०–२० मिनट के बाद वे ही ग्राहक उसके पाससे गुजर रहे थे उन्होंने पूछा कि तुम्हारा घोड़ा बिक गया। वह बोला बिक गया। कितनेमें बिक गया। तो उसने बताया कि जितनेमें घोड़ा लाये थे उतनेमें बिक गया। वे बोले मुनाफा कुछ नही मिला। यह बोला–मुनाफामें यह चवन्नीका मिट्टीका हुक्का मिला है। इस प्रकार जितना समागम मिला है वह मुफ्तका समागम है। आपके हाथ पैर, और दिमागने कुछ नहीं कमाया, ऐसा ही समय था, मुफ्त मिला और मुफ्त चलागया।

समागम और कर्तव्य—तो भैया! जो कुछ भी प्राप्त हुआ है वह सब मुफ्त मिला है और मुफ्तमें जायेगा। जब मरण होगा तो पूछा जाये कि इस जीवनमें कुछ मुनाफा भी पाया, ५० वर्ष की मनुष्य पर्यायमें यहां बहुत श्रम किया, उत्तर मिला कि पापका हुक्का मुनाफा में मिला। यह बड़ा दुर्लभ जीवन है। निगोदसे निकला है, शेष स्थावरोंसे निकला, दोइन्द्रियसे तीन इन्द्रियसे, चार इन्द्रियसे निकला, असैनी पंचेन्द्रियसे निकला। सैनी पंचेन्द्रियोंमें भी पशुपक्षियोंका क्या जीवन है। वे अपनी बात दूसरोंको बोल नहीं सकते, दूसरोंकी बात खुद समझ नहीं सकते। यह मनुष्य जीवन कैसा उपयोगी जीवन है। जिस जीवनमें संयमकी पूर्ति हो सकती। ऐसे जीवन को पाकर हमें क्या अपूर्व काम करना चाहिए जिससे संसारके सर्व संकट सदाके लिए दूर होजावें वह है सम्यक् दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् आचरण। वर्तमानका मिला हुआ समागम तो पथिककी छायाकी तरह है जैसे पथिक रास्तेमें मिलनेवाली छायामें मुग्ध न होकर अपने लक्षस्थान पर चलता जाता है। इसी प्रकार ये भव और समागम छायाकी तरह हैं। ये रास्तेमें मिलते हैं, इनमें मुग्ध न होकर अपने शुद्ध सहज चैतन्य स्वरूपकी ओर दृष्टि और रमणमें प्रगति करें।

॥ इति प्रवचनसार प्रवचन नवम भाग समाप्त ॥

	रु०न०पै०
,, ,, ,, एकादश भाग	१-२५
देवपूजा प्रवचन	२-५०
श्रावक षट्कर्मप्रवचन	१-२५
समयसार प्रवचन प्रथम पुस्तक	२-५०
,, ,, द्वितीय पुस्तक	२-००
,, ,, तृतीय पुस्तक	१-७५
,, ,, चतुर्थ पुस्तक	१-७५
,, ,, पञ्चम पुस्तक	१-७५
,, ,, षष्ठ पुस्तक	१-७५
परमात्म प्रकाश प्रवचन प्रथम भाग	१-५०
,, ,, ,, द्वितीय भाग	१-५०
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-५०
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	१-५०
सहजानन्द गीता प्रवचन प्रथम भाग	२-००
,, ,, ,, द्वितीय भाग	२-००
,, ,, ,, तृतीय भाग	१-७५
,, ,, ,, चतुर्थ भाग	१-५०
तत्वार्थ प्रथम सूत्र प्रवचन	०-७५
भक्तामरस्तोत प्रवचन	०-४४

विज्ञान सेट :—

धर्म बोध पूर्वार्द्ध	०-२५
धर्मबोध उत्तरार्द्ध	०-५०
जीव स्थान चर्चा	१-७५
लघु जीवस्थान चर्चा	०-८८
गुणस्थान दर्पण	०-८८
समस्थान सूत्र प्रथम स्कन्ध	२-००
समस्थान सूत्र द्वितीय स्कन्ध	१-५०

	रु०न०पै०
समस्थान सूत्र तृतीय स्कन्ध	१-७५
,, ,, चतुर्थ स्कन्ध	१-७५
,, ,, पञ्चम स्कन्ध	१-५०
,, ,, षष्ठ स्कन्ध	१-७५
,, ,, सप्तम स्कन्ध	१-७५
द्रव्यदृष्टिप्रकाश	०-२५
सिद्धान्त शब्दार्णवसूची	०-३१
जीव संदर्शन	०-१९

ट्रैक्ट सेट :—

आत्म कीर्तन	०-०६
वास्तविकता	०-०६
अपनी बात	०-०६
सामायिक पाठ	०-०६
अध्यात्म सूत्र सार्थ	०-१९
एकीभाव स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२५
कल्याण मंदिर स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२[illegible]
विषपहार स्तोत्र अध्यात्म ध्वनि	०-२[illegible]
स्वानुभव	०-१[illegible]
धर्म	०-१[illegible]
मेरा धर्म	०-०[illegible]
ब्रह्म विद्या	०-१[illegible]
आत्म उपासना	०-२[illegible]
समयसार महिमा	०-२[illegible]
सूत्र गीता पाठ	०-२५
अध्यात्म रत्नात्रयी गुटका	०-३५

पुस्तकें मँगाने का पता—

मंत्री सहजानन्द शास्त्रमाला

१८५ ए रणजीतपुरी, सदर मेरठ (उ०प्र०)